THE YĀTRĀ TRADITION
IN
ANCIENT INDIA

प्राचीन में -

डी. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2002

शोध-पर्यवेक्षक
प्रो0राम कृष्ण द्विवेदी
प्राचीन इतिहास,सस्कृति
एव पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री
ज्योत्सना पाण्डेय
प्राचीन इतिहास,संस्कृति
एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
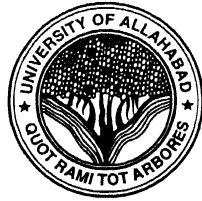
प्राचीन इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
सेण्टर ऑफ एडवान्स स्टडी
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

:: भूमिका ::

मानव संस्कृति के विकास में तथा ज्ञान विज्ञान के उन्नयन में यात्राओं की बडी रचनात्मक भूमिका रही है। प्राचीन भारत में यात्रा की स्वस्थ परम्परा देखने को मिलती है। व्यक्तित्व का निर्माण हो, शिक्षा की प्राप्ति हो, कला, तकनीक सीखने की प्रक्रिया हो। धर्मार्थ यात्रा का प्रसंग हो, धन, यश अथवा राज्य प्राप्त के लिए विजय अथवा दिग्विजय यात्रा का सन्दर्भ हो अथवा वाणिज्य एवं व्यापार को गतिशीलता प्रदान करने की प्रक्रिया हो सबमें एक मात्र यात्राओं की महत्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है। प्राचीन भारत में विभिन्न आश्रमों एवं विद्या केन्द्रों में निवास करने वाले ऋषियों, मुनियों, दार्शनिकों, आचार्यों अथवा वैज्ञानिकों ने अपने ज्ञान को विभिन्न क्षेत्रों में फैलाने तथा उसको विद्वानों के बीच कसौटी पर रखने के लिए अथवा स्वचिर्न्तिन ज्ञान की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए यात्राओं का सहारा लेते थे।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की यात्राओं का यत्र–तत्र उल्लेख किया गया है। यात्रा परम्परा पर अभी तक कोई गम्भीर चिन्तन, मनन अथवा शोध अध्ययन नहीं हुआ है जबकि इसके शोध की महती आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। **'प्राचीन भारत में यात्रा परम्परा'** प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस दिशा में अध्ययन करने का एक लघु प्रयास है।

शोध पर्यवेक्षक गुरु प्रवर **प्रो0 राम कृष्ण द्विवेदी जी** ने शोध प्रबन्ध को पूरा करने में पग–पग पर मेरा मार्ग दर्शन किया। अतः मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। परम् पूज्य पिताजी स्व0 **डॉ0 (प्रो0) देवेश चन्द्र पाण्डेय,** पूर्व अध्यक्ष वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद की प्रेरणा ने मेरा नियमित उत्साह वर्धन किया। संपूज्य आचार्यगण प्रो0 विद्याधर मिश्र, प्रो0 ओम प्रकाश, डा0 आर0 पी0 त्रिपाठी, डा0 जी0के0 राय, डा0 जी0एन0 पाण्डेय, डा0 जे0 एन0 पाल, डा0 ओम प्रकाश श्रीवास्तव, डा0 हरि नारायण दुबे, डा0 यू0 सी0 चट्टोपाध्याय, डा0 ए0पी0 ओझा, डा0 पुष्पा तिवारी, डा0 अनामिका राय, डा0 हर्ष कुमार, डा0 एस0के0 राय, डा0 प्रकाश सिन्हा, डा0 देवी प्रसाद दुबे, डा0 चन्द्र देव पाण्डेय के प्रति आभार ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने समय–समय पर मेरा उत्साहवर्धन किया है।

शोध प्रबन्ध लेखन में स्थान–स्थान पर उद्धृत उन समस्त विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनकी कृतियों एवं विचारों से सहायता लिये बिना शोध प्रबन्ध पूरा नहीं हो सकता था।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन में आदरणीय माता **श्रीमती शान्ती पाण्डेय जी** का अप्रतिम् योगदान रहा है जिन्होंने मुझे यतव् कार्य करने के लिए सदैव हर तरह से प्रेरित किया है। मेरे सास एवं श्वसुर **श्रीमती** एवं **श्री राम नेवाज पाण्डेय जी** जिन्होंने यह शोध प्रबन्ध पूरा करने में मेरा मार्ग प्रशस्त किया उनकी मैं विशेष आभारी हूँ। मेरे

अनुज द्वय सर्व श्री सन्दीप पाण्डेय तथा भावेश पाण्डेय के सक्रिय सहयोग के बिना मै अपना शोध कार्य पूरा ही नहीं कर सकती थी। अतः मैं उनको हार्दिक साधुवाद प्रस्तुत करती हूॅ। शोध प्रबन्ध के मूल प्रेरक आदरणीय मेरे पति देव **श्री उमेश पाण्डेय जी** के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूॅ जिन्होने इसके लिए सदैव उत्साहवर्धन किया। मेरी आदरणीय बहनें है श्रीमती रंजना मिश्रा एवं डा0 वन्दना शुक्ला ने भी समय–समय पर मेरी अनेक तरह से सहायता प्रदान की है। अतः मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूॅ।

ज्योत्सना पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

यात्रा के साधन

प्रांचीन भारत में यात्रा के साधन

स्थल परिवहन :—

भारतीय परिवहन का इतिहास प्राचीन है। ऋगवैदिक काल से ही हमें विभिन्न स्थान तथा जल परिवहनों के बारे में विस्तृत सूचनायें मिलती है। जातक कथाओं में भी स्थल तथा जल परिवहन के बारे में पता चलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पतंजलि के महाभाष्य एवं पुरातात्विक स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवहन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है तथा काल क्रमानुसार इसमें विकास भी होता रहा है। स्थल परिवहन के निम्नलिखित प्रमुख साधनों की चर्चा साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों में सविस्तार मिलती है।

शकट (बैलगाड़ी) :—

प्राचीन ग्रन्थों में बैलगाड़ी को शकट नाम से संबोधित किया गया है। यूं तो शकट को लोग अनेक प्रकार से प्रयोग में लाते थे। फिर भी जैसे कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि बैलगाड़ी का प्रयोग समान ढोने और आवागमन के लिए ही

अधिकतर होता था। जातक ग्रन्थो में स्थल परिवहन के रूप मे बैलगाडी के अनेक जगह उल्लेख मिलते है। जातक ग्रन्थो मे यह कहा गया है कि उस समय बड़े–बडे व्यापारी व्यापार करने के लिए बैलगाड़ी का प्रयोग करते थे। एक साथ पांच–पांच सौ बैलगाड़ियों के आने जाने का उल्लेख मिलता है।[1]

एक जातक में वर्णन मिलता है कि व्यापारी लोग एक साथ पांच–पांच सौ बैलगाड़ियों के झुण्ड के साथ दूर–दूर के देशों की यात्रा किया करते थे और लम्बा रास्ता होने के कारण अपने साथ लकड़ी, पानी, तिल, चावल आदि सामान लेकर चलते थे। यह उल्लेख सार्थ और सार्थवाह की ओर संकेत करता है जो कि तत्कालीन व्यापार की अति आवश्यकता भी। व्यापारियों का यह झुण्ड जंगल पहाडों से होता हुआ ऊबड खाबड रास्तों को पार करता हुआ अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचता था। मार्ग में उन्हें चारों लुटेरों और जंगली जानवरों का भय बना रहता था। इसीलिए ये व्यापारी झुण्ड के साथ ही यात्रा किया करते थे। इतनी लम्बी एवं कष्टप्रद यात्रा होने के कारण ये व्यापारी मार्ग में पर्याप्त विश्राम करते थे।

---

1 जातक, 1.1, 12

ये विश्राम इनसे ज्यादा बैलगाडियों मे जुते हुए बैलों के लिए आवश्यक होता था। व्यापारी रात में यात्रा किया करते थे और दिन में विश्राम करते थे।[1] नंदि विलास जातक में उल्लेख है कि एक बैल एक साथ पांच सौ बैलगाडियों को खींच सकता है इसका उल्लेख कण्ह जातक में भी आया है कि एक बैल एक साथ पांच सौ बैलगाड़ियों को खींचता है और एक बैलगाड़ी को खींचने की मजदूरी सार्थवाह पुत्र के द्वारा दो कार्षापण दी जाती थी। जातक के ये सभी उल्लेख अतिश्योक्ति लगते हैं। एक बैल के द्वारा पांच सौ बैलगाडियों को खींचना संभव नहीं था।

जातक कथानकों के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि सार्थवाह दो प्रकार के होते थे। एक प्रकार के सार्थवाह वो थे जिसमें कि भिन्न–भिन्न व्यापारी अपना सामान लेकर एक साथ व्यापार करने हेतु दूर–दूर जाते थे। दूसरे प्रकार के सार्थवाह में एक ही व्यापारी अपना सामान अपनी अथवा किराये कि गाडी पर लेकर चलता था। उपर्युक्त जातक में उसी प्रकार के सार्थवाह का उल्लेख है और उसी सन्दर्भ में एक सार्थवाह पुत्र द्वारा एक गाड़ी खींचने परदो कार्षापण देने की बात भी कही गयी है।

---

1 उपरिवत् 4 414 ।

जैन साहिम्य में पांच प्रकार के सार्थवाह का जिक्र आया है।[1] अपन्नु जातक में प्रयत्न देश की पैदावार पांच सौ गाडियों में भरकर श्रावस्ती ले जाकर बेचने ओर उसके लाभ से वहां अन्य सामान लाने का उल्लेख है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि प्रयत्न देश और श्रावस्ती के बीच व्यापार होता था। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि प्रयत्न देश की पैदावार की खपत अधिकतर श्रावस्ती में होती थी और तत्कालीन व्यापारी लाभ के लिए अपने सामानों को दूर–दूर तक जाकर बेचने में संकोच अथवा आलस्य नहीं करते थे।[2]

अनुसानिक जातक में बैलगाडियों से गिरे हुए धान, मूंग, आदि के दोनों का उल्लेख इस बात का प्रमाणिक करता है कि उस समय बैलगाड़ियों के माध्यम से अनाजों का व्यापार होता था। इसी सन्दर्भ में श्रावस्ती के व्यापारियों द्वारा पांच सौ गाड़ियों में समान भरकर व्यापार के लिए दूर–दूर तक जाने का वर्णन आया है।

---

1 उपरिवत्, भूमिका

2 जातक 1.98 ।

केलिसील[1] जातक में वर्णन आया है कि एक पुराने बैलो वाली मुरानी गाडी थी। इन आलेखो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय बैलगाडियो से व्यापार होता था और व्यापारी लोग अधिक से अधिक संख्या में गाडियों को लेकर एक जगह से दूसरी जगह आवागमन करते थे।

गुम्बिय जातक में वर्णन है कि एक व्यापारी पांच सौ बैलगाडियों में सामान भरकर महामार्ग से व्यापार करने के लिए चला। सम्भवतः उत्तरापथ था। प्रमाणों से पता चलता है कि तत्कालीन मार्ग यात्रा की दृष्टि से असुविधा जनक थे। लेकिन यह महामार्ग यातायात के दृष्टिकोण से आसान ओर उपयोगी था। इन्द्रिय जातक में वर्णन है कि लोग अपने घर के दरवाजे पर गाडी खडी कर देते थे और बैलों को पहियों से बांध देते थे। चम्पेय्य जातक में वर्णन आता है कि लोग अक्सर गाडियों पर सामान ही ले जाते थे लेकिन कभी–कभी लोग सवारी भी करते थे। जयद्दिस जातक में उल्लेख है कि एक ब्राह्मण राह के रखवालों को एक हजार कार्षापण देकर अपनी पांच सौ बैलगाडियों को लेकर उस मार्ग से व्यापार करने हेतु निकला था। इस प्रसंग से यह बात

---

1 उपिरवत् 2.218; 3.256; 3.265

सामने आती है कि उस समय रखवाले भी रखे जाते थे जो कि व्यापारियों को मार्ग में आने वाले खतरों, जंगली जानवरों, डाकुओं आदि से बचाते थे और बदले में व्यापारियों द्वारा उन्हें धन दिया जाता था। ये रक्षक या तो राज्य की ओर से रखे जाते थे या तो उन्हें व्यापारीगण स्वयं रखते थे।

ब्राह्मणों द्वारा व्यापार करने का वर्णन भी कथाओं में है। एक जातक[1] में उल्लेख है कि एक ब्राह्मण पाच सौ बैलगाडियों पर सामान रखकर व्यापार करते हुए पूर्वान्त से अपरान्त तक गया था। उसने जाते समय अपने सारे काफिलों को आगे कर दिया और नहा धोकर, लेप लगाकर अपने आभूषणों से अलकृत होकर सफेद वृषभ युक्त रथ पर बैठकर अन्य अपने सहायकों से घिरकर चला। उपर्युक्त घटनाक्रम में पूर्वान्त से अपरान्त तक का व्यापार इतनी बडी सख्या में गाडियों से होना इस बात का स्पष्ट उदाहरण है कि पूर्वान्त से अपरान्त का मार्ग सुन्दर और निरापद रहा होगा।

जातक ~~कालीन समाज मे~~ साहित्य में कई प्रकार की बैलगाडियों का वर्णन आता है। कुछ बैलगाड़ियॉ केवल सामान ढोने के लिए

---

1 उपरिवत् 5.637; भवगती सूत्र शतक 15

होती थी और कुछ बैलगाड़ियां मनुष्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहॅचाने का कार्य करती थी। पहली को माल वाहक बैलगाडी कहा जाता था और दूसरी को सवारी वाली बैलगाड़ी कहा जाता था। सवारी वाली बैलगाडियों में पर्दे भी लगे रहते थे। सम्भवतः इसमें कुलीन व्यक्ति और स्त्रियां यात्रा करती रही होंगी। महाजनक जातक[1] में पर्दे वाली गाडी का उल्लेख आता है जिसमें लिखा है एक गाड़ी वाहन एक पर्दे वाली गाडी तैयार करके उसमें नीचे शय्या बिछाकर बूढ़े आदमी की तरह हांकता हुआ शाला के द्वारा पर लाकर खड़ा किया। इस घटना की पुष्टि पुरातत्विक साक्ष्यों से भी होती है।[2] जातक कथाओं में बडी संख्या में गृहस्थों द्वारा बैलगाडियों के साथ जाने का उल्लेख मिलता है। एक जातक में विदेह राष्ट्र के मिथिला नामक नगर के आलोकर नामक ग्रहस्थ द्वारा पांच सौ बैलगाड़ियों के साथ जाने का उल्लेख से स्पष्ट होता है कि बैलगाड़ियों को इतनी बडी सख्या में गृहस्थ भी रखते थे।[3]

---

1 उपरिवत 3.318; 4 446

2 मार्ग बन्धु,, सी0 एण्ड जोशी, एन0सी0 सम टेश्याकोटाजु ऑफ एक्सकेवेशन्स एट मथुरा, जे0 आई0 एस0 ओ0 ए0, नवीन संस्करण, भाग 8, 1976–77, पृष्ठ 23

3 जातक 5.52.4 ।

प्राचीन काल से ही आवागमन के लिए स्थलीय साधनों का प्रयोग बड़ी मात्रा में होता रहा है। रामायण काल में भी यातायात के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग होता रहा है। इस काल में बैलों से खींची जाने वाली गाडी को शकठ कहा जाता था। एक स्थान पर उल्लेख आता है कि जब राम विश्वामित्र के साथ मिथिला की ओर गये तो उनके साथ सौ शकटों में बैठकर तपस्वी भी उनके साथ गये।[1]

बैलों के अतिरिक्त घोडे और खच्चरो के जोते जाने का वर्णन मिलता है।[2] इस प्रकार ये गाड़िया माल ढोने के काम के अतिरिक्त लोगों की सवारी के रूप में भी काम में आती थी। अतः गाडियों का कई प्रयोग अपने आप स्पष्ट हो जाता है। इनसे इनकी विकसित स्थिति का भी पता चलता है।

रामायण की तरह महाभारत में भी गाडियो के अनेक प्रयोग के उल्लेख मिलते हैं।

---

1 रामायण 1 31 17

'तं ब्रजन्तं मुनिवरमवगादनुसाररिणाम् ।
शकरी शतमात्रं तु प्रमाणे ब्रह्वादिनाम् ।।

2 उपरिवत् 2.89 11 ।

· यातायात की दृष्टि से महाभारत काल को हम एक विकसित काल के रूप मे देखते हैं। साहित्यक और पुरातात्विक दोनो साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। एक सार्थवाह का उल्लेख महाभारत के नल दमयन्ती कथा में है जो कि अनेक प्रकार की सवारियों में भरा हुआ था। इसमें नाना प्रकार के सामान ढोते हुए बैलगाडियों को चिह्नित किया गया है[1] इस कथा से ये प्रमाणित होता है कि उस समय जब सार्थवाह चलते थे, तो उसमें अनेक प्रकार की सवारियां सम्मिलित रहती थीं। महाभारत के एक वर्णन में बैलों के साथ शकट को दान देने का उल्लेख है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काल में शकट बैलों द्वारा खींचे जाते थे और इनका उपयोग आवागमन तथा व्यापार दोनों के लिए किया जाता था। समाज में उनके महत्व को शकटों को दान में दिये जाने का उल्लेख भी स्पष्ट करता है।[2]

पाणिनि के अष्टाध्यायी में स्थल और जल परिवहन दोनों साधनों का सम्यक वर्णन है। पाणिनि ने प्राकार के सम्बन्ध मे

---

1 महाभारत 3.64 111, 112 ।

2 उपरिवत् 12.64 4 :

उपतिष्ठति कौन्तेयं रौष्ट्र काञ्चनभूषितम्।

शकरं दम्यसयुक्त दत्तं भवन्ति चैवहि ।।

देवपथ नामक महत्वपूर्ण शब्द का उल्लेख किया है।[1] पाणिनि के अनुसार देवपथ के दो अर्थ थे: एक आकार मे विमानचारी देवताओं का मार्ग देवपथ कहलाता था।[2] दूसरे अवकाश वाले देवपथ के सामान ही ऊँचे पृथ्वी पथ को भी 'देवपथ' कहा जाता था। कौटिल्य[3] ने भी इसी बात की व्याख्या की है। कौटिल्य ने देवपथ का सम्बन्ध उस ऊँचे मार्ग से किया है जो किले की चहारदीवारी के ऊपर इन्द्रकोश या कंगूरो के पीछे बनाया जाता था। पाणिनी के सूत्र में उस लंबे मार्ग का उल्लेख किया है जो सारे उत्तरापथियों के यातायात की बृहद् धमनी था।[4] यह मार्ग पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा आदि नगरों से होकर वाल्हीक तक जाता था। उत्तरापथ का वर्णन किया है। उत्तर भारत में यातायात एवं व्यापार की यह मार्ग गांधार से पाटलिपुत्र तक जाता था जो कि कालान्तर में भी बना रहा। यूनानी लेखकों की मानना है कि इस

---

1 अष्टाध्यायी 5.3.10 :

2 रघुवंश 13.19

3 अर्थशास्त्र : 2.3.17

अन्तरेषु द्विहस्तवितकाम पार्श्वेचतुर्गुणाया–
मनु प्रकारतठहस्तायतं देवपथं कारयेत् ।।

4 अष्टाध्यायी : 5.1 77 .

उत्तरपथेनाहृतं च।

महामार्ग के दो बड़े टुकडे थे। एक तो वंक्षु से कैश्पियन सागर तक, जो काले सागर से होकर यूरोप तक जाता था। शायद इसी रास्ते से भारतीय माल नदियो द्वारा पश्चिम को पहुँचाया जाता था। इसी मार्ग का दूसरा भाग भारत में था, जो गंधार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होते हुए पाटलिपुत्र, ताम्रलिप्ति तक जाता था। इसी मार्ग के बीच का एक टुकड़ा तक्षशिला से कपिशा होता हुआ बाह्लीक तक जाता था और पूर्व मे कम्बोज से होते हुए चीन के कौशेय मार्ग से मिलता था। इस प्रकार चीन, भारत तथा पश्चिमी देशों को मिलाने वाला यह स्थल-मार्ग बहुत अधिक प्रसिद्ध था।

पाणिनि ने एक नगर को दूसरे नगर से जोडने वाले पथो का वर्णन किया है।[1] देवपथादिगण में कई प्रकार के पथों का रथपथ, करिपथ, अजपथ, शंकुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ तथा देवपथ आदि। पालि महानिद्देश में इन पथों का प्राचीन उल्लेख मिलता है यथा वण्णुपथ, अजपथ, मेढपथ, शंकुपथ, छतपथ, वशपथ, संकुणपथ, भूषिकपथ, दरीपथ तथा बेन्तचारपथ आदि।[2] कात्यायन ने भी

---

[1] उपरिवत् 4.3 25 :
तद्रगच्छित पथिदूतयो : ।।

[2] महानिदेश भाग 1, पृ0 154, 155, भाग–2, पृ0 414–415

शंकुपथ तथा अजपथ के बारे में वर्णन किया है। अजपथ से तात्पर्य है आने वाला मार्ग (~~अजपर्थन्–साहत्~~) अथवा उस रास्ते से जाने वाले व्यापारी (अजपर्थन्गच्छति) आज पथिक कहलाते थे। इसी तरह से शंकुपथ से जाने वाला मार्ग अथवा व्यापारी शांकुपथिक कहलाते थे, मात्र एक बकरी के आने–जाने का रास्ता था। इस पथ पर[1] पाणिनि, कात्यायन और महानिद्देश मे जिसे शंकुपथ कहा जाता था वह वास्तव में एक पहाडी मार्ग था, जहा बीच मे चट्टानों के आज जाने पर उस पर शंकु या लोहे की कीलें ठोककर चढ़ा जाता था। जातकों[2] में भी शंकुपथ का उल्लेख मिलता है।

पाणिनि के[3] अष्टाध्यायी में ऐसा उल्लेख मिलता है कि –बोझा ढोने वाली बडी गाड़ी या सग्गड़ को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैलों को शाकट कहा गया है। बैलों के गाड़ी खींचने के आधार पर उसी के अनुसार उसका नाम पड जाता था और उसके लिए शातिब और खातिर की व्यवस्था उसी ढंग से की जाती थी।

---

1 ब्रहत्कथाश्लोक संग्रह 18.416

जातक 3.541 :

वेताचारो शंकुपथ विन्दिनो ।

3 अष्टाध्यायी 4.480

प्राचीन ग्रन्थों में मूषिक पथ नाम का उल्लेख मिलता है। मूषिक पथ उन पहाड़ी मार्गों को कहते थे जिनमें चट्टाने काटकर चूहों के बिल जैसे सुरंग बनायी जाती थी।

दरीपथ से तात्पर्य ऐसे मार्गों से है जिनमे चौडी सुरंगे बनायी जाती थी। वंशपथ या वेत्राचार पथ उन पथों को कहते थे, जहां नदी के किनारों पर लगे बांस या बैलो को झुकाकर उनकी सहायता से नदी पार की जाती थी।

कौटिल्य ने बैलगाडी का उल्लेख (~~शकट~~) स्थल परिवहन के एक प्रमुख साधन के रूप में किया है। बैलगाडी का तात्पर्य बैलों द्वारा जोते जाने वाली गाड़ी से है। किन्तु अर्थशास्त्र में बैलो के स्थान पर भैसों के जोते जाने का उल्लेख है।[1] छोटी बैलगाड़ियों का प्रयोग आवागमन के अतिरिक्त बोझा ढोने के रूप में भी होता था। व्यापार करने के लिए व्यापारी लोग बैलगाड़ियो पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान आते जाते थे। इन उल्लेखों से भारतीय व्यापार और आवागमन के लिए गाड़ियो का महत्व और उनका योगदान सिद्ध होता है। गाडियों में भैसों और

---

1 अर्थशास्त्र 2.45.19

ऊँटों का प्रयोग सम्भवतः इन पशुओं की शक्ति के आधार पर किया जाता था। इससे गाडियों से अधिक माल लादा जाता था। इसके अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँटों का प्रयोग सम्भवत· किसी विशेष उद्देश्य प्रकार को ध्यान में रखकर खास तौर पर किया जाता था।

पंतजलि के समय से शकट का उल्लेख यातायात और व्यापार करने के लिए किया जाता था। पतंजलि के महाभाष्य[1] से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बडी गाडी को शकट और छोटी गाडी को शकटी कहते थे। भार ढोने वाले साधनों के रूप में शकट का एक विशिष्ट महत्व था। पण्य और सवारी ढोने के साथ ही अनाज भी इस पर ढोया जाता था।[2] इस संदर्भ में महाभाष्य में विभिन्न प्रकार के अनाजों को ढोने के लिए प्रयोग की जाने वाली गाडियों का नाम भी अंकित किया गया है। ईख ढोने वाली गाड़ी इक्षुवाहण ओर शर ढोने वाली शरवाहण कहलाती थी।[3] कभी–कभी

---

1 उपरिवत् 10.153 – 154, 41
मनुस्मृति 11.201 :
उष्ट्रयानं समसदृदखरयानं तु कामन. ।

2 महाभाष्य 8.5.4 पृ0 479 :
वाहनयतितात् महितोरिस्थतपोरिति वक्तत्यम् इति।
यथा स्यात् इक्षु ब्राह्मण, शरवाहणम् ।

3 उपरिवत् 1.2.24 पृ0 160

किसी विशिष्ट व्यक्ति की गाडी भी उसी व्यक्ति के नाम से जानी जाती थी।

पतंजलि के समय में व्यापारिक वस्तुए ढोने के लिए गाडियों के सार्थ[1] एक साथ निकलते थे। बैलगाडी से माल ढोना पंतजलि काल में आय के एक साधन के रूप में था। कुछ लोग बैल को इसीलिए पालते थे।[2] वे लोगों का माल एक स्थान में दूसरे स्थान पर पहुँचाते थे जिससे उनकी अच्छी आय हो जाती थी। महाभाष्य में शंकट के विभिन्न अंगों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है :– चक्र, नेमि, अर, नाभि, धू:, और अक्ष आदि।[3] इन सबको अलग–अलग बनाकर फिर तक्षा इनका संयोजन करता था। महाभाष्य को काफी बड़े शकट का उल्लेख किया गया है जिसे खींचने के लिए आठ बैल का प्रयोग किया जाता था।[4] महाभाष्यकार ने लिखा है कि बैलगाडी चलाने वाले को ऊबड-खाबड रास्तों पर

---

1 उपरिवत् 3.1.155. पृ0 250
वैयाकरणानां शाकरायनो रथमार्ग आसीनः शकट सार्थ यान्तनोपलश्ये ।

2 उपरिवत् 5.3.55 पृ0 445
गौरेयं शंकट वहत गोतरो यं यः शंकट वहति सीर च ।

3 उपरिवत् 3.2 । 7 ।. पृष्ठ 278.5 4.74 पृ0 502.5.1.2 296
येदवहित मण्डल, चक्राणो मण्डल चक्र तल्लश्य–मिव्युव्यते नामिखिनश्यामितिः ।

4 उपरिवत् 6 3.46. पृ0 334

सावधानी से गाडी चलाना चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने पर बैलगाडी टूटने का भय रहता है।[1] भाष्य मे एक स्थान पर कहा गया है कि इस अक्ष ने गाड़ी का वैसा साथ नही दिया जैसा पहले वाले ने दिया था।[2]

पतंजलि ने अपने समय के बैलगाडियों के स्वरूप और उसके निर्माण का वर्णन किया है जिसकी पुष्टि इस समय की कलाकृतियों में उत्कीर्ण चित्रों से भी होती है। बैलगाडी के प्रमुख अंग है — चक्र, धुरी, कक्ष, त्रिवेणु, युगबन्ध, युवा एव बैलों आदि का चित्रण किया गया है। बैलगाडियों में धुरी के दोनों ओर एक—एक चक्र होते थे जिनमें अर्रे बने रहते थे।[3] धुरी के ऊपर कक्ष होता था।[4] बाक्स के आगे त्रिवेणु होती थी जो एक तरफ कक्ष और दूसरी तरफ बैलगाड़ी के जुए को जोडती थी।[5] त्रिवेणु बांस अथवा लकडी के तीन लट्ठों द्वारा बनायी जाती थी जो कक्ष की तरह

---

1 उपरिवत् 3.3 156. पृ0 334
अनेन यह्दास्यति न शकटं पर्यामविष्यति।

2 उपरिवत् 2.1.10 पृ0 272

3 बरूआ · भरदुथ — चित्र 45.86. स्मिथ; द जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वीज ऑफ मथुरा — प्लेट 15 19.20

4 बरूआ : भरहुथ — चित्र 45.86

5 बरूआ · बी0एम0 : सांची — प्लेट — 19

चौडी एव जुएं की तरह एक दूसरे से मिली हुई होती है।[1] त्रिवेणु और जुंए के जोड को युगबन्ध कहा जाता था। यह जुए के मध्य मे होता था।[2] जुए के दोनों ओर दो–दो खूंटियां या कीलें होती थी। जिसके मध्य में बैलों को बांधा जाता था।

जुंए की बाहरी एवं भीतरी खूंटियों को शम्या और साल कहा जाता था। जो बैलों को नियन्त्रित करने मे बडी उपयोगी सिद्ध होती थी। जुंए मे ~~एक~~ युगबन्ध के नीचे एक लटकता हुआ छोटा दंड होता था।[3] जो बैलगाड़ी को खडी करने के लिए उपयोग में लाया जाता था। त्रिवेणु पर बैलगाड़ी के कक्ष के आगे चालक के बैठने का स्थान होता था।[4] गाडी को खींचने के लिए बैलों की नालो में नथिया लगा रहता था।[5] जिससे सम्बद्ध डोरी या रस्सी को पकडकर चालक उन्हें नियंत्रित करता था।[6] भरहुत के चित्रांकन मे बनायी गयी बैलगाडी आधुनिक सग्गाड़ की तरह है।[7] यहीं पर एक अन्य स्थान पर एक [illegible]दीदार चौरखूटी गाडी दिखाई गई है।

---

1 उपरिवत् भरहुथ – चित्र 45–86
2 उपरिवत् – चित्र 86
3 उपरिवत् – चित्र – 45
4 उपरिवत् – चित्र – 86
5 उपरिवत् – चित्र – 45 । स्मिथः पूर्वाद्वत, प्लेट 20
6 उपरिवत् – चित्र – 45 उपरोक्त प्लेट – 20
7 उपरिवत् – चित्र – 45, प्लेट 45

जिसमें दो पहिए हैं और उसका खड़ा पीठक लकडी का बना है, ~~और उसका खड़ा पीठक लकड़ी का बना~~ है, गाडी से बैल खोल दिये गये है और वे जमीन पर विश्राम कर रहे हैं बैलगाडी हांकने वाला व्यक्ति या व्यापारी पीछे बैठा है। डा0 बरूआ का कथन है कि इस दृश्य में वष्णु जातक का कथानक अंकित है। जिसमें बोधिसत्व सार्थ के साथ रेगिस्तान में रास्ता भूल गये थे, लेकिन अपनी चतुराई से सकुशल अपने लक्ष्य पर पहुँच गये।[1]

मुख्य रूप से बैलगाडियां दो प्रकार की हाती थी – खुली[2] तथा ढकी।[3] खुली बैलगाडी का इस्तेमाल सामान ढोने के लिए किया जाता था और बन्द गाडी का प्रयोग सवारी के आवागमन के लिए किया जाता था।[4] ऐसा भी देखने में आता है कि कभी–कभी खुली बैलगाडी का इस्तेमाल सवारी के लिए भी करा लिया जाता था।[5] जो खुली बैलगाडियां सवारियो और वाहन ढ़ोने में इस्तेमाल की जाती थी उनके कक्ष के किनारों पर रेलिंग लगी

---

1 मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृ0 233

2 स्मिथ : पूर्वाद्वत, प्लेट 20, बरूआ, भरहुथ, चित्र 45

3 उपरिवत् प्लेट 24.19, मार्शल साची – प्लेट 19

4 बरूआ : भरहुथ, चित्र 45

5 स्मिथ : पूर्वोद्वत, प्लेट 20

रहती थी।[1] अधिकतर लोग ढ़की हुई बैलगाडियों का प्रयोग ही वाहन के रूप में करते थे।[2] इन गाडियों का कक्ष इतना बडा होता था कि चार पांच लोग आसानी से बैठ सके।[3] इस प्रकार की बैलगाड़ियों के कक्ष को सुरक्षित रखने तथा धूप और वर्षा से बचाने के लिए ऊपर से ढक दिया जाता था।[4]

सामान्य रूप से बैलगाडियों मे दो बैलों का ही प्रयोग किया जाता था।[5] मथुरा स्तूप पर जो चित्र अंकित किये गये हैं उनसे स्पष्ट होता है कि कभी–कभी बैलगाड़ियों को खींचने के लिए घोडों का भी इस्तेमाल किया जाता था।[6] बैलगाडी को हांकने और उन्हें अपने नियंत्रण को रखने के लिए गाड़ीवान अपने हाथ में चाबुक अथवा दण्ड लिये रहता था।[7] इसी प्रकार अमरावती के अद्ध चित्रों से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत में ईसा कि

---

1. उपरिवत् – प्लेट 20
2. उपरिवत् – प्लेट 15
3. उपरिवत् – प्लेट 19
4. स्मिथ : पूर्वोद्धत, प्लेट 15 19
5. उपरिवत्, चित्र 15 19 । बरूआ भरहुथ – चित्र 45 86 ।
   जोशी, एन0सी0 एण्ड मणिबन्धु, सी0 – सम टेराकोटाजू फ्राम एक्सकेवेशन्स एट मथुरा – ए स्टडी – जे0 आई0 ओ0 ए0 भाग – 3, प्लेट–11, चित्र 28 (नवीन संस्करण)
6. स्मिथ : पूर्वोद्धत, प्लूट – 19, 20
7. उपरिवत् प्लेट 15, 19, 20

प्रारम्भिक सदियों मे एक हल्की बैलगाडी सवारी के लिए तथा माल ढोने के लिए दोनों के लिए प्रयोग की जाती थी।[1] गोली के बौद्ध स्तूप से जो अर्धचित्र मिले हैं उनमें जो बैलगाड़ी का चित्रण हुआ है, वह काफी सजी हुई है। इसका नक्शा चौखूटा है और इनकी बगले बेंत से बनी हुई लगती है। बैलगाड़ी की छत खूब सजी हुई है। और उसके खुले सिरे पर पर्दा लगा हुआ है जो कि उठाकर

इस प्रकार शकट प्रयोग होने का एक मान्य उदाहरण सांची स्तूप के दक्षिण तोरण द्वार के पूर्वी स्तम्भ सम्मुख भाग[3] पर दो बैलों से जुती हुई एक बन्द गाडी का अंकन हुआ है। इस गाडी का अधिकांश स्वरूप तांगे से मिलता जुलता है। एक तरफ का भाग आयताकार रूप से दिखाई पडता है जिस पर एक लकडी का लगभग पांच – छः अंगुल का पटरा लिटाकर रखा गया है। इसके ऊपर छः लकडी के स्तम्भ दंडों पर निर्मित गजपृष्ठाकार छत बहुत ही

---

1 शिवराममूर्ति अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम, प्लेट–10, आकृति–19, मद्रास 1942

2 मोतीचन्द्र . सार्थवाह, पृ0 234

3 मार्शल फूशे . दी मोनुमेन्द्रस ऑफ सांची, फलक – 19 सी0 ।

आकर्षित लगती है। ये स्तम्भ दण्ड टेढे है। बैठने के लिए कुर्सियां या लकडी का तख्ता लगा रहता होगा।।

दक्षिण तोरण द्वार के स्तम्भ पर बनी बैलगाडी के बैलों के वस्त्र—आभूषण स्पष्ट नहीं है लेकिन सांची में अन्य स्थानों पर जा बैल स्वतंत्र रूप में अंकित किये गये हैं उनके गले मे भारी—भरकम हार या कई लडियों के मनकों की मालाये वनी है। जिनमें बीच—बीच में गोल और वर्गाकार पदक;[1] इस प्रकार कलाकृतियों में उत्कीर्ण विभिन्न बैलगाड़ियों के चित्र अंकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विवेच्य काल में, परिवहन के एक साधन के रूप में बैलगाडी का अत्यधिक महत्व था।

रथ :—

वाहन के रूप में रथों का प्रयोग प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रहा है। रथों का प्रयोग वाहन के रूप में मुख्य रूप से किया जाता था। सेनाओं में भी रथों का प्रयोग किया जाता था। रथों का उल्लेख मुख्य रूप से जातक कथानकों में भी किया है जातक कथा में सफेद घोड़े से जुते हुए अलंकृत रथ का वर्णन

---

1 उपरितवत् फलक 41.43

आता है जिसमे चमडे की रस्सी लगी हुई थी। यह चमड़े की रस्सी रथ की मजबूती के लिए लगी रहती थी।[1] राजाओ द्वारा इस प्रकार की रथो की सवारी का उल्लेख मिलता है। जातक कथानकों में दो घोडे[2] और चार घोडे[3] से जुते हुए रथों का वर्णन आता है। वे घोडे सैन्धव जाति के थे। एक जातक मे कुमुद वर्ण के घोडो के जुते होने का वर्णन मिलता है।[4] इस प्रकार के रथों की सवारी राजा और समाज़ के समृद्धशाली लोग ही किया करते थे। एक राजा का वर्णन सन्धिभेद जातक में मिलता है जो जगली आदमी द्वारा वताये गये मार्ग पर रथ को ले जाता है। गंडकमाल जातक मे भी इस प्रकार का उल्लेख आया है। ~~रथ पर चढ़कर आया है~~।

ऐसे प्रमाण मिले है कि रथ की सवारी केवल उच्च वर्ग के लोग ही नहीं करते थे बल्कि जन सामान्य भी करते थे। एक वेश्या का बड़े परिवार के साथ यात्रा का वर्णन अदठानजातक में आता है। इस जातक के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि उस समय रथ काफी बड़े होते थे। जिस पर काफी संख्या में लोग

---

1 पूर्वोद्धृत , फलक 41.43
2 पूर्वोद्धृत , फलक 1.24
3 पूर्वोद्धृत , 2.160; 2.151; आचारांग चूर्णि – पृ0 188, जैन, जे0सी0 : पृ0 117
4 जातक 2.289

बैठकर सवारी करते थे। व्यापार के साधन के रूप में भी रथो का महत्वपूर्ण स्थान था। निग्रोथ जातक में एक प्रसंग आता है जिसमें राजगृह से निकले हुए रथ का वर्णन आता है। उस रथ के आगे सार्थ जा रहा था। रथ पर जो व्यक्ति सवार था, सार्थ के वाद चलकर पड़ाव पर उसके साथ ही पहुँचता था। इस वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रथ द्रुत गति से चलते थे।[1]

एक अन्य जातक में वर्णन आता है कि जैसे प्राचीन काल में शंकट के काफिले चलते थे वैसे रथों के भी काफिले चलते थे।[2] अनेक जातकों में इस तरह का वर्णन आता है।[3] ये उल्लेख उस युग में एक बहुपर्यायी वाहन के रूप में रथों का महत्व प्रकट करते हैं। अलंकृत रथ का भी वर्णन आता है। अनेक जातक कथाओं में अलंकृत रथों का वर्णन आता है। जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय अलंकृत रथ प्रचलन में थे।

एक मणि सुवर्ण से चित्रित रथ का वर्णन मयूक जातक में थे जिसमें अजानीय घोड़े जुते हुए थे।[4] एक अन्य जातक

---

1 पूर्वोद्धृत , 4.454 457.460.461.463.498 499, 5 509
2 पूर्वोद्धृत , 4.465
3 पूर्वोद्धृत , 4.407
4 उपरिवत् 3.390

मणिकुण्डल जातक में भी ऐसा ही वर्णय आया है।[1] एक जातक में वर्णन है एक व्यक्ति को एक स्वर्णमय रथ पजर प्राप्त हुआ है, जिसके पहियों की जोड़ी नहीं है। जिसके न मिलने पर वह व्यक्ति दुःख में प्राण छोड रहा है। उसकी प्राणो की रक्षा करने के लिए उसे एक सुवर्णमय, मणिमय, लौहमय, रजतमय रथ बनवाकर उसके पहियो की जोड़ी देने की बात कहीं गयी है। इसी घटनाक्रम में एक ऐसे रथ का वर्णन आता है जो चन्द्रमा और सूर्य दोनों के चक्रयुग से अधिक सुन्दर है।[2] इस जातक के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय रथ विभिन्न प्रकार के वनाये जाते थे ये वहुमूल्य तथा सुन्दर बनाये जाते थे। ये रथ समाज के धनी वर्गों के द्वारा उपयोग में लाये जाते थे तथ राजा महाराजाओं के लिए बनाये जाते थे। सतिगुम्ब जातक में एक रथ का वर्णन आता है जो खूबसूरत कपड़ो से सजा था। सम्भवतः यह राजा महाराजाओ द्वारा

---

1 मणिकुण्डल, जातक , 3.386.3 35

2 सोवण्णमयो परमस्सरी, उत्पन्नो रथपन्जरोसग, तस्स चक्रयुग न विन्दभि, तेन दुख्खेन जहमि जीवित। सो वण्य मणीमयं लोहमय अथ रूपिया मय (अथ) पावद, रथं कारयामि।।
चक्र चक्कायुगं परिपादयामित।। चन्द्र सुरिया अभयेरथ
भातरो, सोबवधमयो रथे मम तेन चक्कयुगेन सेमति।। – जातक 4 449

उपयोग में लाया जाने वाला रथ था। रथो के ऊपर चित्रकारी का वर्णन जातक कथाओं में मिलता है।[1]

सुधाभोजनक जातक में एक रथ की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहा गया है तथा कि सुखमय यात्रा वर्णन करते हुए कहा गया है कि सुखमय यात्रा के लिए वह जाज्वल्यमान, आवश्यक सामग्रीयुक्त, स्वर्ण ईषा वाला, अलंकृत तथा स्वर्णिम चित्रों से युक्त रथ अत्यन्त उपयोगी है। इस पर अनेक प्रकार के स्वर्णिम, चन्द्रमा, हाथी, बैल, घोड़े, चीते व्याघ्र, मुर्गिया स्वर्णमृग, नानारत्नमय पक्षी और अपने–अपने झुण्ड के बिल्लोरमय मृगों आदि का चित्रण था। उस रथ में एक हजार तरूण हाथियों के समान बलशाली, अलंकृत, सुनहरी झील तथा आवेलिन नामक कर्णालकार वाले, आवाज, लगाने मात्र से ही चलने वाले शीघ्रगामी घोडे जुते हुए थे। यह देवताओं के राजा इन्द्र का रथ था। इस प्रकार के रथों का उल्लेख यद्यपि देवताओ के प्रसंग में आया है। ~~राजा इन्द्र का रथ था~~। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय विशिष्ट कोटि के रथ बनते थे। इसी प्रकार के रथ का वर्णन साधीन जातक में इन्द्र के रथ के सन्दर्भ में हुआ

---

1 उपरिवत् 5.506 :
योजेन्तु वे राजरथे सुचित्ते, करवोजकेअस्सतरे सुदन्ते। नागे च योजेन्तु सुवण्णकप्पने, दक्खेसु नागस्स निवेसनानि।।

है। उसमें कहा गया है कि इन्द्र के इस वैजयन्त रथ में एक हजार घोडे जुते हुए थे। यद्यपि यह वर्णन अतिश्योक्तिपूर्ण है; तथा इसे देवताओं के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

राजाओं के सवारी के रूप में अलंकृत एवं सुन्दर रथो का वर्णन आता है। रथ का वर्णन करते हुए महानारद – कश्यप जातक में कहा गया है कि विदेह राजा अपने आमात्यों के साथ दन्तनिर्मित चांदी के किनारों वाले शुद्ध , चिकने, श्वेत तथा चन्द्रिका के समान रथ पर आरूढ थे। उस रथ में चार कुमुद वर्ण के सैन्धव घोड़े, जो वेग में वायु के समान एवं सुदान्त थे तथा जिनके गले में सुनहरी मालाएं थी, जाते गये थे। इस प्रकार श्वेत रथ, श्वेत छत्र, श्वेत अश्व तथा श्वेत पीजनी के साथ वह राजा सुशोभित था।

जातक कथानकों में रथ दान देने के उल्लेखों से यह बात स्पष्ट होती है कि राजा महाराजा रथ के साथ अन्य वस्तुओं का दान देते थे। श्रेष्ठ घोड़ों से जुते हुए रथ दान देने की चर्चा एक जातक में कही गयी है।[1] जातक कथानकों के ये उल्लेख

---

1 उपरिवत्, 5.512

समृद्ध सूचक होने के साथ धार्मिक दृष्टि से भी रथ की महत्ता को स्पष्ट करते हैं।

प्राचीन युग से ही सूत शब्द रथ हाकने वाले (सारथि) के लिए प्रयुक्त होता रहा है। रथ के घोड़ो को एक सूत द्वारा पकडने की बात तेसकुण जातक में कहीं गयी है। एक जातक[1] में रथों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नाना प्रकार के अलंकृत–सुशिक्षित–अश्वों को ही प्राय रथों में जोता जाता था।

जातक कथानकों में रथ निर्माण का उल्लेख आता है। फन्दक जातक के एक वर्णन से पता चलता है कि उस काल में प्रायः सभी वर्ग के लोग रथो के निर्माण में सहायता पहुँचाते थे। फन्दक जातक में यह उल्लेख है कि एक ब्राह्मण बढई अपनी जीविका हेतु जगल में लकडी काटकर रथ बनाता था।[2] ब्राह्मण बढई फन्दन वृक्ष की लकडी काटता था जिससे रथ के पहिए, डांडे, नाभि, वम्बू, चक्के के घेरे आदि सभी रथ के भाग बनते थे। इसी के साथ–साथ रथ की बनावट का भी वर्णन आता है। रथ को

---

1 उपरिवत् 5531

2 उपरिवत् 4.475 :

अरान चक्काजामीनं ईसा नेमि रथस्स च ।
सव्वस्स ते कम्मनियों उयं हेस्सति फन्दनो।। – गाथा – 6

बनाने के निमित्त काले रंग के सिह के गले का चमडा उधेडकर, चार अगुल जगह पर लोहे की पट्टी की तरह पहियों को घेरे में लपेट दिया जाता था जिससे इसका घेरा मजबूत होता था और रथ भी सुन्दर बन जाता था। इस रथ को बेचने पर अच्छी कीमत मिलती थी। इस तरह से यह बात है कि जातक काल मे रथो को बनाकर बेचने की प्रथा प्रचलन मे थी।

पर्दे वाले रथ एवं पुष्प रथों का उल्लेख जातक कथानकों में मिलता है। ऐसे ही पर्दे वाले रथ का वर्णन भूरिदत्त जातक में मिलता है। इस रथ का प्रयोग अधिकतर रानियो एव कुलीन स्त्रियों की सवारी के लिए किया जाता था। राजाओं एव समृद्ध लोगों के सवारी के लिए तथा उत्सवों आदि में जाने के लिए पुष्प रथ[1] का उपयोग किया जाता था। महाजनक जातक में अनेक प्रकार के रथों का उल्लेख है, जैसे . स्वर्णरथ, रजतरथ, अश्वरथ, उष्ट्ररथ, बैलरथ, अजरथ, मेढरथ तथा मृग रथ आदि। जातक कथानकों में बैल रथों का उल्लेख आया है। जिसमें रथों को खींचने के लिए बैल जोते गये थे।[2] चार कुमुद घोडो के जोते जाने का

---

1 उपरिवत् 5.5 – 9.4.445

2 उपरिवत् 1.1.1.78

उल्लेख मंगलरथ में मिलता है। इस पर एक ध्वजा फहराती रहती थी और चीते एवं व्याघ्रो के चमडे बंधे रहते थे। चार घोडों से युक्त अंलकृत रथों का वर्णन महावेसन्तर जातक में मिलता है। इस प्रकार के रथों का इस्तेमाल केवल राजाओं द्वारा ही किया जाता था।

समाज में विभिन्न प्रकार के रथों का प्रचलन था जो सुन्दर, सुसज्जित, अलंकृत, तथा बहुमूल्य एव बहुपयोगी थे। विविध प्रकार के घोड़ों का प्रयोग भी इन रथों में किया जाता था। राजा महाराजा एवं समाज के समृद्ध लोगों द्वारा द्रुतगामी, सफेद तथा सैन्धव घोड़ों का प्रयोग किया जाता था। इन रथों में बैल आदि भी कभी--कभी जोते जाते थे। समाज में रथ दान का उल्लेख इनमे आर्थिक तथा धार्मिक महत्व का द्योतक है। इस काल में रथों की महत्ता का उल्लेख हर दृष्टि से हम पाते हैं।

महाकाव्यों में भी यातायात के स्थलीय साधनों के रूप मे रथों का विशेष महत्त्व दर्शाया गया है। रामायण के विभिन्न प्रसंगो में रथों का अनेकशः उल्लेख है। बालकाण्ड के एक प्रसंग में आया है कि जिस समय महाराजा भगीरथी के तप में प्रसन्न होकर

गंगाजी पृथ्वी की ओर चलीं, उस समय राजा भगीरथ रथ पर सवार होकर मार्ग—दर्शन करते हुए आगे—आगे चले और उनका अनुकरण करती हुई पीछे—पीछे गंगाजी चली।[1] एक अन्य प्रसग में एक गाय के बदले आठ सौ सुवर्ण रथ देने की वात कही गयी है और प्रत्येक रथ में उसकी शोभा बढाने के लिए सोने के घुंघरूओं से युक्त चार सफेद घोडों के जोते जाने का उल्लेख है।[2]

एक स्थान पर पुष्परथ के सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि सुनहरे सात बाजों से सजे हुए तथा चार सुन्दर गति वाले घोडो से युक्त वह श्रेष्ठ पुष्प रथ था।[3]

पाणिनी ने रथाङ्ग को अपस्कर कहा है,[4] जो रथ का कोई विशेष भाग था उसका पहिया भी हो सकता है। महाभारत में वराबर उपस्कर शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] रथ के पहिए, जुए आदि के लिए पाणिनि ने एक विशिष्ट शब्द रथ्य का प्रयोग किया।[6]

---

1 रामा0 1 4.3.14—15 ।
2 उपरिवत् 1 53 17.18 19.20 ।
3 उपरिवत् 2 26. 15 ।
4 अष्टाध्यायी 6 1 1.49 : अपस्करो रथागम् ।
5 महा0 6.56.9.2 54.4 : सुपस्करं सोतर वन्धुरेयम् ।
6 अष्टाध्यायी 4 3.121

कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के मार्गों के उल्लेख में रथ–पथ का उल्लेख विशेष रूप से किया है।[1] वह रथ जो इतना मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते की तरह ही उबड़–खाबड मार्ग में भी ले जाया जा सके सर्वपथीन कहलाता था।[2] इसी प्रकार वह सारथि भी, जो सब तरह के अर्थात् सीधे और कडवे जानवरों को हॉक सके, सर्वपत्रीण कहलाता था।[3]

मौर्य काल की तरह शुंग–सातवाहन–कुषाण काल में भी रथों का प्रयोग आवागमन तथा सेना आदि के कार्यो में होता रहा। रथों के विविध अंगोः अक्ष, ईषा, युग, यौवत्र, शाव्या, रश्मि, कक्ष, कोश, नीड, नाभि, मर्त, रथोपस्थ, रथशीर्ष, अर, नेमि, प्रधि, चक्र, अनि, यायि तथा प्राग आदि का उल्लेख यद्युगीन विभिन्न साक्ष्यों में हुआ है। महाभाष्य में रथो के विविध अंगों को अपस्कर कहा गया है।[4]

---

1 अर्थशास्त्र, 2 2 4 ।

2 अष्टाध्यायी, 5 27 काशिका ।
सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथिनो. रथः ।

3 उपरिवत् 5.2.7 ।

4 महाभाष्य, 6.1.149 ।

· महाभाष्य में उल्लेख है कि शिशेया के लकडी नाभि के लिये उपयुक्त मानी जाती थी। उस लकडी का प्रयोग उपाधि या नभ्य के लिए किया जाता था।[1] ईषा, दण्ड और आलालम्ब सांची स्तूप में अंकित रथ में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है। जिस लकडी से अक्ष (धुरी) और युग (जुआ) को जोडा जाता था, उसे ईषा कहते थे।[2] यह कुछ झुकी हुई परिधि के रूप में सांची शिल्प में अंकित है। उस टेढे या गोल प्रकार के ईषा दण्ड की तुलना अमरावती शिल्प[3] से प्राप्त सांसामिक रथ से की जा सकती है। यहा यह सांची की अपेक्षा अधिक गोलाई लिए हुए है। शिल्प के प्रायः सभी अंकनों मे रथ के पहिए (चक्र) और धरों (तिब्लियों) से युक्त दिखाये गये हैं।[4] पट्टियों को अक्ष से निकलने से रोकने के लिए प्रयुक्त होने वाली अणि (छोटी–छोटी लकडियां) का अंकन स्पष्ट नहीं हो सका है। रथ का ऊपरी भाग अक्ष से ऊपर रखा जाता था, जिसे कोश या वन्धुर कहते है। किस प्रकार इसे कसा या मढा जाता था इसका वर्णन प्राप्त नहीं होता। शिल्प में प्रायः कोश के अगल–बगल के

---

1 महाभाष्य 5.12. पृष्ठ 297
2 जोशी, एन0पी0 : पूर्वोद्वत, पृष्ठ 38 ।
3 शिवराम मूर्ति : अमरावती – फलक 10 चित्र–13
4 मार्शल, फूरो : द मोनु मेण्ट्स ऑफ सांची
फलक – 11.2.16.17.18 19 सी0, 23 ए0 ।

भाग, जिसे पत कहा जाता था, काष्ठ के बने विदित होते हैं। नाना प्रकार के अंकरणों से पक्ष को सुसज्जित किया जाता था।

प्रयाग संग्रहालय और संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के संग्रहालय में सुरक्षित मृष्फलकों पर पशु अलंकरण भी दृष्टिगत होते है।[1]

रथों को वस्त्र, चर्म और कम्बल आदि से मढ़ने के उल्लेख इस काल में भी प्राप्त होते है। जो रथ वस्त्रों से मढ़े जाते थे उन्हें वास्त्र कहा जाता था।[2] रथों पर द्वीपी और व्याघ्र के चर्म मढे जाते थे उन्हें द्वैप और वैयाघ्र कहा जाता था।[3] कम्बल से रथों के बैठने के स्थान तथा अन्य भाग का मढा जाता था। रथ को समन्ततः (चारों ओर से) मढ़ने के लिए चर्म का व्यवहार होता था। ऐसे रथों को काम्बल और चार्मण कहा जाता था।[4] समाज में जो धनिक वर्ग थे वे अपने रथ को पाण्डुकम्बल से परिवृत्त करते थे। ~~पाण्डुकम्बल भी कहा जाता है।~~ यह पूरी तरह रंगीन होता था

---

1 जोशी, एन0 पी0 : लाइफ इन ऐन्शियंट उत्तरापथ, चित्र – 226 227 28, पृष्ठ 83

2 महाभाष्य 4.2.10 पृष्ठ 171

3 उपरिवत् 4 2.12. काशिका ।

4 उपरिवत् 4.2.10 पृष्ठ 171

अथवा इसें किनारे–किनारे रंगीन पट्टी लगी रहती थी। इस प्रकार के जो कम्बल थे वे स्वातघाटी से सारे भारत को निर्यात किये जाते थे। काशिका मे पाण्डु कम्बल से परिवृत रथ को पाण्डु कम्बली कहा गया है।[1]

विशिष्ट मार्गों का निर्माण रथ के आवागमन के लिए किया जाता था। ये मार्ग चौडे और समतल होते थे। शकट (गाडी) तो संकरे और ऊबड–खाबड मार्गो से भी चले जाते थे, परन्तु रथ के लिए सही मार्ग का होना अति आवश्यक था। तीव्रगति होने के कारण विषम मार्ग में उनके उलटने या टूट जाने का भय हमेशा बना रहता था। पतंजलि ने लिखा है कि तीव्रगति[2] से चलता हुआ रथ नीचे दबे पौधों की जड़ों तक को उखाड देता था। या उन्हें टेढा कर देता था। इसलिए उसे मूलविभुज कहते थे।[3] रथ के मार्ग रथ्या कहलाता था।[4] रथ्या पर चलता हुआ रथ मृदु घोष करता हुआ चलता था।[5]

---

1 पूर्वोद्धृत 4.2.11 काशिका
2 उपरिवत् 3 2 5 पृष्ठ 210
3 महाभाष्य 3 2 5 पृष्ठ 210
4 उपरिवत् 5.1 60 पृष्ठ 298 – रथायहितारथ्या।
5 उपरिवत् 8.1 30 पृष्ठ 288

समाज के अचार–विचार पर मनुस्मृति में काफी महत्वपूर्ण उल्लेख है। मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि वृद्ध, स्त्री, स्नातक, राजा, वर आदि के रथों को मार्ग दे देना चाहिए।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल मे ये लोग समाज के सम्मानित लोगों में से थे। मनु ने रथ की दुर्घटना तथा चोरी आदि के सन्दर्भ में परिस्थिति के अनुसार दण्ड का विधान किया है।[2] मनु ने रथ दान देने की बात भी कही है। मनु का कहना है कि रथ आदि दान करने वाला मनुष्य ब्रह्मा की समानता रखता है।[3] तत्कालीन समाज में रथ के महत्व को मनु के उल्लेख स्पष्ट करते है।

पालकी :–

प्राचीन काल से ही भारत वर्ष में पालकी की सवारी समृद्ध लोगों की सवारी मानी जाती रही है। प्राय चार आदमी मिलकर इसे ढोते थे। यह प्रायः स्त्रियों और समाज के धनी लोगों की सवारी मानी जाती थी। पालकी का उल्लेख जातक कथाओं में भी मिलता है।[4]

---

1 मनुस्मृति 2 138
2 उपरिवत् 8 296, 9.20; 10.165
3 उपरिवत् 4 232
4 जातक 4.460; 5 503.530

. पालकी की सवारी समाज में प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। रामायण में पालकी का उल्लेख अनेक स्थल पर हुआ है। प्राचीन काल में युद्ध के समय भी पालकी की सवारी की जाती थी। युद्ध के समय रानियां पालकी पर चढकर युद्ध के पडावों तक जाती थी।[1] महाभारत में नरयानेन[2] का वर्णन आया है जिसका अर्थ है मनुष्य द्वारा ढोयी जाने वाली सवारी। अर्थशास्त्र में पालकी का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि उत्तम वेश्या राजा के साथ रथ या पालकी में साथ बैठकर चलती थी।[3]

हाथी :—

हाथी का प्रयोग प्राचीन काल से ही आवागमन् युद्ध व्यापार आदि साधनों के लिए होता था। हाथियों का उल्लेख जातक कथाओं मे भी वाहन के रूप में हुआ है।[4]

हाथियों का उपयोग सवारी के अतिरिक्त सेना के कार्यों में भी होता था। महाकाव्य में भी हाथी का उल्लेख

---

1 रामायण 1.6.13, अर्थशास्त्र 1 11.15
2 महाभारत 5.15 11.13; 12.37 40
3 आचार्य दीपंकर : कौटिल्य कालीन भारत, पृष्ठ 134
4 जातक 2.115.194.202.156.3.259.262 27.5 314

आवागमन, युद्ध एवं व्यापार के सन्दर्भ में मिलता है। रामायण में हाथी की सवारी के प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं। एक वर्णन मिलता है कि हनुमान ने रावण के यहां दो, तीन और चार दातों वाले हाथ देखे थे।[1] महाभारत के कौसल पर्व मे हाथी, हाथी सवार का उल्लेख इस बात को स्पष्ट करता है कि गजारोही और गज शिक्षक बहुत महत्वपूर्ण होते थे तथा इनको राज्य द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था।[2] हाथी सामान्य सवारी के साथ ही व्यापारिक वाहन भी था।[3] युद्ध के प्रसंग में भी हाथी का विशिष्ट स्थान था।

हाथी का उल्लेख पाणिनी की अष्टाध्यायी के अनेक स्थलों पर यातायात के सन्दर्भ में हुआ है।

कौटिल्य के अनुसार राजाओं की विजय हस्त्यसेना पर ही निर्भर करती थी।[4]

---

1 रामायण – 595 :
चर्तुर्विषाणैद्धिरदैस्ति विषाणैस्तथैव च परिक्षिप्तम्।

2 महाभारत 15 7.36 .
हेमामालिनः । उत्पनान् पदान्तेषु विनितान्
इरिणा शिक्षकै. ।

3 महाभारत 3.64.111

4 अर्थशास्त्र 14 2.2

· रा॰॰। तथा समाज के अन्य धनी लोग प्रतिष्ठा तथा शान के वश भी गज पालते थे।

अश्व :—

प्राचीन काल से ही अश्व अपनी द्रुतगति और भार वहन की क्षमता के कारण आवागमन के प्रमुख साधन थे। यह गाडियो, रथो आदि वाहनों में जुतकर और स्वयं अपनी पीठ पर बैठा कर लोगो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र पहुँचाने में समर्थ थे।

गर्दभ :—

महाभारत के उल्लेखों में गदहों का उपयोग रथ खींचने तथा बोझा ढ़ोने के कार्यों में हुआ है।[1]

पाणिनी की अष्टाध्यायी में गदहों के लिए अलग खरशाल बनाने का उल्लेख मिलता है।[2]

---

1 उपरिवत् 15 7 33

2 अष्टाध्यायी 4.3, 35

अर्थशास्त्र में भी गर्दभ की सवारी तथा बोझा ढोने के साथ ही सेना में प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[1]

मनु ने भी गर्दभ का उल्लेख सवारी तथा बोझा ढोने के लिए किया है।[2]

वृषभ :—

स्थल परिवहन के साधन के रूप में खींची जाने वाली अथवा ढोयी जाने वाली गाडियों के रूप मे वृषभ का महत्वपूर्ण स्थान है। बैलों का यातायात और बोझा ढोने के कार्यों मे महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

पौराणिक कथाओ में शिव के वाहन नन्दी नामक वृषभ का वर्णन मिलता है। वैदिक काल तक बैलों की उपयोगिता हल जोतने, गाड़ी खींचने तथा स्वतन्त्र सवारी एवं बोझा ढ़ोने के कार्यो में बहुतायत थी। महाकाव्यों में भी बैलों की सवारी का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[3]

---

1 अर्थशास्त्र 9.135 – 136.1
2 मनुस्मृति 4 120
3 महाभाष्य 15.7.33

पणिनि ने रथ और गाडी में जाते जाने वाले बैलों को पत्र कहा है।[1] बैलों को रथों में जोते जाने का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में मिलता है।[2]

पतंजलि ने उस बैल को श्रेष्ठ माना है जो कि गाड़ी और हल दोनों में काम आये।[3]

इस तरह से परिवहन के साधन के रूप में ऊपर वर्णित सभी साधन लोकप्रिय थे।

इसके अतिरिक्त रामायण काल मे हवाई यातायात का भी प्रसंग यात्रा है रावण का पुष्पक विमान एक अद्भुत विमान था जो उडते समय महाघोष करता था।

जल यातायात के संसाधन भी उपयोगिता और महत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय है। भारत उस काल में भी दूरस्थ देशों के साथ अपने व्यापारिक संबंध स्थिर रखने में सफल था और अपनी

---

1. अष्टाध्यायी 3 1.121; 4.3.1222 – 123
2. अर्थशास्त्र – शाम शास्त्री कृत – पृष्ठ 399
3. महकाव्य 5.3.55, पृष्ठ 445 :
   गौरेय शंकर वहित । गोतरी यं य· शंकर
   बहति सीरं च।

संस्कृति का विस्तार सुवर्ण भूमि और सुवर्णद्वीप के देशो तक कर सका। जल परिवहन का महत्व ईसा की कई शताब्दियों पूर्व सैन्धव काल से ही लोक जीवन में परिव्याप्त था और जिसके माध्यम से उस काल में भी भारत सुमेर, बेबीलोन, आदि देशों के साथ व्यापारिक संबंध बनाये हुए था।

हड़प्पा संस्कृति के प्रमुख केन्द्र मोहन जोदड़ों एवं लोथल से नाव के चित्र मिले है। डा0 मोती चन्द्र का अनुमान है कि मोहन जोदडो से जो नाव के चित्र मिले है इस नाव के मध्य में जो कक्ष है उसका निर्माण नरकुल से किया गया है।[1]

वैदिक काल के लोगों को समुद्र का ज्ञान था इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।[2] ऋग्वेद के अनेक मत्रो में समुद्र एवं नौकाओं के सन्दर्भ मिलते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में साधारण नौकाओं और सौ डाड़ों से चलने वाली बड़ी नौकाओं के स्पष्ट उल्लेख है।[3]

---

1 मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृष्ठ 34

2 वामन शिवराम साप्टे, सस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ 108

3 ऋग्वेद 1.119 5 –
शतारिलानावमातस्थिवांसम् ।।

वाजसनेयी संहिता में भी सौ डाडो वाले जहाज का उल्लेख है।[1] अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण में भी नौ परिवहन से संचालित कुछ शब्द मिलते है। जैसे– अरित्र, नावजा, नौमण्ड और शविन इत्यादि । डा0 मोती चन्द्र ने इन शब्दों की व्याख्या की है।[2]

पाणिनि की अष्टाध्यायी, जातक ग्रन्थों, रामायण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों से प्राक् मौर्य कालीन नौ परिवहन के अनेकानेक पक्षों की जानकारी मिलती है।

पाणिनि के पानी में चलने वाले वाहनों को ~~उद्वाहरण~~ उद्वाहन की संज्ञा दी है।[3]

जातक ग्रन्थों मे सामुद्रिक यात्राओं के विवरण मिलते है, उनमें अधिकांशतया उन जहाजों के ही वर्णन हैं जो माल ढ़ोने के काम में लायी जाती थी।। जातक कथाओं में नौ परिवहन की अनेकानेक कठिनाइयों का उल्लेख मिलता है। वलाहस्स जातक के

---

1 वाजसनेयी संहित 21.7

2 मोतीचन्द्र : पूर्वाद्धत, पृष्ठ 845

3 अष्टाध्यायी 6 3.58 ।

कथानक से ज्ञात होता है कि सिंहल द्वीप के समीप एक जहाज टूट जाने पर उसके यात्री तैरकर किनारे लग गये थ।[1]

सामुद्रिक यात्राओं मे बडी नौकाओं का उपयोग किया जाता था परन्तु बडी नदियों को पार करने के लिए छोटी नौकाओं का उपयोग किया जाता था। रामायण से ज्ञात होता है कि जन सामान्य नावों पतवारों और डाडों की सहायता से खेकर ही नदी पार करता था।[2] महाभारत के सभापर्व के एक वर्णन मे कहा गया है कि सहदेव ने म्लेच्छो को जीतने के लिए समुद्री रास्ते द्वारा उन पर आक्रमण किया।[3]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जल परिवहन का राज्य के नियत्रण में रखने के लिए नावाध्यक्ष की नियुक्ति की अनुशंसा की है।[4] मनु के लिखा है कि दो मास से अधिक गर्भवती स्त्री, सन्यासी, ब्राह्मण और ब्रह्मचारी से नदी के पार जाने में कोई नाव भाडा नही लिया जाना चाहिए।[5]

---

1 जातक 2.196

2 रामायण 2.8.9.11, 6.48.26, 6.50.1

3 महाभारत – 1.35 21

4 अर्थशास्त्र 2.44.28

5 मनुस्मृति 8.407 :
गर्मिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रवजितो मुनि · ।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की कलाकृतियों जैसे भरहुत, बोधगया एवं सॉंची के स्तूपों पर अंकित कलात्मक दृश्यों में तत्कालीन छोटी–छोटी नौकाओं का चित्रांकन है।[1]

मौर्योत्तर काल में सामुद्रिक व्यापार यातायात एवं व्यापार में अप्रत्याशित प्रगति हुई थी। सुवर्ण द्वीप, स्वर्ण, भूमि, सिंहल आदि देशों से परम्परात्मक व्यापार तो चल ही रहा था। साथ ही इस काल में भारत का पश्चिमी देशों विशेष रूप से रोम के साथ व्यापारिक संपर्क भी हुआ। भरुकच्छ, सोपारा, कल्याण आदि बंदगाहों से भारतीय नौकायें, रोमादि देशों को जाती थी।

सात वाहन कालीन चोल चालुक्य तथा पल्लव आदि राज्यों द्वारा श्री विजय, सिंहल तथा चीन आदि देशों के साथ राजनैतिक सम्बन्धों की स्थापना, नौ परिवहन की इस विकसित नव स्थिति का ही परिणाम है।

ब्राह्मण लिडिनश्चैव न दात्यास्तरिकतरें।।

1 बरूआ, बी0एम0 : भट्टुथ, चित्र 85;
उपरिवत : गया एण्ड बुद्ध गया, चित्र 59;
मैसी, एफ0 सी0 : सांची एण्ड इट्स रिमेन्स –

शैक्षिक यात्रायें

शैक्षिक यात्रायें

मनुष्य के प्रगति क्रम में, सभ्यता के विकास काल में तथा संस्कृति के उद्‌भव में शिक्षा की स्वयमेव भूमिका तो स्पष्ट है परन्तु अनुभव मूलक शिक्षा का स्वरूप भ्रामक है। शिक्षा स्वय यात्रा है और यात्री भी, वाहन है व वाहक भी। इसमें विभिन्न प्रतीतियां प्रकट होती है।

शिक्षा जहां शिक्षित होने का सामाजिक गौरव प्रदान करती है वहां यात्रा है, जहां शिक्षार्थी को अभीष्ट लक्ष्य तक पहुॅचाती है वहां वाहन है, जहां मार्गदर्शन तथा निर्देशन करती है वहां वाहक है। शिक्षा का स्वंय एक इतिहास है, एक माध्यम है, प्रदान तथा ग्रहण करने की क्षमता है तथापि लक्ष्य भी यहां यह यात्री है।

जिस प्रकार काल दर्पण में हम स्वंय के प्रतिविम्ब को उस आदि मानव से भी कहीं अधिक घृणित, कुत्सित व विकृत पाते हैं, उस मानदण्ड पर स्वंय को सभ्य तथा संस्कृत व शिक्षा को सफल होने का श्रेय देना दुष्कर है परन्तु शिक्षा की पूर्णता, सिद्धता, सार्थकता निःसंदेह निराक्षेप है। शिक्षा की सार्थकता की प्रतीति नित नहीं होती, जिस क्षण यह सार्थक होती है वह क्रांति का काल होता है। वर्तमान में विस्फोट होता है स्थापित मान्यतायें, सिद्धान्त नष्ट होते हैं, भविष्य जन्म लेता है, चेतना करवट बदलती है। या फिर पर्वतीय कन्दराओं में या सघन वन में या एकान्त में आत्मासिद्धि पाकर, स्वंयसिद्ध होकर लीन हो जाती उसमें जहां सभी यात्रायें पूर्ण होती हैं।

नीतिशास्त्र की उक्ति है ''ज्ञानेन हीनाः पशुमिः'' अर्थात ज्ञान से हीन मनुष्य पशु के तुल्य है। विद्या शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान पाना (विद्–ज्ञाने)। शिक्षा शब्द 'शिक्ष' धातु से बना है जिसका अर्थ है विद्या ग्रहण करना ('शिक्षा–विद्योपदाने')। प्राचीन काल की यह मान्यता जो आज भी अपने मूल रूप में प्रासंगिक है, के अनुसार गुरू के बिना विद्या–प्राप्ति नहीं हो सकती 'गुरूशुश्रूषया विद्या'। गुरूजन भी पुत्र के समान शिष्यों के प्रति वात्सल्य रखते थे। विद्यावंश की परम्परा चिरकाल से भारतीय संस्कृति की देन है 'वंशो द्विधा, विद्यया जन्मा च'।

'गुरू' शब्द की व्युत्पत्ति है –गुं=हदया–धकारम् रावयति =दूरीकरोतीति गुरूः। अर्थात जो हदय के अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करे, वह गुरू है। 'गरति सिश्रति कर्णमोज्ञनिामृतम इति गुरू' अर्थात जो शिक्ष्य के कानों में ज्ञानरूपी अमृत का सिंचन करे वह गुरू है। 'गृणति धर्मादिरस्यम् इति गुरूः' अर्थात जो शिष्य के प्रति धर्म आदि ज्ञातव्य तथ्यों का उपदेश करता है वह गुरू है। 'गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरूः' अर्थात जो वेदादि शास्त्रों के रहस्य को समझा देता है वह गुरू है।

शिक्षा उत्कर्षद्वार है। यह इंगित करती है हमारे कर्तव्य एवं अधिकारों के प्रति तथा उन जीवन मूल्यों के प्रति सचेत करती है जिनसे एक पुष्ट समाज एवं स्वस्थ जगत का निर्माण होता है। हमारे शैक्षिक जीवन में मूल्य तथा आदर्श दोनों अमूर्तरूप में प्रस्तुत होते हैं तथा दोनो ही प्रेरित करते हैं कि अनुशासन, स्वशासन तथा सम्यक् चर्या द्वारा ही इस जीव का निर्वहन किया जाये। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इन्ही विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर विद्यार्थी जीवन के नियमों का व्यवस्थापन किया, जिसके द्वारा मनुष्य की संकुचित, कुंठित प्रतिभा का मात्र पूर्णरूपेण विकास ही न हो अपितु उन चारित्रिक सद्गुणों की भी समाविष्टि अनुवांशिक संवहन तंत्र में की जाये जिससे भावी संततियां भी समाज व राष्ट्र को सुदृढ कर सकें। निम्न पंक्तियों में उन नियमों तथा उनमें निहित सिद्धान्तों की समीक्षा का प्रयास किया गया है।

भारतीय सभ्यता के ऊषाकाल में लेखन सामाग्री का अभाव होने के कारण शिक्षा श्रवण व वाक पद्धति पर आधारित थी, जिसके कारण शब्द व मन्त्रोच्चार में शुद्धि संभव हुई तथा स्मरण शक्ति का भी समुचित विकास हुआ एवं उस विद्या की प्राप्ति हुई जो सदा जिह्वा पर तथा मनुष्य के साथ रहती हो।

शिक्षा सामाजिक प्रगति का सर्वश्रेष्ठ अभिकरण है यथा इसकी उपलब्धता उन सभी के लिए जो इसके योग्य हों होती थी। शिक्षा के सम्पूर्ण प्रसार के लिए स्त्रियों व पुरूषों के उपनयन संस्कार की व्यवस्था थी जिसके द्वारा वे शाब्दिक व धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। यह भी घोषणा की गई कि पैतृक ऋण माता संतानोत्पत्ति से ही नही वरन् संतान की समुचित शिक्षा के द्वारा अदा किया जा सकता है।[1] इस प्रकार सभी आर्य यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शिक्षा के अधिकारी हो गये। व्यावसायिक शिक्षा सभी इच्छुकों के लिए उपलब्ध थी। जाति व्यवस्था के अनुवांशिक होने पर यह परिवार का दायित्व हो गया कि वह शिशु को प्रशिक्षित करे। समाज ने शैक्षिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए। शिक्षकों को सुलभ कराने के लिए इसे एक पवित्र कर्तव्य बताया गया जिसे ब्राह्मणों को निर्वहन करना था चाहे शुल्क प्राप्त हो अथवा न हो। शिक्षा को गरीबों की क्षमता तक पहुँचाने के लिए भिक्षाटन को विद्यार्थी का महान कर्तव्य बताया गया। शिक्षक जो शिक्षा के प्रसार एवं उच्चादर्शों की स्थापना के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते थे उनके लिए राज्य एवं समाज में पर्याप्त सम्मान व सहायता प्राप्त करने की व्यवस्था की गई।

---

[1] ब्रह्म उपनिषद् , I. 5. 7 – तस्मात्पुत्र कनुशिष्ट लाक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशास्ति

यद्यपि शिक्षा की व्यवस्था सभी के लिए थी परन्तु जो नैतिक तथा बौद्धिक रूप से अयोग्य थे उन्हे इससे बहिष्कृत किया गया।[2] महाभारत में कहा गया है कि अधीरता अतिआत्मविश्वास की भांति मनुष्य कीशत्रु है।[3] ~~दृश्य~~ धनी तथा दरिद्र दोनों को विद्या प्राप्त करने के लिए कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था। सभी लम्बे, निरन्तर तथा कठिन परिश्रम के द्वारा ही किसी क्षेत्र में प्रवीणता प्राप्त करते थे। आलसियों, विभिन्न क्षेत्रों में उद्यम करने वालों, आनन्दमार्गियों को शिक्षा से वंचित रहने को कहा गया है।[4]

प्राचीन भारतीय विचारकों ने छात्रों के लिए विवाह को निषिद्ध माना है। छात्र को ब्रह्मचारी कहा जाता था तथा यह विश्वास किया जाता था कि छात्र के विचार तथा कर्म से ब्रह्मचर्य का प्रकटीकरण हो। यद्यपि पुरूष कुछ समय के लिए अपनी पत्नी से विद्याध्ययन के निमित्त दूर रह सकता था।[5] ईसा वर्षों के प्रारम्भ होते–होते लगभग पचास प्रतिशत शिक्षार्थी दीक्षान्त के पूर्व ही विवाह कर लेते थे।

भारतीय परम्परा जीवन के समयबद्ध कार्यक्रमों का प्रतिनिधित्व करती है, उद्देश्य था कि जीवन काल में मनुष्य उन सभी परिप्रेक्ष्यों को पर्याप्त समय दे सके जो जीवन को अर्थपूर्ण बनाती है। विद्यारम्भ का प्रावधान भी जीवन के शैशवकाल था जिससे विद्या का अधिकाधिक उपयोग संभव हो सके। कहा गया है कि सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ करने पर छात्र स्वंय के तथा अपने गुरू के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।[6] जीवन का ऊषाकाल अनन्त जिज्ञासाओं से परिपूर्ण होता है, यही वह काल है जब मस्तिक की ग्राह्य क्षमता अपने सर्वोच्च स्तर पर होती है, मन सभी अनुभवों को प्राप्त कर लेना चाहता है इसलिए यह काल विद्यारम्भ का अनुकूलतम समय है। सुभाषित के अनुसार बालक के माता–पिता शत्रु सम हो जाते हैं यदि वे उसे उचित समय पर विद्यारम्भ के लिए प्रेरित नहीं करते।[7]

यद्यपि जीवन के शैशव काल में स्मरण शक्ति अधिक होती है परन्तु लम्बे समय तक उपयोग न होने के कारण उसमें क्षीणता संभव है। प्राचीन परिस्थितियों में जब कागज या पत्र का अविष्कार नहीं हुआ था, पुस्तकों की उपलब्धता नहीं थी छात्रों के लिए विस्मृति

---

2 निरूक्त II, 4

3 महाभारत, V.40.4. –अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्याया शत्रवस्त्रय
सुभाषितम्– सुखार्थि नः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थि नः सुखम्
नान्योद्योगवता न चाप्रवसता नात्मानमुत्कर्वता
नालस्योपहतेन नामयवता नाचार्यविद्वेषिणा
लज्जाशीलविनम्रसुन्दरमुखीं सीमन्तिनी नेच्छता

4 अश्वलायन गृह सूत्र – लोके ख्यातिकर सतामभियतो विद्यागुण प्राप्यते

5 III. 4 –ब्राह्मण मधीमानं दशवर्षाणि (प्रतीक्षेत)

6 जैमिनी गृह सूत्र I; 12 –नातिषोडशवर्षमुपनयीत प्रसृष्ट वृषणो ह्येष वृषणो वृषलीभूतो भवलि।।

7 सुभाषित– माता शत्रु पिता वैरी बालो ये न पाठित.।

का भय अधिक था इसलिए स्वध्याय, अभ्यास तथा पुर्नाभ्यास पर बल दिया गया। स्वध्याय को छात्र का पुनीत कर्तव्य माना गया है।[8] पढ़े हुए पाठ को विस्मृत करना ब्राह्मण मित्र के वध जैसा पाप माना गया है।[9] (याज्ञवलक्य स्मृति, III,228) इसी सन्दर्भ मे श्वेतकेतु जैसे विचारको ने गुरूकुल में प्रतिवर्ष दो माह के प्रवास को उचित माना। (आपस्तम्भ धर्म सूत्र X 1,2,12) इसी ग्रन्थ में विस्मृति की अवस्था में गुरूकुल में अस्थाई प्रवास करने को भी कहा गया है।[10]

शिक्षा द्विगामी प्रकिया है, जिसकी सफलता प्रदान करने व ग्रहण करने की इच्छा, अपेक्षा व क्षमता पर निर्भर करती है। शिक्षक का उदासीन होना अथवा शिक्षार्थी का अक्षम होना दोनों ही पक्ष शिक्षा के भविष्य के लिए घातक हैं। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि यदि शिक्षार्थी में जिज्ञासा तथा उन्नति की इच्छा का अभाव है तो उसमें निहित समय तथा श्रम व्यर्थ हो जाता है। (मनुस्मृति II 113–4, 191) आपस्तम्भ के अनुसार शिक्षक शिक्षार्थी को कुछ समय के अनुपस्थित करके या उपवास के द्वारा दण्ड दे सकते है (आपस्तम्भ 1 28.3)। यद्यपि मनु कठोर दंड देने के पक्ष में नहीं हैं परन्तु पतले दंड अथवा रस्सी का प्रयोग अनुचित नहीं मानते (मनुस्मृति II 159–61) गौतम मनु से सहमत है पर कठोर दण्ड देने पर शिक्षार्थी को गंभीर आघात पहुँचने पर शिक्षक को दोषी मानते हैं तथा न्यायिक प्रकिया का अभियोगी भी।[11] प्राचीन काल में शारीरिक दंड[12] का प्रावधान था इनका उद्देश्य मात्र सुधारात्मक न होकर शिक्षार्थी को कठोर बनाना भी था अतः दण्ड का उदारतापूर्वक उपयोग किया जाता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा नीति में दण्ड प्रकिया सुधारात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक थी। दण्ड देने की अपेक्षा उन परिस्थितियों के निषेध को अधिक श्रेयस्कर समझा गया जिनके अर्न्तगत दण्ड देने की आवश्यकता होती है। इसके लिए आवश्यक था कि नियमबद्ध चर्या तथा अनुशासित आचरण का अनुपालन किया जाये जिससे विद्यार्थी में विद्या के प्रति गंभीरता का संचार किया जाये। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिशु में ऐसे गुणों को समाहित किया जाये जिससे शिशु में उत्तम स्वभाव का निर्माण किया जा सके। शैशवकाल में मिला संस्कार एवं परिवेश जीवन पर्यन्त व्यक्ति के साथ रहते इसीलिए ऐसे नियम जैसे प्रातः सूर्योदय के पूर्व उठना, सादे जीवन तथा विचारों का पालन करना, महँगे खाद्य व वस्त्रों को वर्जित करना, कठोरशारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करना, भिक्षाटन

---

8 तैत्रेय उपनिषद् , 11– स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम

9 सूत्र II. 2. 2.

10 आपस्तम्भ धर्म– यया विद्या न विरोचेत पुनरांचार्यमुपेत्य नियमेन साधनेत।

11 गौतम 1.2.48.53– शिष्य शिष्टिरवधेन। अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्याम। अन्येन [illegible]

12 तिलमुत्थ J.Ne.52–अरिया अनारियं कुब्बान यो दंडेन निषेधति।
सासनत्थं न तंवेर इति न पडिता बिंदु।

करना, बनाये गये जिससे कि विद्यार्थी सांसारिक संघर्ष के लिए तैयार हो सके। अपने क्षेत्र मे अपने विषय में पारंगत होने के लिए विद्यार्थी को नियमित तथा स्वाध्याय करना पडता था।

भारतीय मनीषियों ने यह अनुभव किया कि औसत से कम मेघा के विद्यार्थी भी मेघावी विद्यार्थियो की संगति में अपना विकास कर सकते है या कर लेते है।[13] इसलिए व्यक्ति को विशेषतः विद्यार्थियों को अपना संग अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों से रखना चाहिये।

पूर्व वैदिक काल (१५०० ईसा पूर्व तक)

वेद भारतीय अध्ययन माल के केन्द्र थे। वेदों में पवित्र मंत्रों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण नाराशुंसी गाथाओ का भी समावेश किया गया। छात्र से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह मंत्रों के उच्चारण एवं वाचन में विशेषतः प्रवीण हो। छात्र जिन्हे पुरोहित बनना होता था उन्हें इसके हवन वेदि की प्यामिति का भी अध्ययन करना पड़ता था। विभिन्न यज्ञ वेदियों की पृथक–पृथक ज्यामिति थी। ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन विशेषतः महत्वपूर्ण थी। वेदाध्ययन छात्र की नौ या दस वर्ष की अवस्थ में अपनमन संस्कार के पश्चात आरम्भ होता था।

वैदिक मत्रों का अध्ययन साहित्य के रूप में किया जाता था। उसी प्रकार उन्हें समझाा जाता था तथा प्रशंसा की जाती थी, तथा यदि संभव हो तो उनका संवर्धन भी। नये मंत्रों की रचना की जाती थी। तथा कुछ रचनाकार अपनी रचनाओं को अन्य से श्रेष्ठ मानते थे। परन्तु बाद में सम्मिलित किये गये मंत्र अपनी मान्यता के लिये आज भी संघर्षरत हैं। पुरोहितों को मंत्रों के उच्चारण एवं वाचन में किसी भी अशुद्धि की संभावना नहीं थी, इसीलिये वे मंत्रों को भलीभांति कंठस्थ करते थे। अन्य छात्र जैसे सेनानी,कृषक, एवं शिल्पी कुछ ही मंत्रों को कंठस्थ करते थे। वेदों के मंत्रों का अर्थ समझना एवं समझाना अधिक महत्वपूर्ण था वनस्पत उनको शब्दशः कंठस्थ करने से।

उत्तर वैदिक काल (१५०० ई०पू० से १००० ई०पू० तक)

इस काल में वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण हो गया तथा ऋग्वेद, यजुर्वद, सामवेद एवं अर्थवेद का आविर्भाव हुआ। इससे वेदाध्ययन में प्रवीणता या विशेष योग्यता के द्वार खुल गये तथा नये साहित्य जिन्हें ब्राहण कहा गया अस्तित्व में आये तथा नये हवन तथा यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठान प्रकाश में आये। इन अनुष्ठानों में जटिलता का समावेश होने के कारण व्यवसायिक पुरोहितों को कुशल होने में वर्षों का समय लगता था। ज्योतिष ज्यामिति का विकास हुआ। व्याकरण तथा लिपीय विज्ञानों पर कार्य आरम्भ हुआ।

---

[13] महाभारत VI. 1.30. – बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचै सह समागमात्।
मध्यमैर्मध्यता याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः।।

वैदिक भाषा से आधुनिक बोली जाने वाली संस्कृत में भिन्नता आरम्भ होने के कारण भाषा के मूलरूप को संयोजित करने की आवश्यकता हुई, तभी इस दिशा में प्रयास भी हुये। वैदिक छात्र वैदिक मंत्रों को सिर्फ कंठस्थ करते थे अपितु उनके शुद्धतम उच्चारण एवं वाचन का अभ्यास भी करते थे। छात्रों को कठिन शब्दों का सरल बनाने की आज्ञा एवं अधिकार नहीं थे। शब्दावली से कठिन शब्दों का चयन किया जाता था। छात्रों को वैदिक मंत्रों के स्मरण के अतिरिक्त उनका अर्थ भी समझाया जाता था। कंठस्थ किये गये अध्याय के विस्मृत होने पर छात्र मूर्खता का आरोपी होता था। विद्वतापूर्ण तर्क वितर्क एवं शास्त्रार्थ छात्र जीवन के अभिन्न अंग थे।

उपनिषद एवं सूत्र काल – (१००० बी०सी०)

वैदिक साहित्य की सार्वभौमिक मान्यता स्थापित हुई जिसका श्रेय ब्राहण एवं उपनिषद को दिया गया तथा वैदिक विद्यालयों के समक्ष महान साहित्य के सरक्षण का भी प्रश्न उपस्थित होने लगा। इसी काल में लेखन पद्धति का अविष्कार तो हुआ परन्तु उपयोग नहीं, वेदों के लेखन को अधार्मिक कृत्य माना जाता था। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में हुई तनिक भी त्रुटि न सिर्फ मंत्र को अशुद्ध करती थी अपितु वाचक के लिये अहित कारी थी। यही अवधारणा मानस में निवास करती थी। इससे छात्र व शिक्षक शुद्ध वाचन एवं उच्चारण के लिये गंभीरतापूर्वक संभवतः सफलतापूर्वक प्रयास करते थे। इसी कारण वेदाध्ययन को पद पाठ, क्रम पाठ, जटा पाठ तथा धन पाठ में विभक्त कर दिया गया तथा इनका अध्ययन विशेषज्ञों द्वारा ही किया जाता था। इससे छात्र की स्मरणशक्ति पर दबाव बढ़ने लगा तथा धीरे–धीरे व्यापक तथा विकासशील साहित्य का स्मरण कर पाना तथा उसका अर्थ समझ पाना असंभव होने लगा, तथा वाचन में भी भिन्नता प्रकट होने लगी। इसी कारण, करण वाचन में भी भिन्नता प्रकट होने लगी। इसी कारण दो भागों में वैदिक छात्रों को विभाजित कर दिया गया पहले वैदिक साहितय का स्मरण करते थे तथा दूसरे उनके उच्चारण एवं वाचन का। इस विभाजन के कारण कुछ ब्राहण शुक की भांति रटने के आरोपी हुये। परन्तु फिर भी उन्होंने इस राष्ट्रीय साहित्य एवं संस्कृति को संग्रहीत कर सकने के विशाल लक्ष्य को गाप्त किया।

भारतीय इतिहास का यह काल अभूतपूर्व उन्नति का काल था, इसमें दर्शन, धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र, व्याकरण, खगोल शास्त्र तथ विभिन्न कलाओं का विकास हुआ। इसके द्वारा एक ओर छात्र इनके प्रति आकर्षित हुये दूसरी ओर अवैदिक धर्मों को वैदिक धर्म की लोकप्रियता ज्ञात हुई।

इसी काल में वैदिक एवं व्यवसायिक शिक्षा का समावेशित करने का भी एक प्रयास किया गया। इस समय के स्नातक वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त अठारह शिल्पों में कुशल होते

थे। बाद में इसमें धनुर्विद्या, सैन्य कला, औषधि, मायाजाल, सर्प पालन, प्रशासनिक प्रशिक्षण, संगीत, नृत्य, चित्रकला, अभियांत्रिकी इत्यादि का भी समावेश हो गया। इससे यह भी सत्यापित हो जाता है कि कोई भी स्नातक सभी वेद एवं शिल्पों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता था। जातक के अनुसार साहित्यिक शिक्षा को किसी व्यवसायिक शिक्षा से जोड़ दिया गया था, ऐसा लक्षशिला के संदर्भ मे कहा गया। है।

स्मृति, पुराण एवं निबन्ध काल – १ शताब्दी –१२ शताब्दी ईसा में ब्राहण वर्ग अपने कार्यों के प्रति गम्भीर था, तथा विस्तृत अध्ययन करते थे। इस काल के विशेषज्ञ ब्राहमण सिर्फ वैदिक मंत्रों का स्मरण करते थे। अपितु उनके पद पाठ, क्रम पाठ, जटा पाठ तथा धन पाठ को भी याद करते थे, तथा विभिन्न वैदिक यज्ञों का ज्ञान उन्हें था। उनमें से कुछ दो, तीन तथा चार वेदों के भी विद्वान थे उन्हें द्विवेदी, त्रिवेदी तथा चतुर्वेदी भी कहा जाता था। उन्हें यह उपाधियें उनकी जीवन पर्यन्त वैदिक सेवाओं के कारण प्राप्त होती थी।

कुछ समय पश्चात वेदाध्ययन से हास आरम्भ हो गया तथा वेदों उपस्थित एक रटी जाने वाली सामग्री के रूप में होने लगी। राजागण अपना गुणगान करने वाले कवियों को अधिक प्रक्षय देते थे।

इस काल में उपनयन संस्कार के पश्चात नित्य काम आने वाले मंत्रों का स्मरण करते थे तत्पश्चात् चार से पांच वर्ष प्राथमिक संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य का अध्ययन करते थे। तेरह से चौदह वर्ष की अवस्था में छात्र संस्कृत समझने लगते थे तथा तर्क, दर्शन, काव्य ज्योतिष एवं गणित में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए दस--बारह वर्षों तक किसी एक विषय का अध्ययन करते थे।

व्याकरणविदों तथा खगोलविदों की मांग समाज में सर्वाधिक थी। साहित्य के छात्रों को व्याकरण एवं शब्दकोष का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात कालिदास तथा भार्तृहरि की रचनाओं का अध्ययन करना होता था। संस्कृति का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने हेतु पुराण एवं जातक कथाओं का भी अध्ययन किया जाता था। दर्शन में तीनों दर्शनों जिनमे हिंदू बौद्ध एवं जैन थे का अध्ययन किया जाता था। हिंदू दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त का अध्ययन कराया जाता था।

<u>शैक्षिक यात्रा में गुरूकुल पद्धति का महत्व</u> – प्राचीन भारतीय शिक्षा में गुरूकुल का स्थान अतिमहत्वपूर्ण है। यही वह स्थान है जहां शिशु घर–परिवार से दूर विद्याध्ययन के लिए भेजा जाता था। यहीं बालक के चरित्र व्यक्तित्व तथा स्वभाव का निर्माण होता था। स्मृतियों में कहा गया है कि विद्यार्थी को उपनयन संस्कार के पश्चात् शिक्षक या आचार्य के संरक्षण में रहना चाहिए। ऐसे विद्यार्थियों को अन्तेवासी कहते है, अन्तेवासीशब्द की उत्पत्ति

आचार्यकुलवासी[14] शब्द से हुई है। आचार्य के उठने से पहले उठना तथा उनके पश्चात् सोना तथा रात्रि में अग्निहोत्र जैसी सेवाओं में उपस्थित रहना यह प्रमाणित करता है कि छात्र गुरू के ही आवास में रहते थे।[15] प्राचीन साहित्य में नभनेदिष्ट तथा कृष्ण की कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि छात्र गुरू आश्रम में ही रहते थे। यदि छात्रों का पैतृक आवास गुरू आश्रम या विद्यालय के समीप रहता था तो वे अपने परिवार के ही साथ रहते रहे होंगे परन्तु यह व्यवस्था अपवाद स्वरूप ही रही होगी। परन्तु इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि धनी लोग गुरूकुल पद्धति का लाभ प्राप्त करने के लिए दूरस्थ आश्रमों में भेजते थे।

गुरूकुल पद्धति का महत्व इसकी सामूहिकता की भावना में था। जहां छात्र एक ओर अति उच्च आदर्शों एवं चरित्र के स्वामी आचार्यों के सानिध्य में रहता था वहीं उसका सम्पर्क उसके अग्रज एवं अग्रगामियों से होता था जिसका अमूल्य प्रभाव उसके आचरण एवं व्यक्तित्व पर पड़ता था, छात्र उन्हीं के जैसा बनने की कल्पना करता था। इस पद्धति से विद्यार्थी को त्याग, अध्ययन तथा प्रतियोगिता का वातावरण प्राप्त होता था साथ ही अधिक स्वावलम्बन व आत्मविश्वास तथा परस्पर सहयोग की भावना भी जाग्रत होती थी।[16] यह भी महसूस किया गया कि पारिवारिक परिवेश में प्रशिक्षित छात्र मे गुरूकुल प्रदत्त लाभ का अभाव रहता है तथा उसकी गुरूकुल में प्रशिक्षित छात्र से तुलना नही की जा सकती।[17]

प्राचीन भारतीय परम्पराओं में ज्ञान को अर्न्ततम में खोजने का सार्थक प्रयास किया गया है। वस्तुतः सत्य पढने, सुनने, बताने से कहीं अधिक अनुभूति का बिषय है। साहित्य, कला, दर्शन, युद्ध कला या फिर विज्ञान ही क्यों न हो सदैव अनुभूति ने ही नवीनता व अविष्कार का सृजन किया है। अनुभूति एकान्त में ही संभव है, सत्य है कि एकान्त से बड़ा कोई अन्य विश्वविद्यालय नहीं है, यही वह विश्वविद्यालय जिसने गौतम बुद्ध, महावीर तथा उन असंख्य मनीषियों को दीक्षित किया जिन्होंने भारतीय मनीषा को शीर्ष प्रदान कराने में योगदान दिया। सामान्य मान्यताओं के अनुसार गुरूकुल की अवस्थापना अरण्य क्षेत्र में होती थी परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता था।[18] अधिकांश आचार्य निर्जन प्रान्त में ही विचार, मनन, चिन्तन किया करते थे। वाल्मीकि, कण्व, संदीपन आदि वन निवास ही करते थे तथा वहीं

---

14 महाभारत II, 23 –द्वितीयों ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी।

15 महाभारत III i,o,148 – ब्रह्मचारी चरेत्कश्चिद व्रतं षटत्रिशदाब्दिकम्।
समावृतो व्रती कुर्यात्स्वधनान्वेषणं तत.।।
पंचाशदाब्दिको भोगस्तद्वनस्यापहारक·।।

16 Ja No. 252 – पौराणिकराजानो अत्तने पुत्ते ' एवं इत्ते निहतयानदप्पा सीतणहक्खमा
लोकचरितज्जू भविस्संति' अत्तनो नगरे दोसापामोक्खे आचरिये
विज्जमानेपि सिष्पुग्गहणत्थाय दूरे तिरोरठ्ठं पेसति।

17 महाभारत XIII, 36.15 – अपि च ज्ञानसंपन्नः सर्वान्वेदान्पितृगृहे।
श्लाधमान इवाधीयाद ग्राम्य इत्येव तं विदुः।।

18 IV.108, 183-- मनुस्मृति

उन्होने सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा देने की व्यवस्था की थी।[19] जातक कथाओं मे कहीं–कहीं यह वर्णन भी मिलता है कि आचार्य काशीनगर को त्याग कर हिमालय के पर्वतीय अंचलो में जाते हैं।[20] गुरूकुल का गावों एवं नगरों के समीप रहने का कारण सुविधाओं की उपलब्धता थी इसी कारण गुरूकुल की अवस्थापना में इसका विशेष ध्यान रखा जाता था।[21] विद्यारम्भ से पूर्व उन्नत संस्कार एवं परिवेश प्रदान करने के लिए परिवार की विशेष भूमिका होती थी। प्रागैतिहासिक काल में जब प्रशिक्षित शिक्षक कम थे तब पिता शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते थे, ऐसे प्रमाण वैदिक तथा उपनिषदिक साहित्य में मिलते हैं। जैसे प्रजापति द्वारा अपनी संतानों देव, असुर एवं मनुष्य का शिक्षा दिया जाना।[22] अरूणि द्वारा अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षित किया जाना।[23] बालिका या पुत्री को घर पर ही शि॰ दी जाती थी, अपवाद स्वरूप मलातिमाधव नाटक में कामन्दकि भूरिवसु एवं देवव्रत के साथ विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करती है।[24] ऐसे साक्ष्य दुर्लभ हैं जो नारी की विद्यालयीय शिक्षा का समर्थन करते हैं।

प्रतिभा जन्मजात नहीं होती संसार मंच उसका निर्माण करता है। भाव को अभिव्यक्ति चाहिये, अव्यक्त मेधा निरर्थक होती है। किसी भी भाव की अभिव्यक्ति ही उसमें प्रभाव डालती है उसे प्रभावशाली बनाती है। अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए कौशल की आवश्यकता होती है तथा कौशल के लिए शुद्धिकरण एवं परिष्करण की। कुशल व्यक्ति ही भाव को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति अभिव्यक्ति कुशल बनाया जा सकता है। जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है कि उचित शिक्षा के द्वारा ही सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है, यहां तक कि इन्द्र भी जन्मजात गुणों के कारण नहीं अपितु बाल्यकाल के प्रशिक्षण के द्वारा देवराज बने।[25] उसके कुछ शताब्दियों बाद हम यह पाते हैं एक पितामह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसके कुछ पुत्र पुजारी, कुछ वीर योद्धा तथा कुछ सफल व्यवसायी बने।[26] यह दर्शाता है कि उस समय वंशवाद जैसी परम्परायें नहीं थी।

समय के साथ साथ विचारों में भी परिवर्तन आने लगा। पोषण, परिष्करण का स्थान भाग्यवादिता लेने लगी तथा यह पाया गया कि मात्र मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता नहीं

---

19 I, 191-- महाभारत
20 No. 438 -- जातक
21 1.2.1.8. – गोपथ ब्राह्मण
22 VI, 2.1 -- वृहदारण्यक उपनिषद्
23 VI, 2.1-- वृहदारण्यक उपनिषद्
24 दृश्य– 1 – नाटक मलातिमाधव
25 अथर्ववेद VI.19- इन्द्रो ह ब्रह्मचर्योण देवेभ्य. स्वराभवत्।
26 X.4.1.10 – शतपथ ब्राम्हण

होता उसके पूर्व जन्म के कर्मफलों का भी योगदान होता है। यह भी अनुभव किया गया कि मानव जीवन उनशक्तियों एवं क्षमताओं से आबद्ध रहता है जो उसके जन्म के समय प्रकट होती हैं उसकी मनीषा भी पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा प्रभावित होती है। (बुद्धिः कर्मानुसारिणी) यहां से वह मनोवृत्ति अधिक दूर नहीं थी कि मनुष्य के जन्म के भी सन्दर्भ में भी यह सिद्धान्त अपनाया जाये। फलतः जन्म के परिप्रेक्ष्य में भी यह माना जाने लगा कि पूर्व कर्मफल उसके जन्म, परिवार, कुल व जाति का निर्धारण करते हैं। यह भी कहा जाने लगा कि जिस प्रकार समान मात्रा में खाद, जल की समान आपूर्ति करने पर भी बांस का वृक्ष बांस तथा चंदन का चंदन ही रहता है।[27] यदि किसी के पास प्राकृतिक गुण नहीं है तो शिक्षा उनका निर्माण नहीं कर सकती, जिस प्रकार दर्पण प्रतिविम्ब उसी को दिखाता है जिसके पास नेत्र हों।[28] एक शिक्षक एक मेधावी तथा एक निम्न बुद्धि क्षमता के विद्यार्थी को समान रूप से शिक्षित प्रशिक्षित करता है पर दोंनों में महान अन्तर प्रकट होता है। जिस प्रकार कांच चमकता पर मिट्टी से निर्मित पात्र नहीं चमकता।[29]

व्यक्ति पूर्व जन्म के सत्कर्मों के कारण ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, उसमें विद्यानुराग व आत्मनिर्भरता जैसे गुण जन्म से ही विद्यमान रहते हैं। परन्तु यदि उसके संस्कार नही हुए तब वह भी शूद्र के ही समान रहता है।[30] भारत में जाति व्यवस्था का व्यापक इतिहास है प्राचीन काल में यह इतना अनिवार्य नहीं था यद्यपि स्मृतियों में वर्णन है कि मात्र ब्राह्मण ही वैदिक शिक्षा प्रदान कर सकते हैं। परन्तु अब्राह्मण वैदिक शिक्षकों के भी साक्ष्य मिलते हैं।[31] कुछ क्षत्रियों ने जिनमें विश्वामित्र कुल के कई सदस्य थे ऋग्वेद की रचना में योगदान दिया। कई स्थानों पर ऐसे साक्ष्य प्राप्त होते हैं ब्राह्मण छात्र क्षत्रिय शिक्षकों जैसे अश्वपति, जनक जैवालि के सानिध्य में शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि ब्राह्मण छात्र को अब्राह्मण शिक्षक के प्रति उन समस्त

---

27 शतपथ ब्राह्मण P 41.7 अन्तः सार विहीनस्य सहायः किं करिष्यति।
मलयेपि स्थितो वेणुर्वेणुरेव न चदंनः।

28 यस्य नास्ति स्वंय प्रज्ञा शास्त्रोक्तं किं करिष्यति
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।

29 उत्तररामचरित II 4. -- वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे।
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्ति करोत्यपद्धन्ति वा।
भवति च पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा।
प्रभवति मर्णिबिंबोदूग्राहे न चैव मृदां चयः।।

30 जन्मना जायते शूद्रः संस्कारदद्विजे उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिगिः श्रोत्रिय उच्यते।।

31 काथक स्मृति IX 16 – योडबागृणो विद्यामनूच्य नैव रोचते स एतांश्चतुर्होतृन ध्याचक्षीता।
एतद्वै देवानां ब्रह्म निरुक्तं यच्चतुर्होतारस्तदेन निरुच्यमांन प्रकाशं गमयति ।।

सेवाओ का निर्वहन करना चाहिये एक गुरू के प्रति की जाती है।[32] लगभग 300 ई० पू० के आसपास हम यह पाते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मणों का आधिपत्य स्थापित होता है।

ब्राह्मणों का वर्चस्व मात्र वैदिक शिक्षाओं तक ही सीमित नही था अवैदिक शिक्षाओं में भी इनका हस्तक्षेप था। कौरव तथा पाण्डव जिन्होंने महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध लडा था एक ब्राह्मण गुरू द्रोणाचार्य द्वारा शिक्षित हुए थे। ब्राह्मण शिक्षक घोडे तथा हाथियों को प्रशिक्षित करते थे ,ऐसा उल्लेख स्मृतियों में मिलता है।[33] जातक के अनुसार ब्राह्मण गुरू कई प्रयोगात्मक विषयों की भी शिक्षा देते थे जैसे औषधि विज्ञान, शल्य चिकित्सा, सर्प पालन इत्यादि विषयों का भी अध्यापन करते थे।

धनुर्वेद के अनुसार ब्राह्मण भी क्षत्रिय शिक्षकों की भांति युद्ध विद्या के अध्यापक हो सकते थे। परन्तु यह दुर्भाग्य है कि 600 ई० के पश्चात् जाति व्यवस्था के समाज में गहरे होने के साथ इस बौद्धिक वर्ग ने उन विद्याओं में अपना हस्तक्षेप समाप्त कर दिया जिन्हें निम्न समझा जाता है।

स्मृतियों के अनुसार वैदिक शिक्षा ने ब्राह्मणों की शिक्षा पद्धति को प्रभावित किया था। इनके अनुसार व्यक्ति को उपनयन संस्कार के पश्चात् बारह वर्ष शिक्षा को समर्पित करना चाहिए। परन्तु इसका व्यावहारिक उपयोग कम ही हुआ, लगभग बीस प्रतिशत ब्राह्मण ही इसका अनुसरण करते थे। अधिकतर व्याकरण, न्याय, शास्त्रीय संस्कृत के संवर्धन के प्रति आसक्त थे। वैदिक संस्कृति को जीवित रखने के लिए दैनिक जीवन के लिए उपयोगी मंत्रों की ही आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने मुख्य उर्जा का दर्शन, व्याकरण तथा शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के प्रति समर्पण किया तथा विश्व इतिहास में इन्हें एक नर्त। ' शीर्ष प्रदान किया।

स्मृतियों के अनुसार क्षत्रिय तथा वैश्य भी उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन कर सकते थे। परन्तु यह प्रकिया गहरी तथा दूरगामी नहीं थी। जातक में हम देखते हैं कुछ राजा तीनों वेद तथा अठारह प्रयोगात्मक विज्ञानों का अध्ययन करते थे।[34] महाभारत में हम पाते हैं कि कुछ कौरव राजकुमार वेदों तथा सैन्य विज्ञान में निपुण थे।[35] वैदिक तथा दार्शनिक शिक्षायें प्राचीन काल में आवश्यक हुआ करती परन्तु समय के साथ इनका ह्रास होता गया ईसा सम्वत् आरम्भ होने के साथ ही क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए उपनयन संस्कार

---

32 आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1.2.40-7 अब्राह्मणादध्ययनमनापदि। शुश्रूषाऽनुव्रज्या च यावदध्ययनम।

33 मनुस्मृति III 1.2

34 दममेधा J No.50 सोलसवस्सपदोसिको हुत्वा तक्खसिलाया सिप्पं उग्गण्हित्वा तिष्णं वेदानं पार गत्वा अठ्ठारसानं निष्फति पापुनाति

35 महाभारत 1118 एवं 133

का महत्व निरर्थक होने लगा।[36] बाद में लगभग एक हजार ईसा के आस–पास वे शूद्र सम हो गये तथा शिक्षा से पूर्णतः वंचित हो गये।[39]

शूद्रों की स्थिति दयनीय ही रही वैदिक शिक्षायें उनके लिए निषिद्ध थी। काष्ठकार उपनयन संस्कार एवं वैदिक शिक्षाओं के लिए अर्ह थे। शूद्रों की इस अवस्था का कुछ कारण समर्थन करते हैं। प्राचीन काल में वेद लिखित रूप में विद्यमान नही थे, वाचन के द्वारा ही वे उपयोग किये जाते थे,शूद्रों की मातृभाषा संस्कृत नहीं थी अतः उनके उच्चारण में त्रुटि संभव थी, जिसका परिणाम त्रासदीपूर्ण हो सकता था।[38] शूद्रों की ही भांति नारियों की भी स्थिति थी परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें समूची धार्मिक शिक्षा से ही वंचित कर दिया गया था। स्मृति, नीतिशास्त्र तथा पुराणों का वे अध्ययन कर सकते थे। उनमें से कई विद्वान हुए तथा मध्यकाल में उन्होंने ऊँचा स्थान भी प्राप्त किया।

महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार एक भी शब्द भलीभांति जानकर प्रयोग करने से लोक–परलोक में कामनाओं को प्रदान करनेवाला होता है।[39] मल्लिनाथ टीका समुद्धत मनु के अनुसार भी पुराण, न्याय मीमांसा, धर्मशास्त्र, छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरूक्त, शिक्षा, व्याकरण और चारों वेदों को मिलाकर चौदह विद्यायें कही गयी हैं।[40] महाकाव्यकार पाणिनि के अनुसार छंदशास्त्र वेद के पैर हैं, कल्पशास्त्र हाथ हैं, ज्योतिषशास्त्र नेत्र है, निरूक्तशास्त्र कान हैं, शिक्षाशास्त्र नासिका है और व्याकरणशास्त्र मुख है। साङ्. वेदाध्ययन से ही ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा होती है।

शिक्षक एवं शिक्षार्थीः सह सम्बन्ध –

गुरू के सान्निध्य में गुरूशुश्रूषापूर्वक वेद–वेदांग का ज्ञान प्राप्त करना भारतीय शिक्षा पद्धति है, जिसमें अमीर गरीब सभी प्रकार के लोगों को ज्ञानार्जन का मार्ग सदैव खुला रहता है। सन्दीपनि के आश्रम में सुदामा जैसे निर्धन ब्राह्मण और श्रीकृष्ण जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा भरद्वाज के आश्रम में द्रोण जैसे निर्धन ब्राह्मण और द्रुपद जैसे धनाढ्य राजकुमार शिक्षा प्राप्त करते थे।

प्राचीन काल में गुरू की ख्याति आज के संस्थानों जैसी थी, सामूहिक शैक्षिक केन्द्रों अस्तित्व बाद में साकार होता है। वह व्यक्ति जो शिशुओं को उनके अभिभावकों से प्राप्त करता था, उनका पालन करता था तथा उन्हें एक योग्य तथा उपयोगी बनाकर

---

36 सुश्रुत सरिया X 52 यथावर्णमिति ब्रह्मणास्त्यो राजन्यो दण्ड्नीति वैश्यो वार्तामिति

37 अलबरुनी II p 136

38 पाणिनशिक्षा v52– मत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वजो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोडपराघात्।।

39 महाभाष्य —– एक शब्द सम्यग् ज्ञात. सुप्रयुक्तः स्वर्गे च काम धुग भवति

40 याज्ञवलक्य स्मृति आचाराध्याय–3 अङानि वेदाश्रत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्र च विद्या ह्योताश्रतु दर्श।।

समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता था निश्चित रूप से समाज की सर्वोत्कृष्ट सेवा करता था तथा सर्वोच्च सम्मान के योग्य था। यह गुरू का कर्तव्य था कि वह अपने छात्रों को ज्योति की ओर, प्रकाश की ओर ले जाये तथा इसे उनमें समाहित करे। कहा गया है कि अध्ययन का दीपक एक आवरण तले जलता है, वह गुरू है जो इसका अनावरण करता है एवं उस प्रकाश को संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है।[41] इसीलिए छात्र गुरू के ऋणी होते थे तथा उनका सर्वाधिक सम्मान करते थे, गुरू का स्थान माता तथा पिता से भी ऊँचा माना गया है। वैदिक काल गुरू को छात्र का आत्मिक एवं बौद्धिक पिता माना गया है।[42]

बिना गुरू की सहायता एवं मार्गदर्शन के शिक्षा संभव नहीं है। यह एकलव्य की कथा से स्पष्ट होता है। जिसने अपने गुरू द्रोणाचार्य द्वारा उपेक्षित किये जाने के उपरान्त उनकी मूर्ति स्थापित की तथा उसके अदृश्य मार्गदर्शन के द्वारा अपनी धनुर्विद्या को पूर्णता प्रदान की। गुरू मात्र दिशा निर्देशन ही नहीं करते थे अपितु उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित भी करते थे।

प्राचीन काल में वेदों का वाचन द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी संचरण होता था। लेखन पद्धति के प्रकाश में आने के उपरान्त भी वेदों के लेखन का बहिष्कार किया गया। महाभारत के अनुसार जो व्यक्ति वेदों के लेखन का प्रयास करता है वह नर्कवासी होता है।[43] वैदिक मंत्रों के स्वर व उच्चारण को अत्याधिक महत्व दिया गया जिसका ज्ञान गुरू के द्वारा ही संभव है। उपनिषद् काल में गुरू के आदर एवं सम्मान का भाव और अधिक हो जाता है कहा गया है कि मुक्ति गुरू के निर्देशन द्वारा ही संभव है।[44] उस काल में पुस्तकें दुर्लभ थीं, अतः छात्र पर आस्थापूर्वक, निष्ठापूर्वक विश्वास करना होता था।[45] व्यावसायिक शिक्षाओं में यद्यपि पुस्तकें उपलब्ध थीं परन्तु गुरू के द्वारा ही विद्याध्ययन किया जाता था गुरू का आभामण्डल एवं ख्याति क्षितिज निश्चित रूप से विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करता था तथा उनके आत्मविश्वास का संवर्धन करता था।

आज की भांति प्राचीन काल में अध्यापकों को प्रशिक्षित करने जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। यह माना जाता था कि स्नातक या समावर्तित छात्र शिक्षा देने के लिए अर्ह हैं। इसका कारण यह था कि छात्र अपने विद्याध्ययन के समय गुरू से मंत्रों का स्वर, उच्चारण

---

41 अपरार्क यज I; 212 -- यथाघट प्रतिच्छन्ना रत्नराजा महाप्रभा।
अकिंचितकरतां प्राप्तास्तद्विधाश्चतुर्दश।।

42 ऋग्वेद XI आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचरिणं कृणुते गर्भमंत।

43 महाभारत XIV, 106 -92

44 मुण्डकोपनिषद 1.2.3. – नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्टेनैव सुज्ञानाय प्रष्ठ।
तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठय।।

45 नारद I, 38 – पुस्तक प्रत्ययाधीतं ना धीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जसरगर्भ इव स्त्रिय।।

तथा लय सीख जाते थे तथा प्रवीणता प्राप्त कर लेते थे एवं उसकी शिक्षा देने में सक्षम होते थे। इसलिए उन्हें अन्य प्रशिक्षण देने की आवश्यकता नही होती थी। अपने छात्र जी न में व्यक्ति को कई बार शास्त्रार्थ भी करना पड़ता था, जिससे उसकी तर्कशक्ति एवं अभि यक्ति का समुचित विकास हो सके।

छात्र अपने गुरू द्वारा स्थापित ऊँचे चारित्रिक आदर्शों का अपने जीवन में अनुसरण करता था। गुरू अपने क्षेत्र के ऊँचे विद्वान होते थे तथा आजीवन अध्ययन अध्यापन में लीन रहते थे।[1] गुरू की विद्वता उनकी योग्यता का एक कारण मात्र थी इसके अतिरिक्त प्रवाहगम्य संप्रेषण क्षमता, वाक्पटुता, सीखप्रद कथाओं का भण्डार तथा दुर्बोध ज्ञान को सरलता से सुबोध बना सके।[2] एकशब्द में उन्हें विद्वता के साथ–साथ अध्यापन में भी कुशल होना आवश्यक है तभी वे एक योग्य शिक्षक हो सकते हैं।[3] एक शिक्षक को न सिर्फ निर्देशित करने में ही दक्ष होना चाहिए अपितु प्रोत्साहित करने मे समर्थ होना चाहिए। उनका उच्चस्थ चरित्र, महान विद्वता तथा परिष्कृत जीवन शैली छात्र में गंभीर एवं स्थाई परिणामों का संचार करती है।

अध्यापन का प्राचीन काल में शीर्ष स्थान था, यद्यपि अधिकाधिक छात्रों को शिक्षित करने के लिए प्रत्येक शिक्षक चेष्टा करते थे। परन्तु ऐसे में किसी विशेष क्षेत्र में विशेष विद्वता ही वरीयता स्थापित कराती थी। कम विद्वान शिक्षक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अधिक विद्वान कीशरण में जाकर अपने ज्ञान को पूर्णता प्रदान करवाये। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार मैत्रेय ने मौद्गल्य से परास्त होने के पश्चात अपना विद्यालय बंद कर दिया तथा मौदगल्य की शरण ज्ञानार्जन हेतु स्वीकार की। शंकराचार्य एवं मंडन मिश्र के मध्य शास्त्रार्थ इसीलिये हुआ कि पराजित को विजेता का छात्र बनना पड़ेगा। शिक्षक छात्र की लगन एवं मेधा के प्रति आश्वस्त होकर ही निर्देशन करते थे, गुरु को अकारण निर्दोशित न करने की स्वतंत्रता नहीं थी।[4] गुरु का यह दायित्व था कि अपेक्षित योग्यता वाले सभी छात्रों को शिक्षित करें यदि वे आर्थिक सहयोग में समर्थ हों अथवा नहीं। निर्धनतम छात्र भी गुरु की सेवा करके शिक्षा प्राप्त कर सकता था। गुरु का यह कर्तव्य था कि वह छात्र को वह सभी बताये या सिखाये जो उसके संज्ञान में हो, बिना इस बात की चिता किए कि वह इस

---

1 महाभारत V. 33.33. – यावज्जीवमधीते विप्रः।

2 महाभारत V. 33.33. – प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान प्रतिभानवान्।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते।।

3 मालविकाग्निमित्रम दृश्य 1– शिष्टा किया कस्यचिदात्मसंस्था सकान्तिरन्यस्य विशेषरुपा।
यस्योभय साधु स शिक्षकाणां धुरि पंतिष्ठापयितव्य एव।।

4 कूर्म पुराण p. 515– सवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिर्दिशन।
हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः।।

व्यवसाय में उन्हें परास्त कर देगा।[5] यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो आचार्य कहलाने के अधिकारी नहीं है।

निस्संदेंह प्राचीन काल में शिक्षक अपने व्यवसाय को सर्वोत्कृष्ट मानते थे। यद्यपि वे निर्धनता में अपना जीवन यापन करते थे परन्तु अपने व्यवसाय के कारण ही उन्हें समाज से सम्मान प्राप्त होता था। वह वर्ग जो शिक्षा को सुरक्षित करता था एवं उसे गति प्रदान करता था सर्वाधिक. सम्मान के योग्य था उस धन के कारण जो सत्त, अविभक्त एवं शाश्वत है, जो सदैव उपयोगी, सम्मानीय तथा अनुकरणीय है, जो अनुगामी एवं दूरगामी है।[6]

छात्र तथा गुरु का सम्बन्ध पिता एवं पुत्र की भांति था।[1] इसलिए गुरु को बौद्धिक शिक्षा एवं आत्ममुक्ति की शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य कर्तव्यों का भी निर्वहन करना पड़ता था। वे छात्र के आत्मिक पिता थे उसकी त्रुटियों के प्रति नैतिक उतर दायी भी।[2] अध्यापन के अलावा उन्हें विभिन्न एवं अनेक दायित्व निभाने होते थे जैसे छात्र के कार्यो पर द्रष्टि रखना, उसे सही अथवा गलत के बारे में बताना, उसे सोने–जागने तथा स्वास्थ्य रक्षा के प्रति, एवं पौष्टिक एवं अपौष्टिक भोजन के प्रति सचेत करना। यह बताना कि उसे किसके संग एवं कहां रहना है।[3] यदि छात्र निर्धन है तो उसके धन की उसके भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था करना। यदि छात्र अस्वस्थ है तो पिता की भांति उसकी देखभाल एवं सेवा करना।

छात्र को भी अपने गुरु के प्रति राजा, अभिभावक एवं ईश्वर की तरह आदर एवं सम्मान का भाव रखना होता था।[4] उसका बाह्य जीवन अनुशासन एवं शिष्टाचार से युक्त होना आवश्यक था। उसे प्रातःकाल उठकर गुरु का चरण स्पर्श करना, उनसे निम्न आसन पर बैठना चाहिये। इस सम्मान का यह अर्थ नहीं कि वह गुरुकी त्रुटियों पर भी अंधविश्वास करे उसका यह कर्तव्य था कि वह उनकी त्रुटियों के प्रति उन्हें एकान्त में आगाह करे।[5] तथा यदि वे दुष्प्रवृत्तियों के प्रति झुकते हैं तो उन्हें वह उनके प्रति सचेत करे। शिक्षक मात्र मुख से ही ज्ञान प्रदान नहीं करते उनका चरित्र, आचरण, व्याक्तित्व, रहन–सहन इत्यादि छात्र पर अपना प्रभाव छोंडती हैं तथा छात्र में उनके अनुकरण की, उनके जैसे बनने की

---

5 मिलिन्द पन्हो 1 p. 142

6 आपस्तम्ब धर्म सूत्र 11,8,28 -- आचार्योऽप्ययनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाजः।

1 आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1.28 — पुत्रमवैनमभिकांक्षन्।

2 पंचतत्र 121 अतीत्य बंधूनवलंध्य शिष्यानाचार्य मागच्छति शिष्यदोष.

3 मिलिन्दपन्हो – Ip, 42

4 मनु II 200 – तमार्ग्नवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तुच्चाप्रमन्त परिचरेत।

5 महावग्ग 12.6.13 – प्रमादानाचार्यस्य बुद्धिपूर्वकं दानियमातिकमं रहसि बोधयेत्।

लालसा जन्म लेती है। परन्तु यदि गुरु अधर्म की ओर उन्मुख होते हैं तो छात्र उनकी आज्ञा की अवमानना कर सकता है।[6]

छात्र को अपने गुरु की व्यक्गित सेवा करनी होती थी। जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की तथा दास अपने स्वामी की करता है।[7] उसे गुरु को दन्त मंजन एवं पानी देना होता था, उनका आसन ले चलना होता तथा स्नान के लिए भी पानी देना पड़ता था।[8] यदि आवश्यक हो तो उनके पात्र एवं वस्त्र भी साफ करना होता था।[9] उसे गुरु के अन्य गृहकार्य यथा कक्ष की सफाई, ईधन की व्यवस्था तथा पशुओं की देखभाल भी करने पड़ते थे। परम्पराओं के अनुसार अपने विद्यार्थी जीवन में श्रीकृष्ण भी एक घंटे का समय गुरु के गृहकार्य करने के लिए देते थे। तथा यह पाया गया कि बिना गुरु की सेवा किये ज्ञान प्राप्ति सम्भव नहीं है।

परन्तु इन सेवाओं में कुछ बाध्यतायें भी थीं। गुरु को उस समय सेवायें प्राप्त करने की आज्ञा नहीं थी जबकि छात्र अध्ययनरत या उसका अध्ययन बाधित होता हो। आर्थिक दान करने वाले छात्रों के लिए शारीरिक श्रम न्यूनतम था। निर्धन छात्रो को शारीरिक श्रम करना होते थे। इस प्रकार वे विद्यालय अथवा आश्रम को आर्थिक योगदान दे सकते थे। तक्षशिला में शिक्षा के पूर्व आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले छात्र गुरु के घर ज्येष्ठ पुत्र की भांति रहते थे तथा बिना कोई श्रम किये अपना समय अध्ययन में लगाते थे। दूसरी ओर आर्थिक सहयोग न देनेवाले छात्र या धमंतेवासिकों को शारीरिक श्रम द्वारा उसकी पूर्ति करनी होती थी। यह श्रम उन्हें दिन के समय करना होता था जब शुल्क देने वाले छात्र अध्ययन करते थे, तथा उनके लिए रात्रि में विशेष कक्षायें लगती थी जिससे उनकी शिक्षा क्षतिग्रस्त न हो।[1] नालान्दा में भी जो छात्र निःशुल्क रहने, भोजन तथा शिक्षा की अपेक्षा करते थे उन्हें भी विहारों के लिए सक्षम सेवा करनी होती थी।[2] गुरु को उस छात्र से सेवा लेना वर्जित था जो अध्ययन पूर्ण कर चुका हो। यदि दो व्यक्ति आपस में एक दूसरे के गुरु हैं तब भी सेवायें अपेक्षित हैं।[3]

---

6 महाभारत 1140 54 – गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यम जानत।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याम्य भवति शासनम्।।

7 पुत्रवद्दासवदार्थि वच्चानु चरता त्वया।

8 महावग्ग, I. 25, 11–12
महावग्ग 1,25.2

9 बैधायन धर्म सूत्र III 1.15 – आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचर्णात

1 धमतेवासिका आचारियस्स कर्म्म कत्वा रन्ति सिप्पमुग्गण्हन्ति आचरिय
भागदायका गेहे जेठ्ठपुन्ता विय हत्वा सिप्पमेव उग्गण्हन्ति।

2 तक्माक्सु –इत्सिंग–पृ0 106

3 आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1.4.13 17. – न समावृते समादेशो विद्यते। ब्रह्माणि मिथो विनियोगे न गतिर्विद्यते।
ब्रह्म वर्धत इत्युपदशति।

गुरु तथा शिष्य का सह सम्बन्ध शिक्षा करने के उपरान्त भी अस्तित्व में रहता था। शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात भी शिष्य गुरु को अपने घर आमंत्रित करता था तथा उपहारादि भेट करता था वह उपहार एक दातून भी हो सकता था। अपनी इस यात्रा मे गुरु यह भी निरीक्षण करते थे कि शिष्य दी गई शिक्षा का कितना अनुसरण कर रहा है; अनभिरती जातक के अनुसार शिष्य अपने कि वह किस प्रकार दी गई शिक्षा का अनुपालन कर रहा है साथ ही यह भी स्वीकार करता उससे किस प्रकार वैदिक मंत्र विस्मृत हो गये, तथा वह उन्हें पुनः स्मरण करने का आश्वासन भी देता है। इस प्रकार शिक्षक तथा शिष्य का सह सम्बन्ध शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात भी जीवित रहता था।

छात्र दिनचर्या – छात्र को प्रातः चिडियों के चहचहाने के पूर्व जग जाना होता था, तत्पश्चात उसे प्रातः काल के कार्यक्रमों यथा स्नान ध्यान के उपरान्त उन्हें (वैदिक छात्रों को) यज्ञ अथवा अनुष्ठानों में अपना सहयोग प्रदान करना होता था। अन्य छात्र नये अध्याय का स्मरण अथवा पुराने अध्यायों का अभ्यास करते थे। ग्यारह बजे के आस–पास भोजनावकाश का समय होता था। भोजनावकाश के साथ ही विश्राम का समय होता था। दो बजे के लगभग पुनः अध्ययन आरम्भ होता था एवं सांझ तक चलता था। सांयकाल छात्र यज्ञ हेतु लकड़ी एकत्रित करते थे परन्तु यह कार्य मात्र वैदिक छात्रों के लिए ही था । अन्य छात्र सांयकाल में कसरत तथा खेलते थे। सूर्यास्त के पश्चात वे यज्ञ में भाग लेते थे तत्पश्चात भोजन ग्रहण करते थे। निर्धन छात्रों के लिए रात्रि में कक्षायें लगती थी। पुस्तक एवं लेखन सामग्री के अभाव के कारण अध्यायों को याद करना पड़ता था। मूर्तिकला, स्थापत्य कला, चित्रकला, काष्ठकारी इत्यादि के छात्र दिन के समय गुरु की कार्यशाला में व्यतीत करते थे। वहां वे कला की सूक्ष्मता का विस्तारपूर्वक अध्ययन, अभ्यास करते थे तथा उसके व्यापार एवं उसकी संभावनाओं का भी अध्ययन करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे वह धार्मिक शिक्षा हो अथवा औद्योगिक गुरुकुल उससे सम्बंधित शिक्षा तो प्रदान करता था साथ उसके वातावरण का भी निर्माण करता था जहां छात्र को अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना होता था।

जैमिनी गृह्यसूत्र के अनुसार छात्र को दिन एवं रात्रि दोनों ही समय भोजन के लिए भिक्षाटन करना चाहिये।[1] यह भी कहा गया है कि मध्यान्ह में भिक्षाटन द्वारा एकत्रित किये गये भोजन की तुलना में कोई अन्य भोजन पवित्र नहीं होता है।[2]

आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1.2.8.22

1 जैमिनी गृह सूत्र I 18

2 स्मृति चांद्रिका सस्कार काण्ड –पृ0–III :– शाकभक्षाः पयोभक्षया ये चान्ये यावशाकिनः।
सर्वे ते मैक्षभिस्य कला नहिन्ति षोडशीम्।।

भिक्षाटन का उद्देश्य था कि छात्र को यह आभास दिलाना था कि व्यक्ति का जीवन समाजिकता के द्वारा ही संभव है तथा उसे भी इसी समाज का एक अश बनना जिससे उसका एवं अन्य लोगों का जीवन यापन हो सके। यह नियम धनी एव निर्धन के अन्तर को भी समाप्त करने का एक सार्थक प्रयास था। दूसरी ओर यह समाज को भी एक छात्र की सामाजिक एवं राष्ट्रीय उपयोगिता की ओर भी इंगित करता है। तथा जो व्यक्ति किसी छात्र का अपमान करता था या उसके आग्रह का तिरस्कार करता था, उसे सामाजिक एव धार्मिक प्रतिबंधों द्वारा दंडित किया जा सकता था।[3] यह भी एक ध्यान देने योग्य बात थी कि छात्र को उतनी ही भिक्षा स्वीकार करनी होती थी जितनी उसके भोजन के लिए पर्याप्त हो उससे अधिक संग्रह करने पर उसके ऊपर चोरी का आरोप लगाया जा सकता था।[4] भिक्षाटन में छात्र को भोजन ही संग्रह करना होता था यदि उसे वस्त्र अथवा नगद दान प्राप्त होता था तो उसे वह गुरु को समर्पित कर देना होता था।[5] इसी प्रकार शिक्षा पूर्ण होने के उपरान्त उसे भिक्षाटन का अधिकार नहीं था।[6]
परन्तु यदि छात्र ऐसा गुरु दक्षिणा के लिए करता है तो उसे इसकी आज्ञा थी। उसे यह धन गुरु को देना होता था परन्तु यदि गुरु इसे स्वीकार नहीं करते तो इसे धार्मिक कार्यो पर व्यय करना होता था। भिक्षाटन द्वारा प्राप्त धन को छात्र या उसके पिता स्वंय अपने पास रखने के अधिकारी नहीं होते थे।[7] गुरु को गुरु दक्षिणा प्रदान करने के पश्चात छात्र किसी भी अवस्था में भिक्षाटन नहीं कर सकता था। समाज का नैतिक बन्धन था कि वह प्रत्येक निर्धन विद्यार्थी की शिक्षा का प्रबन्ध करे तथा शिक्षित होने के पश्चात वह स्वंय अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

स्मृतियों के अनुसार निर्धन छात्र के लिये भिक्षाचारण एक औपचारिकता मात्र ही था।[8] तथा वे यह भी कहती हैं कि छात्रा को अपने गुरु के घर या आश्रम में ही भोजन ग्रहण करना चाहिये।[9] नालन्दा सलोत्गी तथा एन्नायिरम विश्वविद्यालयों में भिक्षाटन आवश्यक नहीं था, विद्यालय प्रशासन ही छात्रों के रहने एवं भोजन का प्रबन्ध करता था।

---

[3] बौधायन धर्म सूत्र 1.3:25 – तस्माद ह वै ब्रह्मचारिसंध चरंतं न प्रत्याचक्षीत

[4] विरमित्रोदय सस्कार प्रकाश P – 446 आहारादधिक वर्णी न क्वाचिद्भैक्षयाचरेत ।
युच्यते स्तेयदोषेण कामतोडाधिकयाहरन्।।

[5] आपस्तम्ब धर्म सूत्र – यदन्यानि द्रव्योणि यथालाभमुपरहित दक्षिणा एव ता।

[6] आपस्तम्ब धर्म सूत्र II 1.53 – समावृन्तस्य भिक्षाडशुचिकरा।

[7] आपस्तम्ब धर्म सूत्र II 715. – समावृतो मात्रे दद्यात्। माता पितरम। भर्ता गुरुम्। धर्मकृत्यं वा विनियोजयेत।

[8] अश्नीयादष्टवर्षस्तु ब्रह्मचारी प्रग्रे सदा।
तर्दूर्ध्वमाद्वादशाब्दादश्नीसात्संगवे सदा ।। तदूध्वं ग्रहवद्भिक्षां भोजन च समाचरेत।

[9] विरमित्रोदय सस्कार प्रकाश पृ0 – 486 मानव ग्रह सूत्र
भैक्षाचार्यवृत्ति स्यात।

कुछ स्थानों पर बनारस की भांति समाज का धनी वर्ग विद्यालय के रख–रखाव का प्रबन्ध करता था, यहां पर भी भिक्षाटन अनिवार्य नहीं था। चीनी यात्री यूवान च्वांग भारतीय मेधा एवं छात्रवृत्ति का प्रशंसक था उसके अनुसार बिना भोजन, वस्त्र, औषधि की चिंता किये छात्र अध्ययन को अपना पूरा समय देते थे।[1]

स्वतंत्र शिक्षक – भारत की शैक्षिक यात्रा में स्वतंत्र शिक्षकों ने सर्वदा सहयोगी भूमिका अदा की। प्रागौतिहासिक काल में विभिन्न वेदानुयायियों ने एक साहित्यिक संस्था ' चरण ' की स्थापना की थी, परन्तु यह एक शिथिल संस्था थी तथा वेद विशेष या वैदिक सखा की शिक्षा को ही प्रोत्साहित करती थी। बाद में समाज में एक विशेष वर्ग अथवा जाति को अध्ययन, अध्यापन हेतु प्रोत्साहित किया गया जिसे ब्राह्मण कहते है। यह वर्ग शिक्षा की परम्परा आगे बढ़ाने में सहयोंगी रहा तथा प्रत्येक ब्राह्मण से यह अपेक्षा की गई कि वह एक संस्था के रुप में कार्य करे तथा समाज को शिक्षित करने में अपना योगदान दें। प्राचीन काल में नवोदित परिषदें आधुनिक शिक्षण संस्थाओं की भांति नहीं थी , जो कि विभिन्न विषयों एवं क्षेत्रों के विद्वानों को एक मंच प्रदान कर सके। इसीलिए प्रसिद्ध तथा पवित्र नगर शिक्षा के केन्द्र के रुप उदित होने लगे। तक्षशिला एवं बनारस में असंख्य विद्वान थे परन्तु वे स्वतंत्र शिक्षण का कार्य ही करते थे तथा एक मंच या केंन्द्र पर उपस्थित होकर शिक्षा देने जैसा कोई प्रबन्ध नहीं था। यदि किसी शिक्षक के अर्न्तगत छात्रों की संख्या अधिक हो जाती थी तो वह किसी सहायक शिक्षक को अथवा सबसे मेधावी छात्र को शिक्षण के निमित्त रखते थे।[2] साथ ही यह भी पाया गया कि प्राचीन काल में एथेन्स में भी शिक्षण का कार्य स्वतंत्र शिक्षकों द्वारा ही होता था। यूरोप में पहले जन विद्यालय का सस्थापक चार्लमेन (८००ई०) को माना जाता है, परन्तु उनके निधन से इस योजना पर कुठाराधात हुआ।

भारत में सामूहिक शिक्षा का अम्युदय बौद्ध मठों के साथ हुआ। इस प्रकिया में स्वयं महात्मा बुद्ध ने सकिय योगदान दिया , उन्होंने अपने शिष्यों को न सिर्फ शिक्षित दीक्षित किया अपिंतु उन्हे धर्म के प्रचार के लिए भी प्रोत्साहित किया। उन्होंने बौद्ध –विहारों एवं विहारे में कड़े अनुशासन व नियमों का प्रतिपादन किया। इन मठों एवं विहारों में ध्यान, योग, साधना के जैसे प्रयोगात्मक एवं व्यवहारिक विषयों के अतिरिक्त पाली, सस्कृत , तर्कशास्त्र, मीमांसा का भी ज्ञान दिया जाता था। अशोक के काल में इनका अधिक पोषण हुआ। पहले यह बौद्ध भिक्षु–भिक्षुणियों तक ही सीमित था परन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि धर्म के अधिकाधिक प्रसार–प्रचार के लिए शिशुओं को अपनी पद्धति की ओर

---

1 ह डफ ऑफ यूआन च्वाग पृ0 113

2 अनभिरति जातक।।प्र0–185

आकर्षित एवं प्रोत्साहित करने के आवश्यता है। इसके लिये उन्होंने अधिक सुव्यवस्थित तथ परिष्कृत शिक्षा पद्धति का अविष्कार किया जहां छात्र को एक ही स्थान कई विषयों का पांडित्यपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त हो सके। हिंदू विश्वविद्यालयों की अवस्थापना नालान्दा (450 ई०) के पश्चात आरम्भ होती है। हिंदूओं के संगठित जन विद्यालय का अस्तित्व बौद्ध विहारों के प्रतिविम्बात्मक परिणाम है तथा मंदिरों की शिक्षण केन्द्र के रुप में अवस्थापना उसकी प्रतिकिया है।

बौद्ध विश्वविद्यालय – बौद्ध विश्वविद्यालयों में नालान्दा एवं विकमाशिला प्रमुख हैं। इन विश्वविद्यालयों में समूची व्यवस्था प्रधान भिक्षु के अर्न्तगत थी, इसके लिये विद्वता, चरित्र एवं वरिष्ठता का आधार सुनिश्चित था तथा उनका चुनाव संध के सदस्यों द्वारा होता था। नवीं शताब्दी में जलालाबाद के भिक्षु को जो उस समय तीर्थयात्रा पर था उसे विश्वविद्यालय का प्रधानाचार्य बनाया गया।[1] जिससे स्पष्ट होता है कि स्थानिक एवं राज्यिक ईर्ष्या का चुनाव पर कोई प्रभाव नहीं पडता था। उनकी सहायता के लिए दो परिषदें शैक्षिक तथा प्रशासनिक होती थी। शैक्षिक परिषद प्रवेश , पाठ्यकम निर्धारण एव विभिन्न शिक्षिको के कार्य निर्धारण का कार्य करती थी। बाद में जब विकमाशिला विश्वविद्यालय में उपाधि वितरण आरम्भ तब इसका कार्य परीक्षा नियंत्रण भी हो गया तथा पुस्तकालय व वाचनालय का रख–रखाव भी इसी से सम्बन्धित था। प्रशासनिक परिषद का कार्य सामान्य प्रशासन एवं वित्तं से सम्बन्धित था. इसके अर्न्तगत भवन निर्माण, व्यवस्थीकरण, भोजन, वस्त्र, औषधि का वितरण तथा छात्रावासीय कक्षों का वितरण भी था। इसके अतिरिक्त वित्तं के आवागमन पर भी नियंत्रण रखना था।

दाक्षिण भारतीय साक्ष्यों से मंदिर विद्यालयों का चित्र प्रस्तुत होता है। इनसे पता चलता है कि इनका प्रशासन मंदिर उप–समिति द्वारा होता था, यह ग्राम परिषद के अर्न्तगत होती थी। यही उप–समिति शिक्षकों के चयन, का कार्य करती थी साथ ही किन–किन विषयों का अध्यापन होना है तथा उनमें कितने छात्रों की व्यवस्था होनी है, यह भी सुनिश्चित करती थी। मंदिर के प्रधान आंतरिक प्रशासन की देखरेख करते थे। वह छात्रावासीय रखरखाव एवं आवंटन, विद्यार्थियों को स्थानों का आवंटन, सेवकों का चयन एवं अन्य सामग्री की व्यवस्था का निरीक्षण एवं उसकी व्यवस्था करते थे। कुछ स्थानों पर छात्रों के लिये चिकित्सालयों की भी व्यवस्था थी। शिक्षकों के कार्य वितरण, पुस्तकालीय निरीक्षण, विद्यालयीय अनुशासन का संरक्षण भी मंदिर प्रधान के अंतर्गत था।

---

1 इण्डियन एन्टीक्यूटी YVIII प्र0307

वस्तुतः प्राचीन काल में शिक्षा केन्द्रों का अवस्थापन प्रसिद्ध नगरों के आस–पास होता था, ये नगर या तो राजधानी अथवा तीर्थ हुआ करते थे। वहा इन केन्द्रों को राजा अथवा प्रशासक का संरक्षण प्राप्त होता था अतः इस ओर विद्वान ब्राह्मण भी आकृष्ट होने लगे। इसीलिये उत्तर भारत में तक्षशिला , कन्नौज, मिथिला, धार एवं अनहिलपाटन का तथा दक्षिण में मलखेड, कल्याणी एवं तंजौर का विकास हुआ । तीर्थ स्थानों पर तीर्थयात्री एक ओर आर्थिक साधन मुहैया कराते थे तो दूसरी ओर विद्यालय अथवा शिक्षक की ख्याति के वाहक भी बनते थे। यही कारण है कि बनारस , कांची, नासिक, कर्नाटक, गंगासागर इत्यादि तीर्थस्थल शैक्षिक जगत में भी प्रकाशित हुये। प्रायः राजा शिक्षा एवं विद्वानों के प्रशंसक एवं प्रेमी होते थे कि वे उन्हें भूमि दान करते थे तथा उन्हें वहीं अवस्थापित भी करते थे जिसे 'अग्रहार' कहते हैं। ऐसे स्थान शिक्षा के स्वतः केन्द्र होते थे। कुछ हिन्दू मठ तथा विद्वान यथा शंकराचार्य , रामानुजाचार्य, वीरसॅवास इत्यादि अत्यंत प्रभावशाली एवं प्रभुत्वशाली थे, उन्हे राज्य से दान, अनुदान तथा संरक्षण प्राप्त होता था।

प्रमुख शिक्षण संस्थान

तक्षशिला

आधुनिक रावलपिंडी नगर से बीस मील पश्चिम में स्थित तक्षशिला निसंदेह प्राचीन काल के शैक्षिक केन्द्रों में अपना अग्रणी स्थान रखता है। यह गांधार राज्य की राजधानी भी था। इसके संस्थापक 'भारत' थे तथा उनके पुत्र 'तक्ष' द्वारा इस पर शासन किया गया , उन्हीं के नाम से इसका नाम तक्षशिला पडा।[1] लगभग सातवीं सदी ई0पू0 में यह शिक्षा का सुप्रसिद्व एवं ख्यातिलब्ध स्थान था। यहां दूरस्थ स्थानों यथा राजगृह, बनारस एवं मिथिला से छात्र विद्याध्ययन हेतु आते थे। सिकंदर के आकमण के समय तक्षशिला के दार्शनिक इसे गौरवान्वित करते थे।

तक्षशिला पर पर्सियन एवं ग्रीक आकमणों का गहरा प्रभाव पडा तथा ब्राह्मी का रूपान्तरण विदेशी खरोष्ठी लिपि के अक्षरों में होने लगा। यह संभव है कि तक्षशिला के कुछ विश्व विख्यात अध्यापकों ने ग्रीक भाषा एवं साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया हो एवं उनका अध्यापन भी किया हो जिससे ग्रीक प्रशासन में जिसकी अवधि सवा सौ वर्ष थी में छात्र अपने स्थान का निर्माण कर सकें। यह भी संभव है कि कुछ ग्रीक नाटक का संचालन होता रहा हो पर उनका मंचन राजधरानों तक ही सीमित रहा होगा। कुछ भारतीय ग्रीक भाषा एवं साहित्य के प्रशंसक भी रहे होंगे।

---

[1] रामायण VII, 101 1

तक्षशिला को आधुनिक युग के किसी विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की संज्ञा देना उचित न होगा। वहां कई विख्यात आचार्य थे परन्तु वे किसी संस्था से आबद्ध या उसके सदस्य नहीं थे, न ही वहां कोई अनुमोदित पाठ्यक्रम जिसके अर्न्तगत वे अपने शिष्यों को शिक्षित करें। प्रत्येक आचार्य अपने वरिष्ठ छात्रों का सहयोग अपने कार्य के लिये प्राप्त करते थे। छात्रों का चयन एवं उनकी संख्या का निर्धारण वे स्वयं करते थे तथा छात्रों की इच्छानुरुप ही.वे ज्ञान देते थे। तक्षशिला में छात्रों को कोई प्रशस्ति एवं उपाधि भी प्रदान नहीं की जाती थी।

जातकों के अनुसार तक्षशिला के विश्व विख्यात आचार्यों के अर्न्तगत पांच सौ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे, परन्तु यह संख्या सत्य प्रतीत नहीं होती । मात्र एक जातक ही हमें सत्य के आस–पास पहुचाने के लिये उपलब्ध है,इसके अनुसार एक आचार्य केअर्न्तगत एक सौ तीन राजकुमार धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने आते थे।[2] संभव है कि आचार्य की सहायता हेतु कुछ सहयोगी भी रहे हों। परन्तु सामान्यतः एक अध्यापक बीस से अ[illegible] छात्रों को शिक्षा नहीं देते थे।[3] तक्षशिला की खुदाई से ऐसे किसी विशाल कक्ष के साक्ष्य नहीं मिले जिनसे यह सिद्धहो कि वहां पांच सौ के लगभग छात्र अध्ययन करते रहे हों।

प्राचीन काल में यात्रा एवं संचार के साधन दुर्लभ थे इसीलिये विद्याध्ययन के पश्चात जब वापिस आते थे तो उनके माता–पिता साधुवाद के पात्र होते थे कि वे अपने जीवन काल में विद्याध्ययन कर लौटे पुत्र का आगमन देख रहे हैं।[4] बनारस, राजगृह, मिथिला तथा उज्जैन जैसे दूरस्थ स्थानों से छात्र वहां विद्याध्ययन हेतु जाते थे तथा तक्षशिला में कुरु एवं कोसल जैसे राज्यों का स्थान आरक्षित रहता था। राजा प्रसेनजीत ने अपनी शिक्षा वहीं ग्रहण की थी।[1] राजकुमार जीवक जो विम्बासार के पुत्र थे ने सात वर्षों तक तक्षशिला में औषधि एवं शल्य चिकित्सा का अध्ययन किया था।[2]

उच्च शिक्षा के प्रयोजनार्थ ही छात्र तक्षशिला जाते थे, उनकी अवस्था सोलह वर्ष के आस–पास होती थी। वे अध्ययन आरम्भ होने के पूर्व ही अपने प्रवास का व्यय एवं शुल्क आचार्य को दे देते थे। अतिधनी वर्ग के छात्र जैसे वाराणसी के राजकुमार अपने प्रवास के लिये विशेष आवास की व्यवस्था करते थे।[3] निर्धन छात्र जो शुल्क अदा करने में

---

2 सुतसोम जातक vol v पृ0 407

3 अंते, न0 – 84

4 जातक,न0– 456

1 महाग्ग VIII

2 जातक 498

3 जातक न0 – 456

अक्षम थे वे दिन में गुरु का गृहकार्य करते तथा रात्रि में उनके लिये विशेष कक्षायें लगती थी।

तक्षशिला उच्च शिक्षा केन्द्र था तथा छात्र विषय विशेष मे प्रवीणता प्राप्त करने वहां आते थे। तीन वेद, व्याकरण, दर्शन तथा अठारह सिप्प वहां पढाये जाने वाले मुख्य विषय थे। इनके अतिरिक्त औषधि विज्ञान, शल्य चिकित्सा, धनुर्विद्या, नक्षत्र विज्ञान, ज्योतिष, लेखांकन, वाणिज्य,, कृषि, जादू, सर्प पालन, संगीत, नृत्य, चित्रकला, इसके अतिरिक्त सैन्य विज्ञान से सम्बन्धित कुछ अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता था। विषय चयन में जाति व्यवस्था की कोई भूमिका नहीं थी। क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ वेदध्ययन करते थे तथा ब्राह्मण क्षत्रिय के धनुर्विद्या सीखते थे। जातक में बनारस के राजपुरोहित का अपने पुत्र को तक्षशिला धनुर्विद्या की शिक्षा हेतु भेजने का विवरण प्राप्त होता है।[4]

वाराणसी

पूर्व वैदिक साहित्य बनारस की तीर्थ एवं शैक्षिक केन्द्र होने की पुष्टि नहीं करते हैं अतः इसे यह गौरव प्राप्त करने में सदियां लगी होंगी। आर्यों का गंगा घाटीय क्षेत्रों के परिचय के पश्चात ही इसकी महत्ता प्रतिष्ठित हुई होगी। उपनिषद काल में वाराणसी का उत्कर्ष आर्यीय धर्म एवं संस्कृति के गरिमामयी केन्द्र के रुप में हुआ। इसके पूर्व काशी नरेश अपने पुत्रों को विद्याध्ययन हेतु तक्षशिला भेजते थे तथा जातकों के कई विद्वान पहले वहीं शिक्षित हुए।[5] कोसिय तथा तित्री जातकों के अनुसार बनारस के आचार्य तीन वेद एवं अठारह सिप्पों का शिक्षण अपने विद्यालय में देते थे। अकित्त जातक विभिन्न राज्यों से छात्रों के वहां आने की पुष्टि करता है।

सातवीं सदी ईसा पूर्व में वाराणसी पूर्वी भारत का प्रसिद्व शैक्षिक केन्द्र था। इसकी इस ख्याति में गौतम के सारनाथ में दिये गये प्रथम उपदेश का अत्याधिक योगदान था। यहीं से यह सातवीं सदी ईसा तक शैक्षिक जगत में अपनी निर्विवाद सत्ता स्थापित करता है। यद्यपि यूनान च्वांग द्वारा इस बात की पुष्टि नहीं होती। परन्तु यह बौद्ध शिक्षा का अभीष्ट रहा होगा। मात्र भविष्य पुराण द्वारा ही वाराणसी की शैक्षिक भूमिका प्रकट होती है, अन्य ग्रन्थ इसकी धार्मिक महत्ता ही स्पष्ट करते हैं। यहां एकल शिक्षा पद्धति का ही पालन किया जाता है अर्थात आचार्य किसी संस्था से आबद्ध नहीं होते थे तथा स्वतंत्र शिक्षण कार्य करते थे। वाराणसी की कीर्ति का प्रसार शनैः शनैः समूचे भारत वर्ष में होने लगा, तथा

---

4 जातक न0– 522

5 जातक न0 150 तक्कसिलं गत्वा सब्बसिप्पाणि उग्गह्नित्वा वाराणासियं दिसापामोक्खो आचारियो हुत्वा पंचमाणवकसतानि सिप्पं वाचेति।

विभिन्न प्रदेशों से विद्वान एवं दार्शनिक अपनी सामर्थ्य सिद्वि के लिये वाराणसी आते थे, शंकराचार्य इसी कम के महत्वपूर्ण उदाहरण थे।

मध्यकाल में वाराणसी ने धर्मशास्त्र, व्याकरण, काव्य, तर्कशास्त्र एवं दर्शन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया था। कहा जाता है कि वाराणसी में इन विषयों पर किये गये कार्य अन्य पांच शिक्षा केन्द्रों के समान हैं।

नालन्दा

पटना शहर से पचपन मील दक्षिण–पूर्व में स्थित नालन्दा बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यही वह स्थान है जहां बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्त का जन्म एवं निधन हुआ था। कहा जाता है यहीं अशोक ने एक मंदिर का निर्माण करवाया था। फा–ह्यान जो चार सौ दस ईस्वी में यहां आया था उसने यहां के शैक्षिक महत्व का उल्लेख नहीं किया इसलिये यह कहा जा सकता है कि नालन्दा का शैक्षिक केन्द्र के रुप में प्रतिष्ठापन 450 ई0 के पश्चात हुआ होगा। शीध्र ही गुप्तों के संरक्षण में शैक्षिक परिदृश्य में इसका संवर्धन हुआ। कुमारगुप्त I द्वारा नालन्दा में एक मठ की आधरशिला रखी गई, जिससे इसे उच्चस्थ स्थान प्राप्त करने में सहायता मिली। इसके पश्चात तथागतगुन्त (जिनका सही नाम प्रकाश में नहीं आया है), नरसिहंगुप्त बालादित्य (468 – 472 ई0) तथा बुधगुप्त ने भी एक–एक मठ का निर्माण करवाया था। बुधगुप्त का राज्यकाल 475–500 ई0 था। वज्र जो बालादित्य के अज्ञात उतराधिकारी था तथा मध्य भारत के एक अज्ञात राजा ने भी एक–एक मठ का निर्माण करवाया। मठ व मंदिर निर्माण का यही कम ग्यारहवीं सदी तक चलता रहा।

नालन्दा में छात्र विशेष रुप से छात्रा वास हेतु बनाये गये मठों में रहते थे। ऐसे ही तेरह मठ प्रकाश में आये हैं तथा संस्था अधिक होने के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। मठ कम से म द्वितलीय होते थे तथा प्रत्येक कक्ष एक अथवा द्विवासीय होता था। कक्ष में अध्ययन सम्बन्धी सुविधायें होती थीं। परिसर में कुएं की व्यवस्था रहती थी। मठ में कक्षों का वितरण छात्र की वरिष्ठता एवं योग्यता पर निर्भर होता था। नालन्दा को दो–सौ गांवों की भेट प्राप्त होती थी।[1] जिसके द्वारा छात्रों को निःशुल्क रहन–सहन की व्यवस्था की जाती थी।

650ई0 में इत्सिंग के नालन्दा प्रवास के समय तीन हजार से अधिक छात्र वहां आवासित थे।[2]

यूवान च्वांग के अनुसार सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में वहां छात्रों की संख्या दस हजार थी।[3]

---

[1] 1 इत्सिंग

[2] इत्सिग पृ0 – 154

परन्तु इस संख्या की प्रतोति वास्तविक नहीं होती। फिर भी यह संख्या सातवीं सदी के मध्य तक पांच हजार के आस--पास रही होगी।

यूवान च्वांग के अनुसार वहां सहस्त्रों छात्र थे तथा सभी विद्वता एवं स्वाध्याय के महारथी उनमें सैकड़ों अत्यधिक प्रसिद्व थे एवं विद्यालयीय शासन, प्रशासन व अनुशासन कें प्रति सचेत और सजग भी। अध्ययन, वाद–विवाद तथा शास्त्रार्थ दिवा –रात्रि की भावना थी। यहां पढ़े हुए छात्रों को देश –विदेश में सम्मान प्राप्त होता था। विद्यालय के प्रसिद्व छात्रों एवं विद्वानों के नाम (जो विद्यालय से पृथक हो गये थे) मुख्य द्वार पर लिखे गये थे।[1]

नालन्दा में प्रवेश हेतु विशाल संख्या में छात्रएकत्रित होते थे। इनका आगमन न सिर्फ सम्पूर्ण भारत से अपितु सुदूर विदेशों से भी होता था। फा–ह्यान , चूवान च्वांग तथा इत्सिंग के अतिरिक्त थॉन मी, थाउ ही , ह्यूनी, आर्यवर्मन, बुध धर्म , ताउ सिगं , तांग तथा हुई लू चीन एवं कोरिया जैसे सुदूर देशों से आये यात्री थे। ऐसे में नालन्दा में प्रवेश स्तर उच्च रहा होगा , खासकर अन्य स्थानों की अपेक्षा।

नालन्दा के शैक्षिक स्तर के अतिरिक्त वहां का पुस्तकालय भी आकर्षण केन्द्र था। इस विशाल पुस्तकालय का उपयोग सैकड़ों आचार्य एवं सहस्त्रों छात्र करते थे। चीनी विद्यार्थी यहां वास्तविक बौद्व ग्रन्थों के अध्ययन एवं पुर्नलेखन हेतु यहां आते थे। पुस्तकालय तीन विशाल भवनों में विभक्त था जिन्हें रत्न सागर, रत्नदोधी तथा रत्नरंजक कहा जाता था।[2]

नालन्दा में एक हजार शिक्षक छात्रों को जिनकी संख्या नौ हजारसे अधिक नहीं थी पढ़ाते थे, इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक शिक्षक अधिक से अधिक नौ छात्रों को पढ़ाते थे तथा व्यक्तिगत रुप से प्रत्येक छात्र पर ध्यान देते थे। इस प्रकार उनकी शिक्षण क्षमता भी उन्नत होती थी।

नालन्दा बौद्व धर्म की महायान शाखा का प्रतिनिधित्व करता था परन्तु यहां हीनयान की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके लिये पाली भाषा जिसमें आधिकतर हीनयान का कार्य हुआ है की शिक्षा भी प्रदान की जाती रही होगी। महायान के महान विद्वान नागार्जुन, वासुबन्धु तथा असरिग के कार्यों की भी शिक्षा दी जाती थी। परन्तु हिंदू शिक्षा का निषेध नहीं किया जाता था। व्याकरण, तर्कशास्त्र तथा साहित्य का अध्यायन हिंदू एवं बौद्व दोनों को समान रुप से किया जाता था। बौद्व एवं हिंदू धर्मों का सामंजस्य एव

---

3 यूवान च्वाग पृ0 – 165

1 इत्सिंग पृ0 – 176

2 विद्याभूषण भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास पृ0 516

अर्न्तसम्बन्ध इनके अध्ययन को समेकितकरता है। इसलिये इन्हें पृथक करके अध्ययन करना संभव नहीं है अतः वहां दोनों ही धर्मों का शिक्षण किया जाता था। बौद्ध साहित्य के अनुसार वहां तीनों वेद, वेदान्त, सांख्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, पुराण, खगोलशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन–अध्यापन भी किया जाता था।[3]

नालन्दा जैसे विशाल विद्यालय के रख–रखाव के लिये अत्यधिक धन की आवश्यकता पढती थी। इसके निर्मित विद्यालय प्रशासन को कई राजाओं से दान,अनुदान प्राप्त होता था। इत्सिगं के अनुसार नालन्दा को दो सौ गावों की आय प्राप्त होती थी।

वलभी

काठियावाड़ में आधुनिक वला के निकट स्थित वलभि राज्य की राजधानी के साथ–साथ अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का मुख्य केन्द्र भी था। इत्सिंग के अनुसार सातवीं सदी में यह प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। सातवीं सदी के मध्य में यहां एक सौ बौद्ध मठ थे तथा छः हजार भिक्षु विद्यार्थी थे। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों में स्थिरमती एवं गुणमती प्रमुख हैं। नालन्दा की भांति वलभी भी मात्र बौद्ध शिक्षण संस्थान नहीं था। यहां हिंदू धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी तथा दूरस्थ गंगातट के ब्राह्मण भी अपने पाल्यों को वहां विद्यालय हेतु भेजते थे।[1] वलभी के स्नातक प्रशासनिक सेवायें भी करते थे।[2] नालन्दा की ही भांति यहां भी प्रसिद्ध विद्वानों के नाम मुख्यद्वार पर अकिंत किये जाते थे।

वलभी नगर आर्थिक रुप से समृद्वशाली था। विश्वविद्यालय को सहयोग एवं अनुदान समाज के धनाढय वर्ग से प्राप्त होता था। 480–775 के काल में मैत्रिक राजाओ द्वारा शासित वलभी को इनसे पर्याप्त समर्थन एवं संरक्षण प्राप्त हुआ। इसी वजह से वहां समृद्ध पुस्तकालय भी था।[3] विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी राजकीय सेवाओं के अतिरिक्त विश्वविद्यालय में शिक्षक भी नियुक्त होते थे।[4] बारहवीं सदी तक वलभी उच्च शिक्षा का उच्चस्थ केन्द्र था तथा यहां बंगाल जैसे दूरस्थ प्रदेश से भी छात्र अध्यपन हेतु आते थे।

विकम शिला

---

3 महावग्ग अध्याय VI

1 कथा सरित सागर अध्याय XXXII 42-43
अन्तर्वेद्यामभूत्पर्व बसुदन्त इति द्विजः।
विष्णुदन्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योपपद्यत।।
स विष्णोदन्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः।
गंतुप्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीपुरम्।।

2 इत्सिग पृ0 – 177

3 इण्डियन एन्टीक्यूटी सद्वर्मस्य पुस्तकोपचयार्थम

4 पुराकिल वलभी नाम अध्ययनशाला आसीत

राजा धर्मपाल द्वारा स्थापित विकमशिला अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति का बौद्ध शिक्षा केन्द्र था, राजा धर्मपाल ने यहां कई मंदिरों एवं मठों का निर्माण करवाया था तथा शिक्षा की महत्ता को स्थापित किया। उनके उत्तराधिकारियों ने भी इसे संरक्षण, सहयोग व संवर्धन प्रदान किया तथा बारहवीं सदी तक यह मुख्य शिक्षण स्थान रहा। यहा के विद्वान अद्वितीय मेधा एवं ज्ञान से सम्पन्न थे तथा उनके द्वारा हीविकमशिला का कीर्ति ध्वज दूरस्थ हिमालय के प्रदेशो तक पहुचाया जा सका। तिब्बत से इसका धनिष्ठ सम्बन्ध था एवं तिब्बतीय छात्रों के लिये यहां विशेष अतिथि आवास की व्यवस्था थी। तिब्बतीय स्रोतों के अनुसार वि॰ 'शिला में बुद्ध, ज्ञानपद, बैरोचण, रक्षित, जेतरी रत्नाकर–सन्ति, ज्ञान–श्री--मित्र, रत्नवज्र, अभयंकर गुप्त, तथागत–रक्षित तथा अन्य कई विद्वानों ने नाना संस्कृत ग्रंथों की रचना, जिसमें से अधिकतर का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। विद्वानों मे दीपांकर श्री ज्ञान का नाम विशेष उल्लेखनीय है, ये ग्यारहवीं सदी के विद्वान थे तथा इन्हें उपाध्याय अतिस के नाम से भी जाना जाता था। ये तिब्बत के राजा चान चुब द्वारा आमंत्रित एवं सम्मानित किये गये। इन्होंने यहां बौद्ध धर्म के प्रसार में भी अमूल्य योगदान दिया था।

यहां तीन हजार छात्र विद्याध्ययन् हेतु निवास करते थे तथा यहां प्रवेश प्रकिया दुर्गम थी। प्रवेशार्थी विद्यार्थी को छः द्वार पंडितों से शास्त्रर्थ करना होता था। ये द्वार पंडित निम्न थे।

पूर्वी द्वार – आचार्य रत्नाकर–सन्ति

पश्चिमी द्वार – वाराणसी के वागीस्वर कीर्ति

उतरी द्वार – नरोप

दक्षिणी द्वार – प्रयंकर –मति

प्रथम केन्द्रीय द्वार – कश्मीर के रत्न वज्र

द्वितीय केन्द्रीय द्वार – गौड़ के ज्ञान–श्री–मित्र।[1]

विकमशिला में व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा, तंत्र एवं परम्पराओं की शिक्षा दी जाती थी। यहां का पाठ्यकम नालान्दा की भांति वृहद नहीं था परन्तु इसका व्यवस्थापन अत्यंत उच्च कोटि का था। विद्यार्थियों को उपाधि एवं प्रशस्ति प्रदान की जाती थी। तिब्बती स्रोतों के अनुसार जेतरी एवं रत्नवज्र को राजा महीपाल द्वारा उपाधियां वितरित की गई थी। विकमशिला के अत्यंत उच्च कोटि के विद्वानों का चित्र केन्द्रीय कक्ष में लगाकर उन्हें सम्मानित किया जाता था। यह सम्मान अतिस एवं नागाजुर्न को प्राप्त हुआ था।

अन्य बौद्ध शिक्षा केन्द्र

---

1 विद्याभूषण–भारत का इतिहास

यूवान च्वांग के द्वारा कई अन्य शिक्षा केन्द्रों का पता चलता है। कश्मीर में जयेन्द्र, पंजाब में चिनपति एवं जालंधर, बिजनौर उतर प्रदेश में मतिपुर, कन्नौज में भद्र, आंध्र प्रदेश में अमराबती शिक्षा के उल्लेखनीय स्थान था। इनमें से कई मठों मे यूवान च्वांग ने कई वर्ष व्यतीत किये थे। इन्होंने जब भारत मात्रा की थी उस समय बौद्ध धर्म का प्रसार अपने अवनति काल में था। परन्तु बिहार एवं बंगाल में बौद्ध धर्म का प्रसार बारहवीं सदी तक चलता रहा। ओदनपुरी एवं अन्यत्र शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कश्मीर – कश्मीर बौद्ध एवं हिंदू दोनों ही परम्पराओं का प्रमुख शिक्षण केन्द्र था। कश्मीर के शासकों जैसे राजा ललितादित्य, रानी जयमती, राजा यशस्कर, रानी दिद्दी , राजा अनन्त इत्यादि ने सैकड़ों मठों एवं बिहारों को शरण दी एवं उनका संवर्धन किया। ऐसे भी उल्लेख प्राप्त होते हैं कि राजनैतिक युद्ध के कारण यह शासकों की शरणस्थली भी बन जाते थे। जयेन्द्र बिहार जहां यूवान च्वांग ने एक वर्ष तक अध्ययन किया था राजा क्षेमगुप्त द्वारा नष्ट कर किया गया क्योंकि वहां उनके शत्रु राजा दगर संग्राम ने शरण ली थी।

जब मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रसार हो रहा था उस समय शिक्षण जगत में कश्मीर का मुख्य स्थान था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान कुमार जीव ने खोतान से कश्मीर तक शैक्षणिक यात्रा की थी। चीनी विद्वान ओ कॉग ने हुष्कपुर के मुक्तिपद बिहार में शिक्षाटन हेतु प्रवास किया था। साथ ही यहां के महान विद्वान एवं वक्ता अन्यत्र शिक्षा के प्रसार हेतु जाते थे, इनमें सर्वप्रमुख नाम गुणवर्मन का था, जिन्होंने सिलोना होते हुये जावा की यात्रा की। यहीं इन्हें चीनी शासक का आमंत्रण प्राप्त हुआ तथा वे वहां गये। उन्होंने ही चीन में चीनी महिलाओं को भिक्षुणी बनाने का कार्य आरम्भ किया था।

सलोत्गी मंदिर विद्यालय

सलोत्गी ग्राम महाराष्ट्र के बीजापुर जिले में स्थित है। यह दसवीं एवं ग्यारहवीं सदी में वेदाध्ययन का मुख्य केन्द्र था। विद्यालय त्रयीपुरुष मंदिर जिसका निर्माण नारायण जो राष्ट्रकूट शासक कृष्ण तृतीय के मंत्री थे ने करवाया था, के बगल में अवस्थित था। इस प्रख्यात विद्यालय की गरिमानुकूल ही छात्र देश के विभिन्न अंचलों से यहां विद्याध्ययन हेतु आते थे। विद्यार्थीयें की संख्या तो अज्ञात है परन्तु छात्रों के लिये सताइस आवास थे। इसके परिसर का विस्तार बारह निवर्तन (लगभग साठ एकड़) था।[1] वहां विद्यार्थियों के

---

[1] इलियट इतिहास IV –पृ0–60 नारायणो भिधानेन नारायण इवापरः।
प्रधान. कृष्णराजस्य मंत्री ससधिविग्रहे।।
तेनेयं कारिता शाला क्षीविशाला मनोरमा।
अत्र विद्यार्थिन· संति नानाजनपदोद्भवाः।।

निःशुल्क प्रवास की व्यवस्था इसके लिये विद्यालय को पांच सौ निवर्तन की भेंट प्राप्त होती थी। लगभग दो सौ छात्र निःशुल्क विद्याध्ययन एवं प्रवास करते थे। प्रधानाचार्य को वेतन के रुप में पचास निवर्तन की भेंट प्राप्त होती थी।

विद्यालय की आर्थिक आवश्यकताओं के लिये ग्रामवासी भी अपना योगदान देते थे। प्रत्येक विवाह में पांच रुपयें, उवनयन में ढ़ाई रुपये तथा यज्ञोपवीत में सवा रुपये विद्यालय को दान किये जाते थे। प्रत्येक आयोजनकर्ता अधिकाधिक शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को आमांत्रित करने का प्रयास करता था।

एण्णियरम मंदिर विद्यालय

अरकोट जिले में स्थित एण्णियरम ग्यारहवीं सदी में दक्षिण का महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था। आधुनिक युग की ही भांति सोलह अध्यापकों का एक समूह जो पूर्व निर्धारित पाठ्यकम के अनुसार अध्यापन करते थे। स्थानीय ग्रामों ने विद्यालय के लिये तीन सौ एकड़ भूमि की व्यवस्था की थी जिसके द्वारा विद्यालय तीन सौ चालीस छात्रों को निःशुल्क अध्ययन एवं प्रवास की व्यवस्था की जाती थी। प्रवेश प्रकिया में विभिन्न विषयों के लिये सीमित स्थानों हेतु छात्रों को चयनित किया जाता था। ऋग्वेद एवं कृष्ण यजुर्वेद के लिये पचह्त्तर स्थान थे, सामवेद हेतु चालीस, श्वेत यजुर्वेद हेतु बीस , अथर्ववेद, बौधायन, धर्मसूत्र तथा वेदान्त प्रत्येक के लिये दस –दस, व्याकरण के लिये बीस स्थान, मीमांस हेतु पैंतीस तथा रुपवत्र के लिये चालीस छात्रों का चयन होता था।

ऋग्वेद एवं कृष्ण यजुर्वेद के अध्यापन हेतु तीन अध्यापक नियुक्त होते थे। कुल तीन सौ चालीस छात्रों के लिये सोलह छात्रों का प्रावधन था। अर्थात प्रति बाईस विद्यार्थियों के ऊपर एक अध्यापक थे, जिससे वे सरलता से उनकी देखरेख कर सकते थे।

इसके बारे में कुछ अनूठे तथ्य प्रकाश में आते हैं। यहां प्रत्येक वैदिक छात्र को एक सेर चावल, तथा प्रति वर्ष एक बटे आठ तोला सोना प्रदान किया जाता था। यह सोना छात्र को वस्त्रादि के लिये दिया जाता था। व्याकरण तथा दर्शन के छात्रों के लिये यह अनुदान छांछठ प्रतिशत अधिक थे। परन्तु इस पृथक व्यवस्था का कारण ज्ञात नहीं होता।

शालविद्यार्थिसंधाय दन्तवान्भूमिमुत्तमाम।
मान्या निवर्तनाना तु पंचमिश्च शतैर्मिताम्।।
निवर्तनानि दीपार्थ मान्यानि द्वादशैव च ।
पच पुष्पाणि देयानि विवाहं सति तज्जनैः।
देये तथोपनयने विवाहे यत्पुरोहितम्।।
केनचित्कारणेनेह कर्तव्ये विप्रभोजने ।
भोजयेन्तु यथाशक्ति परिषत्परिषज्जनम्।।

अध्यापकों को वेतन के रुप में प्रतिदिन सोलह सेर चावल प्राप्त होता था, जो कि पांच सदस्यीय परिवार की आवश्यकताओं का तीन गुना अधिक था। दर्शन के अध्यापकों को बास सेर चावन दिया जाता था।

विरुमुकुदल मंदिर विद्यालय

ग्यारहवीं शताब्दी में वेंकटेश पेरुमल मंदिर जो तिरुमुकुदल जिला चिगंलपुट में स्थित था , अनूठा शिक्षण संस्थान था जिसके द्वारा विद्यालय, छात्रावास तथा चिकित्सालय प्रशासित किये जाते थे। एण्णियरम की तुलना में यह छोटा था , यहां साठ छात्रों को निःशुल्क विद्याध्ययन एवं प्रवास की व्यवस्था थी। जिसमें से दस स्थान ऋग्वेद, दस यजुर्वेद, बीस व्याकरण, दस पंच रत्र पद्धति , तीन सैवागम तथा सात स्थान वानप्रस्थ एवं सन्यासियों के लिये आरक्षित थे। प्रत्येक छात्र को प्रत्येक शनिवार स्नान के लिये तेल दिया जाता था।

वैदिक अध्यापकों को मात्र तीन सेर चावल प्रतिदिन दिया जाता था। वैदिक अध्यापक नियमित नहीं होते थे अतः उन्हें मंदिर अस्पताल के सेवकों की भांति मिलता था। व्याकरण के अध्यापक का वेतन आठ सेर था जो एण्णियरम के अध्यापकों का आधा था।

तिरुवरियूर मंदिर विद्यालय

तेरहवीं शताब्दी में चिंगलपुट जिले में व्याकरण का एक विशाल विद्यालय था। विद्यालय स्थानीय शिव मंदिर के विशाल कक्ष में अवस्थित था। मान्यताओं के अनुसार भगवान शिव इस मंदिर में लगातार चौदह दिन अवतरित हुये और उन्होंने पाणिनी को चौदह सत्यों की शिक्षा दी। उसी परम्परा का निर्वहन करते हुये ग्राम समाज ने यहां व्याकरण विद्यालय की स्थापना की एवं उसका रख–रखाव किया। तिरुवरियूर विद्यालय को चार सौ एकड़ भूमि की भेंट प्राप्त होती थी तथा लगभग साढ़े चार सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते रहे होंगे, तथा अध्यापकों की संख्या बीस से पचीस के मध्य होगी। विद्यालय के प्रबन्धन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

मलकापुर मंदिर विद्यालय

मलकापुर में मंदिर, विद्यालय, छात्रावास एवं चिकित्सालय का सामूहिक चित्र प्रस्तुत करता है। विद्यालय में आठ अध्यापक थे, चार वेद एवं अगम के लिये तथा चार व्याकरण, साहित्य एवं तर्क शास्त्र हेतु। दक्षिण भारतीय विद्यालयों में हमने देखा है कि औसतः बीस विद्यार्थी एक शिक्षक के अधीन होते थे यहां भी संभवतः डेढ़ सौ छात्र रहे होगें जिन्हें निःशुल्क शिक्षा, आवास एवं औषधि प्रदान किया जाता रहा होगा। चिकित्सक के अधीन था।

वेतन के रुप में प्रत्येक अध्यापक को दो पट्टी भूमि प्रदान की जाती थी काष्ठकार तथा अन्य व्यवसायिक कारीगरों को एक पट्टी भूमि दी जाती थी। प्रधानाध्यापक को पांच सौ निष्क मिलता था जिसका मूल्यांकन करना कठिन है।

दक्षिण भारत के अन्य मंदिर विद्यालय – धारवाड़ जिले में स्थित हब्बल में भुजब्बेस्वर मंदिर में एक मठ था जिसे दो सौ एकड़ भूमि की भेंट दो सौ छात्रों को निःशुल्क शिक्षा तथा छात्रावास प्रदान करने के लिये मिलती थी।

नगाई में एक बडा मंदिर विद्यालय था जिसमें दो सौ छात्र वेद, दो सौ स्मृति, सौ नीतिशास्त्र तथा बावन दर्शन का अध्ययन करते थे। इसके पुस्तकालय मे छ पुस्तकालयाध्यक्ष थे।

बीजपुर के विशाल मंदिर में बारह सौ एकड़ भूमि की भेंट प्राप्त होती थी, जिससे योगेश्वर पंडित जो निःशुल्क मीमांसा विद्यालय का संरक्षण करते थे छात्रों एवं संन्यासियों के भोजन एवं आवास का प्रबन्ध करते थे। बीजापुर में ही मनगोली में स्थान कौमार व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी तथा इसे बीस एकड़ भूमि की भेंट प्राप्त होती थी।

कर्नाटक के बेलगाम में दक्षिणेश्वर मंदिर में भी छात्रों के लिये अध्ययन एवं आवास की निःशुल्क व्यवस्था था। सिमोगा नगर के तलगंड स्थान पर प्राणेश्वर मंदिर में एक छोटा संस्कृत विद्यालय था जहां अंड़तालीस छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। यहां पढ़ाये जाने वाले विषयों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, प्रभाकर, मीमांसा वेदान्त तथा भाषाशास्त्र थे।

तंजौर जिले में पन्नवमिल में एक व्याकरण का विद्यालय था, जो एक स्थानीय मंदिर के बगल में था। इसे चार सौ एकड भूमि की भेंट प्राप्त होती थी एण्णियिरम से विशाल होने के कारण यहां पांच सौ की निःशुल्क शिक्षा दी जाती रही होगी।

उत्तर भारत के मंदिर विद्यालय – उत्तर भारत के अधिकांश मंदिर मध्यकाल के आकमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गये। यदि ऐसा न होता तो निश्चित रुप से उत्तर भारतीय मंदिरों की शैक्षिक उपयोगिता पर प्रकाश पढ़ सकता था। सिंध, मुल्तान, बनारस आदि के ब्राह्मण स्वतः स्वतंत्र रुप से शिक्षा प्रदान करते थे।

अग्रहार ग्राम

प्राचीन काल में पवित्र पर्वो एवं आयोजनों के अवसर पर राजा विद्वान ब्राह्मणों को आमंत्रित करते थे तथा उन्हें ग्रामों में अवस्थित करते थे एवं कर के रुप में उनके जीवकोपार्जन की व्यवस्था भी। ऐसे ग्राम स्वतः शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे तथा उन विद्वानों द्वारा संस्कृत की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। ऐसे ग्रामों को अग्रहार ग्राम कहा जाता था।

कदियूर अग्रहार— कदियूर जिसे आज कलस के नाम से जाना जाता है, यह कर्नाटक राज्य के धारवाड जिले मे स्थित है। इसे राष्ट्रकूट प्रशासन द्वारा दसवीं शताब्दी में अग्रहार ग्राम बनाया गया था। यहां दो सौ ब्राह्मणों को जो वेद, व्याकरण, पुराण, तर्कशास्त्र, राजनीति विज्ञान, साहित्य तथा लेखन के उच्च कोटि के विद्वान थे। यह ग्राम अपनी शैक्षणिक क्षमताओं के कारण प्रसिद्ध था तथा यहां के ब्राह्मण इसकी इस गरिमा के अभिमानी भी थे। यहां ब्राह्मण वेदों के अतिरिक्त उपरोक्त विषयो का अध्ययन–अध्यापन करते थे। शिक्षकों के वेतन के लिये भेंट भी प्राप्त होती थी। गांव में एक भोजनावास भी था, जहा निःशुल्क भोजन की व्यवस्था थी, ऐसा निर्धन विद्यार्थियो के लिये था।

सर्वजनपुर अग्रहार— आधुनिक अरिस्कर जिला हसन, मैसूर में स्थित यह दूसरा अग्रहार ग्राम था तथा एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र भी। एक साक्ष्य के अनुसार यहां के शैक्षिक कार्यों का पता चलता है ' कुछ मार्गों पर ब्राह्मण वेदों, शास्त्रों तथा वेदो के छः अगों का अध्ययन करते हैं। ब्राह्मणों का प्रत्येक समूह या तो वेदाध्ययन करता था, या उच्च विज्ञान का श्रवण या अनवरत वाद–विवाद तथा काव्य की रचना करते थे। सर्वजनपुर के सभी ब्राह्मण अध्ययन–अध्यापन को समर्पित थे।[1]

नियमानुसार अग्रहारों में प्रत्येक निःशुल्क संस्कृत की सभी शाखाओं की शिक्षा देते थे तथा राज्य उनके जीवनयापन की व्यवस्था करता था। प्रायः ग्राम जो अग्रहार नहीं होते थे। पांडिचेरी से पंद्रह मील दक्षिण में स्थित बहुर ग्राम ऐसा ही एक उदाहरण है। इसे कई ग्रामों से भेंट एवं अनुदान प्राप्त होता था क्योकि देश भर से आये पंडित एवं विद्वान वास करते थे। अग्रहार ग्राम में मंदिर विद्यालय तथा मठों की संख्या बहुतायत में थी।[2]

पाठ्यकम

चार वेद – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

छः अंग – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।

दस ग्रन्थ – एक वेद, उसका ब्राह्मण, आरण्यक, निगन्तु, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।

चौदह विद्यायें – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांस, तर्क।

---

1 इपीग्राफिया कर्नाटिका V पृ0 144

2 केरलभरणम एतेषु किलाग्रहारेषु केचिज्जपन्ति। अपरं पाठयन्ति। केचित्पठन्ति। अन्ये तत्वविद्यामुपदिशन्ति। इतरे अध्यापयन्ति। पश्य पश्य।

अठारह शिल्प – गायन, वादन, नृत्य, गणित, लेखांकन, अभियंत्रण, मूर्ति कला, कृषि, पशु–पालन, वाणिज्य, विधि, प्रशासनिक प्रशिक्षण, धनुर्निज्ञान व सैन्य विज्ञान, जादू, सर्प पालन, तथा अज्ञात खजानों की खोज।

चौंसठ कलायें–

(1) गीतम (2) वाद्यम (3) नृत्यम् (4) आलेख्यम (5) विशेषकच्छेषम (6) तण्डुलकुसुमवलिविकारा (7) पुष्पास्तरणम (8) दशनवसनागराग (9)मणिभूमिका कर्म (10) शयनचरनम् (11) उदकवाद्यम (12) उदकाघातः (13) चित्राश्च योगाः (14) माल्यग्रथनविकल्पाः (15) शेखरकापीडयोजनम् (16) नेपथ्यप्रयोगा (17) कर्णपत्रभंगाः (18) गंधयुक्तिः (19) भूषण योजनम (20) ऐन्द्रजालाः (21) कौचुमाराश्च योगा (22) हस्तलाघवम (23) विचित्रशाकयूपभक्ष्य विकार किया (24) पानकरसरागासवयोजनम् (25) सूचीवानकर्माणि (26) सूत्रकीड़ा (27) वीणाडमरूकवाद्यानि (28) प्रहेलिका (29) प्रतिमाला (30) दुर्वाचकयोगाः (31) पुस्तकवाचनम (32) नाटकाख्यायिका दर्शनम (33) काव्यसमस्यापूरणम (34) पट्टिकावेत्रवानविकल्पः (35) तक्षकर्माणि (36) तक्षणम (37) वास्तुविद्या (38) रूप्यरत्नपरीक्षा (39) धातुवाद (40) मणिरागाकरज्ञानम (41) वृक्षायुर्वेयोगा (42) मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (43) शुकसरिकाप्रलापनम् (44) उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम (45) अक्षरमुष्टिकाकथनम (46) म्लेच्छितविकल्पाः (47) देशभाषाविज्ञानम (48) पुष्पशटिका (49) निमित्तज्ञानम् (50) यंत्रमातृका (51) धारणामातृका (52) सम्पाट्यम् (53) मानसोकाव्यकियाः (54) अभिधानकोशः (55) छांदोज्ञानम (56) कियाकल्पः (57) छलितकयोगाः (58) वस्त्रगोपनानि (59) द्यूतविशेषः (60) आकर्षकीडा (61) बालकीडनकानि (62) वैनयिकानां (63) वैजायिकाना व्यायामिकानां (64) विद्यानांज्ञानम्

तीर्थ यात्रायें

तीर्थ की अवधारणा, उद्भव, और विकास

यह विवाद का विषय हो सकता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में तीर्थों का अविर्भाव पहले हुआ या मान्य ग्रन्थों का परन्तु पठनीय लिखित सामग्री के प्रथम स्रोत से ही हमें तीर्थ शब्द की प्रयुक्ति मिलने लगती है।

ऋग्वेद और अन्य वैदिक संहिताओं में तीर्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की कई संहिताओ मे तीर्थ शब्द ऐसा लगता है कि मार्ग के अर्थ में आया है[1]।

कुछ स्थानों पर इसका अर्थ नदी का सुतार है[2], दूसरे शब्दो में उथला स्थान है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर तीर्थ शब्द का अर्थ एक पवित्र स्थान के रुप में किया गया है[3]।

[4]ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि सुवास्तु एक नदी है और तुग्वन का अर्थ पवित्र स्थल के रुप में किया गया है।

[5]तैत्तरीय संहिता में कहा गया है यजमान को तीर्थ पर स्नान करना चाहिये।

[6]तैत्तरीय संहिता और वाजसनेयी संहिता में रुद्रों के बारे में लिखा है कि वे तीर्थ में विचरण करते रहते हैं।

[7]शॉख्खायन ब्राहाण में कहा गया है कि रात और दिन समुद्र की तरह हैं जो सबको समाहित कर लेते हैं और संध्याएँ अगाध तीर्थ हैं।

[8]यज्ञिक स्थल सें आने–जाने के लिए 'उत्कर' और 'चात्वाल' के बीच में जो पड़ता है उस स्थल को भी तीर्थ कहते हैं।

---

1 ऋग्वेद ; 1/169/ –6 – तीर्थ नार्यः पौस्यानि तस्थु
ऋग्वेद 1/173/11 – तीर्थ नाच्छा तातृषाणमोको
ऋग्वेद 4/29/3 – 'करन्न इन्द्र सुतीर्थाभय च ,
2 ऋग्वेद 8/47/11 – 'सुतीर्थमर्वतो यथानु नो नेत्रथा सुगम्'
ऋग्वेद 1/46/8 – ' अरित्र वा दिवस्पृथु तीर्थ सिन्धुनां रथ'
3 ऋग्वेद 10/31/3 – ' तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमा'
4 ऋग्वेद 8/19/37 ' सुवास्तवा अधितुग्वानि'
5 तैत्तरीय संहिता 6/1/1/12 – अत्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरून्धे तीर्थ स्नाति।
तैत्तिरीय संहिता 6/1/1/1–2
जैमिनीय ~~तैन्तरीय~~ संहिता 3/4/14–16
6 तैन्तरीय संहिता 4/5/11/1–2, वाजसनेयि संहिता
7 शॉम्खायन ब्राहाण 2/9 – समुद्रो वा एष सर्वहारो यदहोरात्रे
तस्य हैते अगाधे तीर्थ यतसन्ध्ये
तद्यथा अगाधाम्यां तीर्थाम्यां समुद्र मतीयान्तादृक तत्।
8 शॉख्खायन ब्राहाण 18/9 – ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्कामन्ति तदि यज्ञस्य तीर्थमाम्नांन नाम।

यद्यपि तीर्थो की कोई महत्वपूर्ण स्थिति सूत्रो और मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य जैसी प्राचीन स्मृतियों में नहीं दर्शायी गयी है, लेकिन महाभारत और पुराणों में उनकी महिमा गायी गयी है और उन्हें यज्ञों से बढ़कर माना गया है।

[1]आरण्यक पर्व में देवयज्ञों एवं तीर्थ यात्राओं की तुलना की गयी है और तीर्थ यात्रा द्वारा जो पुण्य प्राप्त होते हैं वे अग्निष्टोम जैसे यज्ञों द्वारा जिनमें पुरोहितो को अधिक दक्षिणा देनी पड़ती है, प्राप्त नहीं हो सकते, इसीलिए तीर्थयात्रा यज्ञों से उत्तम हैं। इस बात की पुष्टि अनुशासन पर्व[2] [3]मत्स्य पुराण, पद्म पुराण[4], और [5]विष्णुधर्मोत्तर पुराणों से भी होती है।

तीर्थ का अर्थ है 'तरति इति तीर्थ ' अर्थात जो पार करने वाला हो । पार करने वाले स्थान को तीर्थ कहते हैं। अर्थात ऐसे पवित्र स्थल जहां जाने, निवास करने अथवा जिनके सेवन करने से मनुष्य को आनन्द की अनुभूति हो तथा सांसरिक बाधाओं से उसे दूर होने का आत्मिक संतोष प्राप्त हो उसे तीर्थ कहेगे। प्राचीन मनीषियों ने पर्वतों, वनों,नदियों, जलाशयों एवं रमणीक स्थलों को तीर्थ के रुप में पवित्र माना है। तीर्थ का अर्थ है वह स्थल या नदी, प्रपात जलाशय जो अपने विलक्षण स्वरुप के कारण पुण्य की भावना को जाग्रत करता है इसके लिये किसी विशेष परिस्थिति का होना आवश्यक नहीं । महाभारत के अनुशासन[6] पर्व,

---

1 महाभारतः आरण्यक पर्व 82/13 – 17
ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः।।
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहुपकरणा यज्ञा नाना सम्भार विस्तराः।।
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ।।
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तु नरेश्वर
तुल्यो यज्ञ फलैः पुण्यैरत निबोध युद्यावंर।।
ऋषीणा परमं गुहमिदं भरत सत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।।

2 तुलनीय अनुशासन पर्व, 107/2 –4,

3 मत्स्य पुराण 112/12–15,

4 पद्म पुराण, अदिखण्ड, 11/14/17 और 49/12–15,

5 विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3/273/4–5
" अवंगणैः तक्षादि सहाय रहितैः, यज्ञस्य कुण्ड मण्ड पादि साध्यवात् एकात्मभिः पत्नी रहितैः, असंहतै ऋत्विगदि संद्यात रहितैः।"

6 यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृता।
तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृता।
प्रभावा दद्भुताद् भूमेः सलिल लस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।।

पद्म पुराण[1], स्कन्द पुराण[2], नारदीय पुराण[3], कृत्य कल्प तरु और[4] तीर्थ प्रकाश[5] में भी तीर्थों के बारे में यही कहा गया है।

कुछ ऐसे स्थल जिन्हें मुनियो ने परम पुनीत एवं रम्य बताया है, उन्हे भी तीर्थ की संज्ञा दी गयी है।

अनुशासन पर्व[6] में कहा गया है जो मनुष्य जल से स्नान करता है केवल उसी से उसको स्नान किया हुआ नहीं कहा जा सकता जो मनुष्य इन्दिय संयम से सिक्त है, पुनीत है, सभी प्रकार के दोषा से मुक्त हैं और कंलक रहित है केवल वहीं स्नान किया हुआ कहा जा सकता है।

मत्स्य पुराण[7] ने कई तीर्थो की तुलना इस तरह की है सरस्वती का जल तीन दिनों के स्नान से पवित्र करता है, यमुना का सात दिनों में, और गंगा का जल तत्काल पवित्र करता है। लेकिन नर्मदा का जल केवल दर्शन मात्र से ही पवित्र करता है। पद्यम पुराण[8] और अभिलाषा चिन्तामणि[9] में भी ऐसा कहा गया है।

स्कन्द पुराण[10] में उल्लेख है जहां प्राचीन काल में सत् पुरुष पुण्यर्जिन के लिये यात्रा करते थे, वे स्थल तीर्थ हैं। महान पुरुषों के पास जाना मुख्य बात है तीर्थ यात्रा करना गौण है।

स्कन्द पुराण[11] का कथन है कि पुनीत स्थान तीर्थ, यज्ञ एवं तरह–तरह के दान मन की शुद्धि के साधन है। इनसे पाप कटते हैं। स्कन्द पुराण[12] ने विशेष रुप से कहा है कि जिसका शरीर

---

1 पद्म पुराण· उत्तरखण्ड, 237/25 – 27;
2 स्कन्द पुराण · काशीखण्ड, 6/43/–44,
3 नारदीय पुराणः 2/62/46–47
4 कृत्य कल्पतरूः तीर्थ पृष्ठ 7–8
6 तीर्थ प्रकाश, पृष्ठ 10
6 महाभारत, अनुशासन पर्व 108/9
नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः स ब्राह्याभ्यन्तरः शुचिः।।
7 मत्स्य पुराण, 186/11–
त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्।।
8 पद्य पुराण अदिखण्ड 13/7
9 अभिलषितार्थ चिन्तामणि 1/1/130
सरस्वती त्रिभिः स्नानैः पञ्चभिर्यमुनाधहत्।
जाह्ववी स्नान मात्रेण दर्शनेनैव नर्मदा।।
10 स्कन्द पुराण 1/1/13/10
11 स्कन्द पुराण 31/37
12 स्कन्द पुराण काशी खण्ड 6/3
Placement (लगभग 700 से 900 शती के मध्य)

जल से सिक्त है उसे केवल इतने से ही स्नान किया हुआ नहीं कर सकते, जो इन्द्रिय संयम से डूबा हुआ है, जो पुनीत है, सभी प्रकार के दोबो से मुक्त और कंलक रहित है, केवल वही स्नान किया हुआ कहा जा सक्ता है।,

स्कन्द पुराण[1] और पद्य पुराण[2] में उल्लिखित है कि भूमि के तीर्थो के अलावा कुछ ऐसे सदाचार और सुन्दर शील अचार भी हैं जिन्हें मानस कहा गया है। तीर्थ कहा जाता है। विशुद्ध रूप को भी तीर्थो के सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। उनके अनुसार 'सत्य , क्षमा, इन्द्रिय संयम, दया, ऋजुता, दान, आत्मनिग्रह, सन्तोष, ब्रहाचर्य, मृदुवाणी, ज्ञान, धैर्य और तप तीर्थ हैं। लेकिन सबसे ऊँचा तीर्थ मन की शुद्धि है। उसमें यह भी कहा गया है कि जो लोभी, दुष्ट, कूर, प्रवंचक, कपटाचारी विषयासक्त है, ये सभी प्रकार के मनुष्य तीर्थो में स्नान करने के बाद भी पापी और अपवित्र रहते है जैसे कि मछलियां जल में जन्म लेती हैं, और वहीं मर जाती हैं स्वर्ग को नही जाती, क्योकि उनके मन पवित्र नहीं होते यदि मन शुद्ध नहीं है तो दान, यज्ञ, तप, स्वच्छता, तीर्थ यात्रा और विद्या को तीर्थ का पद नहीं मिल सकता।

ब्रह्मपुराण[3] में स्वर्ग, मृत्युलोक एवं पाताल में तीर्थों को चार श्रेणियों में बांटा है —दैव अर्थात देवताओं द्वारा उत्पन्न, आसुर वे तीर्थ जो गय, बलि जैसे असुरों से संबधित हैं जैसे— प्रभास, नर नारायण और मानुष वे तीर्थ हैं जो राजाओं द्वारा निर्मित है जैसे अम्बरीश, मनु, कुरू आदि तीर्थ हैं जिनमें प्रत्येक पूर्ववर्ती तीर्थ अपने अनुवर्ती से उत्तम हैं ।

तीर्थ प्रकाश[4] में ब्रहापुराण में उल्लिखित १२ नदियो अर्थात देवतीर्थो के नाम दिये गये हैं। 'आरुष' का अर्थ है आर्ष तीर्थो की व्याख्या ब्रहपुराण[5] में दी गयी है।

---

[1] स्कन्द पुराण —काशीखण्ड, 6/28 —45.

2 पद्य पुराण — उत्तरखण्ड, 237/11 —28

सत्य तीर्थ क्षमा तीर्थ .... तीर्थो नामुत्तमं तीर्थ विशुद्विर्मनसः पुन.।।
जायन्ते चं भ्रियन्ते च जलेत्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्वमनोमला.।।
दानमिज्या तपः शौयं तीर्थ सेवा श्रुतं तथा।

3 ब्रहापुराण 70/16 —19;

4 तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 18,

चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले।
दैवानि मुनि शार्दूल आसुराण्यारूषणि च।
मानुषाणि त्रिलोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः।

5 ब्रहापुराण 70/33— 40

ब्रहापुराण ने उन नदियो को सबसे अधिक पवित्र माना है जो विन्ध्य के दक्षिण की छ नदियां बहती है और हिमालय से निकलने वाली छ नदियों को देवतीर्थो में सबसे अधिक पवित्र माना है– जैसे– गोदावरी, भीमरथी, तुंगभद्रा, बेणिका, तापी, पयोष्णी भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका और वितस्ता।

इसी तरह से काशी, पुष्कर, और प्रभास देवतीर्थ हैं। ब्रहा पुराण ने दैव, आसुर, भार्व, और मानुष तीर्थो को कम से कृत, त्रेता, द्वापर, और कलि नामक युगों से सरबन्धित माना है।

वायु पुराण[1] अग्नि पुराण[2] और वामन पुराण[3] ने मुक्ति के चार मार्ग बताये हैं। ब्रहाज्ञान, गयाश्राद्ध, छीनकर या भगाकर ले जायी जाती गायों को बचाने में मरण– कुरुश्रेत्र में निवास । जो कुरुश्रेत्र में मर जाते हैं वे दुबारा पृथ्वी पर लौटकर नहीं आते।

वामन पुराण[4] ने एक सुन्दर रुपक में कहा है कि – आत्मा संयम रुपी जल से पूर्ण नदी है, जो सत्य से प्रवाहमान है, शील –जिसका तट है और लहरें दया हैं, अतः उसी में गोता लगाना चाहिये। आत्मा जल से स्वच्छ नहीं होती।

पद्य पुराण[5] में वर्णन मिलता है कि 'यज्ञ, व्रत, तप और दान कलियुग में अच्छी तरह से नहीं किये जा सकते, लेकिन गंगा–स्नान और हरिनाम स्मरण सभी प्रकार के दोषो से मुक्त है।

पद्य पुराण[6] ने तीर्थो के अर्थ और क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है – पद्य पुराण के अनुसार जहां अग्नि होत्र और श्राद्ध होता है, मन्दिर, वह घर जहां वैदिक अध्ययन होता हैं, गोशाला , इसके अतिरिक्त वह स्थान जहां सोम पीने वाला रहता है। वाटिकाएं, जहां अश्वत्थ वृक्ष रहता है, जहां पुराणों का पाठ होता है या जहां किसी का गुरु रहता है या तो पतिव्रता स्त्री रहती है या जहां पिता और योग्य पुत्र का निवास होता है वे सभी स्थान तीर्थ के समान पवित्र है।

---

[1] वायु पुराण – 105 /16 –350 –550 ई0

[2] अग्नि पुराण –115/5–6 –600–700ई0

[3] वामन पुराण – 33/8 और 16–700 – 800 ई0

ब्रहाज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं ध्रवम्।
वासः पुसां कुरूक्षेत्रे मुक्तिराक्ता चतुर्विधा ।।
ग्रहनक्षेत्रताराणां कालेन पतनाद्र भयम्।
कुरूक्षेत्र मृतानां च पतनं नैवविधते।

[4] वामन पुराण 43/25

आत्मा नदी संयमतोय पूर्णा सत्या वहा शीलतट दयोभिः।
तत्राभिषैकं कुरू पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।

[5] पद्य पुराण – 4/ 80/ 9 – 900 से 1500 ई0

[6] पद्य पुराण – 2 39 / – 56 – 61

पद्य पुराण में तीर्थो का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया गया है। पुराणों के तीन वर्ण्य विषयों तीर्थ, दान तथा व्रत में से पद्रम पुराण में तीर्थ का ही वर्णन विस्तृत रुप से किया गयाहै। इस पुराण मे वर्णित तीर्थो को दो श्रेणियों में बांटा गया है। (१) नगर तीर्थ (२) नदी तीर्थ ।

नगर तीर्थों में मुख्य रुप से काशी, प्रयाग, गया, पुष्कर, मथुरा,वुन्दावन आदि तीर्थो में स्नान दान आदि का वर्णन करके उनके माहात्म्य को बताया गया है।

दी तीर्थ में गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, सरयू, गोदावरी, सिन्धु का उल्लेख विशेष रुप से हुआ है। इन नदियों में स्नान करने तथा दान पुण्य करने का वर्णन अतिश्योक्तिपूर्ण शब्दों में किया गया है।

इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में माता, पिता, गुरू जैसे पूजनीय व्यक्तियो को भी तीर्थ की संज्ञा दी गयी है।

तीर्थों की महिमा का वर्णन पद्मपुराण में विशेष रूप से की गयी है। आदि–खण्ड में लिखा है कि कलयुग में पाप की राशि को नष्ट करने के लिए तीर्थयात्रा को छोडकर दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति तीर्थों में स्नान करता है तथा निवास करता है वह परम धाम को पाता है[1]।

ब्रह्म हत्या तथा व्यभिचार से उत्पन्न होने वाले पाप भी तीर्थ यात्रा करने से नष्ट हो जाते है। इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी के साथ समागम करने का पाप लगा था जिससे मुक्ति के लिए उन्होंने मालवा, वाराणसी, प्रयाग तथा पुष्कर आदि स्थानों की यात्रा की, जहां स्नान करने से उनका समस्त पाप नष्ट हो गया[2]।

---

1 पद्रम पुराण आदिखण्ड 40/2
तीर्थानुत्रवणं धन्यं तीर्थे निर्वणम्।
पापराशिनिर्पीय प्रान्त्य विषयं, कलौ यही।।

2 पद्रम पुराण , भूमिखण्ड 91/2.10
900से 1500ई0

तीर्थ यात्रा की पात्रता

तीर्थ यात्रा करने योग्य मनुष्यों के बारे में महाभारत के आरण्यक पर्व[1] में कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, जो तीर्थों में स्नान कर लेता है पुनः जन्म नहीं लेता। वनपर्व में यह भी कहा गया है कि जो स्त्री या पुरूष एक बार भी पवित्र पुष्कर में स्नान कर लेता है वह जन्म से किये गये पापों से मुक्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियों को भी तीर्थयात्रा करने का अधिकार था।

मस्त्य पुराण[2] में वर्णन मिलता है कि देवताओं और ऋषियों को यज्ञ का विधान अवश्य किया है, लेकिन वे मनुष्य जो दरिद्र हैं और यज्ञ करने में समर्थ नहीं हैं क्यों कि यज्ञ में अनेक उपकरण और सा[illegible] लगती है इसे राजा और समृद्ध व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिये ऋषियों ने इस परम रहस्यमय तीर्थ यात्रा को पुण्यमय तथा यज्ञ की अपेक्षा विशिष्ट माना है। यह दरिद्र के लिये भी संभव है।

मस्त्य पुराण[3] में कहा गया है कि कई प्रकार के वर्णों और विवर्णों के अतिरिक्त चाण्डालो और विभिन्न प्रकार के रोगों और बढ़े हुए पापों से ग्रसित व्यक्तियों के लिए वाराणसी सबसे बड़ी श्रेष्ठ है।

कूर्म पुराण[4], वामन पुराण[5], तीर्थ कल्पतरू[6], तीर्थ चिन्तामणि[7], तीर्थ प्रकाश[8] इन सभी ग्रन्थों में आश्रमों के बारे में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के लोग तीर्थ में स्नान

---

1 महाभारत,आरण्यक पर्व 42/30—31

2 मत्स्य पुराण 112/12—15

ऋषिभि कतव प्रोक्ता दैवेश्यपि यथाक्रमम् ।
नहि शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्रात्तुं महीपते।
बाहुपकरणा यज्ञा नाना संभारविस्तरा.।
प्रात्यते पार्थिवैरेतैः समृद्वैर्वा नरैः क्वचित् ।
यो दरिद्रेरपि विधि. शक्यः प्रात्तुं नरेश्वर।
ऋषीणां परमं गुहामिदं भरत सन्तम।
तीर्थानुगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।

3 मत्स्य पुराण 184/66— 67

4 कूर्मपुराण 1/31/42— 43

5 वामन पुराण 36/78— 79

6 तीर्थकल्पतरू पृष्ठ 26

7 तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 140

8 तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 140

करके कुल की सात पीढ़ियों की रक्षा करते हैं। चारों वर्णों के लोग और स्त्रियां भक्तिपूर्वक स्नान करके परमोच्च ध्येय का दर्शन करती हैं।

ब्रह्म पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरू की आज्ञा से तीर्थ यात्रा कर सकते हैं। और गृहस्थ को अपनी पतिव्रता पत्नी के साथ तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए नहीं तो उसे तीर्थयात्रा का फल नहीं प्राप्त हो सकता।

पद्म पुराण[1] के भूमिखण्ड, में कृकल की कथा कही गयी है। कृकल ने अपनी पतिव्रता पत्नी के बिना तीर्थयात्रा की थी इसी से उसे लम्बी तीर्थयात्रा का भी फल नहीं मिला।

कूर्म पुराण[2] का उद्धरण देकर वाराणसी की महत्ता तीर्थ चिन्तामणि और तीर्थप्रकाश ने इस तरह से दी है।

महाभारत और पुराणों में कहा गया है कि पवित्र मन ही वास्तविक तीर्थ है। और दूसरी महत्वपूर्ण है कि घर पर रहकर गृहस्थधर्म का पालन करते जाना तथा वैदिक यज्ञादि का सम्पादन करते रहना तीर्थयात्रा से कहीं अच्छा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चारों वर्णों, चारों आश्रमों के लोग तथा स्त्री, शूद्र, चाण्डाल आदि भी तीर्थ यात्रा की पात्रता रखते हैं।

<u>तीर्थयात्रा की तैयारियां</u>— तीर्थयात्रा में जाने के पहले मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्ब में विराग उदासीनता उत्पन्न करे। ब्रह्मपुराण[3] में कहा गया है कि तीर्थयात्रा के इच्छुक व्यक्ति को एक दिन पहले से ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए उपवास करना चाहिए, दूसरे दिन उसे गणेश, देवों पितरों की पूजा करनी चाहिए और अपनी सामर्थ्य के अनुसार अच्छे ब्राह्णों का सम्मान

---

1 पद्म पुराण भूमिखण्ड अध्याय 59/60
भार्या विना हि यो धर्म : स एव विफलो भवेत
900से 1500ई0

2 कूर्मपुराण 1/31/32 —34;
ब्राहाणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये वर्ण संक्रा :।
स्त्रियों म्लेच्छाश्य ये चान्ये संकीर्णा : पाप यो नमः।।
कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिण.।
कालेन निधन प्राप्ता अविमुक्ते वरानने ।।............शिवे मम पुरे देवि जायन्ते तत्र मानवा.।
नाविमुक्ते मृतः कश्चिन्नरकं यति किल्विषी।।

3 ब्रहा पुराण
'सुसंयत पूर्व दिने कृतैकभक्तादिनियम इति केचित् , ब्रह्मचर्यादि युक्त इति तु युक्तम् ।ये श्लोक नारदीय पुराण उत्तर, 62/24 —25 मे भी है स्कन्द पुराण काशीखण्ड,6/56 — 57 , पद्म पुराण उत्तर,237/36 — 38 , ब्रहा पुराण 76/18 — 19 ।
यो यः कश्चितीर्थयात्रां तु गच्छेत्सु संयतः स च पूर्व गृहे स्वे।
कृतोपवासः शुचिरप्रमन्त : सम्पूजयेद भक्ति नम्रे गणेशम्।।
देवान पितृन् ब्राह्मणांश्चेव साधून् धीमान् पितृन् ब्राह्मणान् पूजयेच्य
प्रत्यागतश्चापि पुनस्तथैव देवान् पितृन् ब्राह्मणान् पूजयेच्य।।

करना चाहिए, तथा लौटने पर भी वैसा ही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के समान ही तीर्थों के बारे में हमें तीर्थ कल्पतरू[1], तीर्थ चिन्तामणि[2] और तीर्थ प्रकाश[3] मे उल्लेख मिलता है।

निबन्धों में कहा गया है कि लौटने पर उपवास और गणेश पूजा नहीं की जाती। व्यक्ति को श्राद्ध करना चाहिए। जिसमें पर्याप्त मात्रा में घी का उपयोग होना चाहिए, इसके साथ ही चन्दन, धूप आदि से कम से कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए और उन्हें भी तीर्थयात्रा के लिए प्रेरित करना चाहिए।

वायुपुराण[4] में कहा गया है कि गणेश, ग्रहों और नक्षत्रों की पूजा के बाद व्यक्ति को कार्पटी का वेष धारण करना चाहिए, इसका तात्यपर्य यह है कि उसे ताम्र की अंगूठी तथा कंगन और काष्पाय रंग के परिधान धारण करने चाहिए।

कुछ लोगों के मत से भट्टोजि का कहना है कि कार्पटिक परिधान केवल गया के यात्री को धारण करना चाहिए।

पद्मपुराण[5] में विभिन्न तीर्थों में जाने वाले यात्रियों के लिये भी विशिष्ट परिधानों की बात कही है।

तीर्थ चिन्तामणि[6] ने लिखा है कि ऐसी वेशभूषा तीर्थयात्रा के समय और तीर्थों में ही धारण करना चाहिए न कि दैनिक कार्यों के समय जैसे भोजन आदि करने समय में।

तीर्थयात्रा में जाने से पूर्व मुण्डन कराने के बारे में विद्वानों की एक राय नहीं है। कुछ पुराण जैसे पारस्करगृहसूत्र[7] में वर्णन मिलता है कि समावर्तन के समय भी मुण्डन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त खादिरगृहसूत्र[8], शांखायनगृहसूत्र[9] में भी मुण्डन के बारे में यही कहा गया है।

पद्मपुराण और स्कन्दपुराण में मुण्डन को अनिवार्य माना है।

---

1 तीर्थ कल्पतरू पृष्ठ 9;

2 तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 6;
' सुसंयत इति पूर्व दिने कृतैक – भक्तादिनियम् : ;

3 तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 23

4 वायु पुराण 110/2– 3 – 350 – 550 ई0
उद्यतश्चेद्र गयां गन्तुं श्राद्वं कृत्वा विधानतः।
विधाय कर्पटी वेशं कृत्वा ग्रामं प्रदक्षिणम् ।
-ततो ग्रामान्तरं गन्वा श्रादृशेषस्य भोजनम्।।

5 पद्रम पुराण 4/19/22 – 900 – 1500 ई0

6 तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 7/तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 29

7 पारस्करगृहसूत्र 2/6/17

8 खादिरगृहसूत्र 3/1/2/23

9 शांखायन गृहसूत्र 3/1/1 –2
खादिरगृहसूत्र– ' प्राश्य वापयेत् शिखवर्ण केशश्मश्रुलोमनखनि।

पद्मपुराण[1] और स्कन्दपुराण[2] ने मुण्डन को अनिवार्य माना है।
तीर्थ कल्पतरू में सिर मुण्डन के बारे में नहीं कहा गया है और उपवास को वैकल्पिक माना है पाश्चात्य कालीन निबन्धों में आम तौर पर धार्मिक कृत्यों को बहुत विस्तार से और कठिन बना डाला है। जैसे चार्तुमास्य और अग्निष्टोम जैसे वैदिक यंत्रों के लिए यजमान को दाढ़ी बना लेनी चाहिये।

तीर्थयात्रा में जाने से पूर्व संकल्प करने के संबध में त्रिस्थाली सेतु[3] में विस्तार से चर्चा की गई है। इस तरह से संकल्प करने में सभी आकांक्षित तीर्थों के नाम नहीं आने चाहिए, केवल अन्तिम तीर्थ का नाम स्पष्ट रूप से आना चाहिए, दक्षिण और पश्चिम भारत के लोगों को गया के विषय में जिसमें प्रयाग और काशी के नाम प्रछन्न रहते हैं में; पूर्वी भारत के लोगों को प्रयाग के विषय में संकल्प करना चाहिए; दूसरे रूप में, दक्षिण और पश्चिम के लोगों को सबसे पहले प्रयाग तीर्थ का संकल्प करना चाहिए। प्रयाग में काशी का और काशी में गया का संकल्प करना चाहिए। यही विधि आगे चलती जाती है। तीर्थप्रकाश ने पहले विधि की आलोचना की है और कहा है कि जो लोग बहुत से तीर्थों की यात्रा करना चाहते हैं उन्हें केवल 'तीर्थ यात्रा महं करिष्ये' कहना चाहिए। लेकिन इसने दूसरी विधि का पालन किया है।

तीर्थयात्रा करने के पहले किये जाने वाले कर्मों के बारे में ब्रह्मपुराण[4] में श्लोक कहे गये हैं जो कि निबन्धों में वर्णित हैं। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि तीर्थयात्रा के इच्छुक व्यक्ति को एक दिन पहले से ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना चाहिए और उपवास करना चाहिए, दूसरे दिन उसे गणेश, देवों, पितरों की पूजा करनी चाहिए और अपनी इच्छा के अनुसार सुपात्र ब्राह्मण का सम्मान करना चाहिए,

---

1 पद्रम पुराण उत्तरखण्ड 237/45

2 स्कन्द पुराण काशीखण्ड 6/65
तीर्थपवासः कर्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा ।
शिरोवातानिः पापानिः यान्ति मुण्डनतो यतः।।

3 त्रिस्थली सेतु –
'औ तत्प्रदध प्रति पदमश्वमेधयज्ञजन्य फल सम फल प्रप्ति कामोऽमुक तीर्थ याज्ञा महं करिष्ये'।

4 ब्रह्म पुराण– यो यः कश्यितीर्थयात्रां तु गच्छेत्सु संयत स च पूर्व गृहे स्वे।
कृतोपवासः शुचिरप्रमत्तः सम्पूजयेत भक्तिनम्रो गणेशम्।।
देवान् पितृन् ब्राह्मणांश्चैव साधून् धीमान् पितृन् ब्राह्मणान् पूज्येच्य।
प्रत्यागतश्यापि पुनस्तथैव देवान् पितृन् ब्राह्मणाम पूज्येच्य।।
तीर्थकल्पतरू पृष्ठ 9; तीर्थचिन्तामणि पृष्ठ 6;
तीर्थप्रकाश पृष्ठ 23 'सुसंयत इति पूर्वदिने कृतैक भक्तादिनियमः,
नारदीय पुराण उत्तरखण्ड 62/24–25 और स्कन्दपुराण काशीखण्ड 6/56–57; पद्य पुराण उत्तरखण्ड 237/36–38; ब्रह्म पुराण 76/18–19;
ब्रह्मपुराण– सुसंयत पूर्वदिने कृतैकभक्तादिनियम् इति केचित्
ब्रह्मचर्यादियुक्त इति तु युक्तम्

तथा लौटने पर भी वैसा ही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के समान तीर्थ कल्पतरू, तीर्थ चिन्तामणि मे भी कहा गया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण[1] में कहा गया है कि तीर्थयात्रा करने का विचार कर लेने के बाद व्यक्ति को किसी एक निश्चित दिन केवल एक बार भोजन करना चाहिए। दूसरे दिन उस व्यक्ति को वपन कराकर उपवास करना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन उसे दैनिक धर्मों का पालन करना चाहिए, व्यक्ति को इस बात का संकल्प लेना चाहिए कि इन इन स्थानों की मैं तीर्थयात्रा करूंगा और तीर्थयात्रा की निर्विघ्न समाप्ति के लिए गणेश और अपने अधिष्ठाता देवों की पूजा करूंगा। इसके बाद पांच या सोलह उपचारों के साथ गणेश नवग्रहों और अपने प्रिय देवों की पूजा करनी चाहिए। अपने गृह्यसूत्र के अनुसार पर्याप्त मात्रा में घी के साथ पार्वण श्राद्ध करना चाहिए। और कम से कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए। तथा उन्हें धन भी दान देना चाहिए। इसके बाद उसे यात्री की वेशभूषा धारण करना चाहिए। इसके उपरान्त गांव की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। गांव की न कर सके तो कम से कम अपने घर की अवश्य करनी चाहिए। इसके बाद दूसरे गांव जाकर के जो कि एक कोश, दो या ढाई मील से अधिक दूर न हो, पहुंचना चाहिए और उसके बाद तब श्राद्ध से बचे हुए भोजन और घी से व्रत तोड़ना चाहिए। ये नियम. केवल गया की यात्रा में होता है। और तीर्थों की यात्रा में वह अपने घर में भी उपवास तोड़ सकता है। इसके बाद उसे प्रस्थान करना चाहिए। दूसरे दिन उसे नये वस्त्र के सहित स्नान करके यात्री परिधान पहनना चाहिए। और पूर्वाभिमुख हो अपरान्ह में, यदि संभव हो तो नंगे पैर प्रस्थान करना चाहिए। इस संबन्ध में दो मत हैं एक मत है कि जिस दिन व्यक्ति किसी तीर्थ में पहुंचता है उस दिन उसे उपवास करना चाहिए, दूसरे मत के अनुसार तीर्थ में पहुंचने के एक दिन पहले से ही उपवास करना चाहिए। पहला मत कहता है कि उसे उपवास के दिन श्राद्ध करना चाहिए और इस तरह से वह भोजन नहीं कर सकता, केवल पके भोजन को सूंघ सकता है।

कल्पतरू[1] और तीर्थ चिन्तामणि[2] में देवल को उद्धृत कर कहा गया है कि तीर्थ में पहुंचने पर उपवास जरूरी नहीं है लेकिन उपवास यदि किया जाय तो विशेष फल की प्राप्ति होती है।

---

1 ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड, 26/90–92 में 16, 12 या 5 उपचारों का वर्णन इस प्रकार किया है–
आसनं वसनं पाद्यमर्ध्यमाचमनीयकम्।
पुष्पं चन्दन धूपं च दीपं नेवेद्यमुत्तमम्।।
गन्धं माल्यं च शय्यां च ललितां सुविलक्षणाम्।
जलमग्नं च ताम्बूलं साधारं देवमेव च।।
गन्धान्नतल्य ताम्बूलं विना द्रव्याणि दृादश।
पाद्यार्ध्य जल नैवेद्यपुष्पाण्येतानिं पंच च।।

1 कल्पतरू तीर्थ, पृष्ठ 11

2 तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 14

तीर्थ में विहित कर्म–

अन्य धार्मिक कृत्य यज्ञ अनुष्ठान भोज इत्यादि सुसम्पन्न वर्ग के एकाधिकार में आते थे वे ही इनका सम्पादन करते थे तथा इनके लाभ का उपभोग भी वही करते थे। अन्य वर्ग इन लाभों से वंचित रहते थे, अछूते रहते थे। परन्तु तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में ऐसा नहीं है, कोई भी व्यक्ति तीर्थयात्रा कर सकता था तथा उसका पुण्य लाभ अर्जित कर सकता था। तीर्थ स्थलों का द्वार सबके लिए खुला था इसके लिए किसी योग्यता की आवश्यकता नही पड़ती। तीर्थ यात्रा का भी उद्देश्य यज्ञ यज्ञादि की तरह आत्मशुद्धि, पाप विनाश, मोक्ष प्राप्ति तथा पुण्य लाभ होता है। महाभारत[3] में कहा गया है कि तीर्थयात्रा के समय द्विज और शूद्र, स्त्री और पुरुष का भेद मिट जाता है। छुआछूत का भाव तीर्थयात्रा के काल में स्थगित रहता है।

महाभारत में कहा गया है कि भक्ति कर्मो के साथ–साथ भक्ति भाव की भी तारतम्यता होनी आवश्यक है अन्यथा अन्य भाव फलदायी नहीं होते। जिस प्रकार पवित्र नदियों में मछलियां नित्य स्नान करती रहती हैं और कपोत आदि प्राणी मंदिर में ही निवास करते हैं किन्तु उनको इसके कारण मोक्ष नहीं प्राप्त होता। अनैच्छिक संयोग धार्मिक फलदायक व पुण्य लाभ प्रदायक नहीं होता, भक्ति भाव से प्रेरित कर्म ही ऐच्छिक फलदायक होते हैं। स्कन्द पुराण[4] में कहा गया है कि व्यक्ति अपनी कापना के अनुरूप ही मंत्र, तीर्थ, द्विज, देवता, देवज्ञ और गुरू से लाभ प्राप्त कर सकता है।

विभिन्न तीर्थ स्थलों में जाने, निवास करने और सदाचार पालन के नियम भिन्न–भिन्न हैं जैसे कि गया तीर्थ के सन्दर्भ में वायु पुराण[5] में कहा गया है कि गया में जाने पर तभी फल मिलता है, जब कि चित्त अचंचल रहता है इन्द्रियां वश में रहती है, मन एवं शरीर पवित्र रहता है। तथा अहंकार आदि दूर रहते हैं।

वायु और ब्रह्मांण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि तीर्थो में धैर्य और श्रद्धा के साथ इन्द्रियों को वश में रखने से शुद्धि मिलती है।[1] उन लोगों के विषय में जो कि पापी, संशयात्मा, परलोक में अनास्था

---

3 महाभारत– आरण्यपर्व ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य शूद्रों वा राजसत्तम्।
न वियोनि व्रजन्येते स्नातास्तीर्थे महात्मन।।

4 स्कन्द पुराण– 700–900 ई0 मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।

5 वायु पुराण, 110, 4–5 अहंकार विमुक्तो यः स तीर्थफल मश्नुते।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चापि सुसंयतम्।।

1 वायु पुराण , 110/4–5
वायु पुराण 77/125तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धानो जितेद्रियः।
ब्रह्माड पुराण, 3/13/133

रखने वाले, ईश्वर की स्थिति के सन्देह करने वाले तथा तार्किक; इन पांच प्रकार के लोगों को तीर्थो का फल नहीं मिलता।[2]

वायु पुराण[3] के अनुसार–

जिन लोगों के हृदय में पाप समाविष्ट रहता हैं, उन लोगों को पवित्रशालग्राम तीर्थ के दर्शन नहीं होते।

वायु पुराण[4] और ब्रह्मांड पुराण[5] में व्यास तीर्थ के विषय में कहा गया है कि व्यास तीर्थ में विद्यमान वर्तमान वेदी को पापी लोग नहीं देख पाते।

विन्ध्यगिरी की धारा को केवल साधुजन ही देखते हैं।[6] दुराचारी मनुष्यों के लिए स्वर्गमार्गप्रद में वर्तमान नन्दिकेश्वर की मूर्ति अदृश्य मानी जाती हैं।[7]

प्रयाग महात्म्य के वर्णन को मस्त्य पुराण[8] का कहना है कि जो तत्वज्ञानी मनुष्य गंगा–यमुना के संगम में सत्यनिष्ठ होकर, अहिंसाव्रती होकर, कोध को विजित कर तथा गाय और ब्राह्मण के हित में आचरण करते हुए स्नान करता है, उसके पाप क्षीण हो जाते हैं।

मत्स्य[6] पुराण में प्रयाग के बारे में वर्णन मिलता है कि प्रयाग तीर्थ के उस पावन स्थल पर अधर्मी मनुष्य नहीं जा सकते जहां वटवृक्ष की रक्षा स्वयं शूलपाणि महेश्वर करते हैं,

मत्स्य पुराण[1] कहता है कि – प्रयाग तीर्थों में सर्वोच्च है यहां रहने वाले संसार सागर के पार भी देख सकते हैं सचमुच ये मोक्षद्वार है जिसके दोनों भागों में बहने वाली गंगा और यमुना नदियां उसकीशोभा को बढ़ाती। अतः प्रयाग की तीर्थयात्रा में लोभ मोह को दूर करने को कहा गया है।

तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धानो समहित.

[2] वायु पुराण, 77/127; ब्रह्मांड पुराण, 3/13/135–136
अश्रद्धधाना पाप्मानो नास्तिका स्थित संशया।
हेतुदृष्टा च पचैते न तीर्थफलमश्नुते।

[3] वायु पुराण, 77/89 दृष्टया न दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम्।
ब्रह्मांड पुराण, 3/13/89 दुष्कृतं दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम्।

[4] वायु पुराण, 77/79 सिद्धैस्तु सेवितः नित्यं दृश्यते नाकृतात्मभिः।

[5] ब्रह्मांड पुराण, 3/13/81 सिद्धैस्तु सेविता नित्य दृश्यते तु कृतात्मभिः।

[6] वायु पुराण, 77/34; ब्रह्मांड पुराण 3/13/35 'धारां पश्यन्ति साधवः।

[7] वायु पुराण, 77/63 'नान्दीश्वरस्य या मूर्तिदुराचारैर्म दृश्यते।
ब्रह्मांड पुराण, 3/13/64 'नान्दीश्वरस्य या मूर्तिर्भिराचौरर्न दृश्यते।

[8] मत्स्य पुराण, 104/16 'सत्यवादी जितकोधो अहिंसायां व्यवस्थितः।
धर्मानूसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रत।

[9] मत्स्य पुराण, 104/1 अधर्मेणावृतो लोको नैव गच्छति तत्पदम्।

[1] मत्स्य पुराण, 106/7 ऐश्वर्यलोभमोहाद्वा गच्छेद्यानेन यो नरः

मत्स्य पुराण[2] में– प्रयाग को देव–दुर्लभ तीर्थप्रवर कहा गया है। इसका महात्म्य असीम व अनिवर्चनीय है जिसे कोटि–कोटि वर्षों में भी नहीं कहा जा सकता। जिन मनुष्यों में श्रद्धा का अभाव है तथा जिनका चित्त पापासक्त है, वे देवताओं द्वारा रक्षित प्रयाग को नहीं प्राप्त कर सकते।
मत्स्य पुराण[3] के अनुसार– स्नानार्थी को प्रयाग तीर्थ में मन, वचन और कर्म से धर्म पालन का आदेश दिया गया है।[4]
मत्स्य पुराण मे प्रयाग के उपतीर्थों के बारे में वर्णन किया गया है कि इन स्थानों में, ब्रहार्चय – व्रत द्वारा क्रोधादि को वश मे करना चाहिये।
मत्स्य पुराण में ब्रहाचर्य व्रत का पालन करते हुए संध्यावर के समीप इन्द्रियों को संयत रखने का विधान मिलता है।[5]

तीर्थों में वर्जित कर्म–

भारतीय संस्कृति में तीर्थो के माहात्म्य बिखरे हुए हैं, सभी तीर्थ स्वंय में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सभी श्रेष्ट हैं तथा सभी फलदायी भी है अतएव सभी तीर्थो का भ्रमण धार्मिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

तीर्थयात्रा के समय तीर्थयात्रियों के लिऐ कुछ कर्मो का निषेध बताया गया है। रधुनन्दन[6] द्वारा रचित प्रायश्चितत्व ने ब्रहामण्ड पुराण सें उदाहरण लेकर उन चौदह कर्मो का वर्णन किया है जिन्हे गंगा के तट पर त्याग देना चाहिये। जो कि इस प्रकार है -- शौच शरीर शुद्धि के लिये, अति सूक्ष्मता पर ध्यान देना, मतलब शरीर को रगड़ – रगड कर स्वच्छ करना या तेल, साबुन लगाना इत्यादि ।
आचमन दिन मे कई बार ऐसा करना केश, श्रंगार, र्निमाल्य धारण देव पूजा के बाद पुष्पों का प्रयोग देह मलवाना, कीडा कौतुक, दानग्रहण, संभोग कृत्य, अन्य तीर्थ की भक्ति , अन्य तीर्थ की प्रशंसा अपने पहने हुए वस्त्रो का दान, किसी को मारना – पीटना और तीर्थ जल को तैर कर पार करना।
विष्णु धर्मसूत्र[1] में आया है कि वैदिक विद्यार्थियों, वानप्रस्थों, सन्यासियों, गर्भवती स्त्रियों और यात्रियों से नाविक या शौल्किक को शुल्क नहीं लेना चाहियें यदि वे इनसे शुल्क लेते थे तो उनहें लौटाना पडता था।

---

[2] मत्स्य पुराण, 108/11 अश्रद्धानाः पुरुषाः पापोपहृतचेतसः।
[3] मत्स्य पुराण, 105/13 कर्मणा मनसा वाचा धर्म सत्यप्रतिष्ठितः।
[4] मत्स्य पुराण, 106/31 ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं यदि तिष्ठति।
[5] मत्स्य पुराण, 107/43 अथ संध्यावरे रम्ये ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय।।
[6] दृष्टव्य, रघुनन्दन कृत 'प्रायश्चित्ततत्व'
[1] विष्णु धर्मसूत्र, 5/132–133 ब्रह्मचारिवानप्रस्थ भिक्षुगुर्विणीतीर्थानुसारिणां नाविक शौल्किक शुल्कमाददानश्य तच्च तेषां दयात्।

तीर्थ यात्रियों को यात्रा करते समय किस सवारी का प्रयोग करें इसका ध्यान रखना पड़ता था क्योकि तीर्थयात्रा का फल इस पर निर्भर करता है।

मत्स्य पुराण[2] में कहा गया है कि यदि कोई प्रयाग की तीर्थयात्रा बैलगाड़ी मे बैठकर करता है तो वह नरक मे गिरता है। और उसके पितर तीर्थ पर दिये गये जल तर्पण को ग्रहण नहीं करते, इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति ऐश्वर्य या मोह या मूर्खतावश वाहन ~~बैलो बाल्स नहीं~~ पर यात्रा करता है तो उसके सारे प्रयत्न वृथा जाते हैं; इसीलिये तीर्थ यात्रियो को वाहन आदि पर नहीं जाना चाहिये। इसी तरह तीर्थ चिन्तामणि, तीर्थ प्रकाश और प्रायश्चितवतत्व में भी वाहन के प्रयोग को मना किया गया है।

तीर्थ कल्पतरू[3] के अनुसार केवल प्रयाग यात्रा में वाहन वर्जित है, किन्तु तीर्थचिन्तामणि और तीर्थ प्रकाश ने एक श्लोक का उदाहरण देकर कहा है कि बैलगाडी पर जाने से गोबध का अपराध लगता है, घोड़े पर जाने पर तीर्थयात्रा का फल नहीं मिलता, मनुष्य द्वारा ढोये जाने पर पालकी आदि के द्वारा आध फल मिलता है, लेकिन पैदल जाने पर पूर्ण फल की प्राप्ति होती हैं[4]।

पद्म पुराण और कूर्मपुराण में कहा गया है कि जो लोग असमर्थ होने के कारण नर यान या घोड़े और खच्चरों से खीचें जाने वाले रथों का प्रयोग करते है। वे पाप या अपराध के भागी नहीं

---

[2] मत्स्य पुराण, 106/4–6

3 मत्स्य पुराण,106/4–5 और 7, और तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 8, ऐश्वर्य –लाभमाहात्म्यम , तीर्थ प्रकाश पृष्ठ –34
प्रायश्यिततत्व पृष्ठ 492; कूर्मपुराण 1/37–4–5।
" प्रयाग तीर्थ यात्रार्थी यः प्रयाति नरः क्वचित्।
बली वर्द समारूढ़ शृणु तस्यापि यत्फलम्।।
नरके वसते घोरे गवा क्रोधो हि दारूणः।
सलिलं न च गृहन्ति पितरस्तस्य देहिनः।।
ऐश्वर्यलाभ मोहाद्वा गच्छेद्यानेन या नरः।।
निष्फलं तस्य तत्सर्व तस्माद्यानं विवर्जयेत।।
गंगावाक्यावली पृष्ठ 13 ने
ऐश्वर्य मदमोहेन, पाठ दिया है और उसमें आया है–
'मत्स्य पुराणीयवचनस्य प्रयागयात्रा प्रकरणस्थत्वाद् ऐश्वर्यमदशून्य स्यैव प्रयागगमनेपि दोषाभाव'।,

5 गंगाभक्ति तरंगिणी पृष्ठ 13; तीर्थ चिन्तामणि और तीर्थ प्रकाश ।
तीर्थ प्रकाश गोयाने गोबधः प्रोक्तो हयमाने तु निष्फलम्।
नरयाने तत्तर्ध स्यात् पदभ्यां तच्च चर्तुगुणम्।।
पद्मपुराण 4/19 –27/
' उपानदभ्यां चतुर्थांश गोयाने गोवधादिकम्।'

होते । इसी प्रकार का वर्णन विष्णु पुराण में आया है कि यात्रा में जुता पहनकर, वर्षा और अतप मे छाता का प्रयोग करके, रात में या वन मे दण्ड लेकर चलना चाहियें[1]।

तीर्थयात्रा करने के विषय मे विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने अधिक व्यवहरिक मत दिया है। पैदल तीर्थयात्रा करने से सर्वोच्च तप का फल मिलता है, लेकिन यदि यान पर यात्रा की जाती है तो केवल स्नान का फल मिलता है[2]।

गंगा सागर जैसे तीर्थो के बारे मे तीर्थप्रकाश ने नौका प्रयोग की अनुमति दी है क्योंकि वहा जाने का और कोई साधन नही है। प्रयाग तीर्थ मे तीर्थयात्रियो को चाहिये कि वे भोग -- विलास की समस्त वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिये। अपनी दृष्टि से भोग –विलास की वस्तुयें देखना, सुगन्धदि का उपयोग, परनिन्दा, भोजन को स्वाद की दृष्टि से खाना, शरीर एवं सिर में मालिश, ताम्बूल, चन्दनादि का लेपन , किसी दुष्कर्म में लगे व्यक्ति का स्पर्श एवं वार्तालाप का परित्याग करना कल्पवासी के लिए श्रेयस्कर है। व्रतस्थ व्यक्ति को मिथ्या भाषण से भी बचना चाहिये[3]।

संगम क्षेत्र में किसी प्रकार के दान को लेने से भी व्रती को बचना चाहिये[4]।

प्रयाग के कल्पवासी के लिए भोज्य पदार्थो का त्याग करना चाहिये, भूमि पर शयन करना चाहिये, तिलमिश्रित धृत से हवन करना चाहियें, तीनों कालों में भगवान विष्णु की पूजा करें, उनके लिए दीपक जलावे, दूसरे की अग्नि एवं दान लेने से बचना चाहिये, माघ की एकादशी को ब्राहाणों को भोजन एवं दक्षिणा देकर माध मास मे कल्पवास का उद्यापन करें।

---

1 विष्णु पुराण 3/12/38 और नारदीय पुराण उत्तर, 62/35 और तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 8–9
"वर्षा तपादिके छत्री दण्डी राज्यरवीषु च।
शरीरत्राणकामो वै सोपानत्क: सदा व्रजेत्।।
इति विष्णु पुराणी यवचनने निष्प्रतिपक्ष सदाशब्दस्वरसात्
तीर्थ यात्रादामपि उपानत्परिधान मावश्यकमिति।"
विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3/273 /11–12 में आया है। –
"तीर्थानुसरणं पदश्यां तप: परमिहोच्यते।
तदेव कृत्वा यानेन स्नान मात्र फंल लभते्"।।

2 विष्णु धर्मोत्तर पुराण 3/273/11–12

3 पद्यम पुराण
भक्त्या विष्णोः स्तुतिर्वाच्या मिथ्यालाप विवर्जिता

4 मत्स्य पुराण – एवं तीर्थ न गृहषीयात् पुण्येष्वायतनेषु च।
निमित्तेषु च सर्वेषु ह्यप्रमन्तो भवेद द्विजः ।।

तीर्थ यात्रा का फल

महाभारत मे कहा गया है कि भक्ति कर्मो के साथ –साथ भक्ति भाव की भी तारतम्यता होनी आवश्यक है अन्यथा अन्य भाव फलदायी नहीं होते। जिस प्रकार पवित्र नदीयों में मछलियां नित्य स्नान करती रहती है और कपोत आदि प्राणी मन्दिर में ही निवास करते है किन्तु उनको इसके कारण मोक्ष नहीं प्राप्त होता ।

तीर्थो की दो श्रेणियां मानी गयी है– भौमतीर्थ और मानस तीर्थ ।एक पवित्र स्थल अथवा पवित्र नदी तो निश्चय ही मोक्षदायी तीर्थ है। परन्तु इस प्रकृति प्रदत्त तीर्थ से अधिक फलदायी वह तीर्थ है जिसे मनुष्य स्वयं अपने अन्तः स्थल मे विकसित कर लेता है। सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूत दया , मार्जव, दान, दम, सन्तोष, प्रयवा, ब्रहाचर्य, ज्ञान धृति और तपस आदि भी तीर्थो की श्रेणी में आते हैं। जो व्यक्ति इन तीर्थो से युक्त है। उसी को भौम तीर्थ की यात्रा करने का पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति इन भौम एवं मानस तीर्थो मे नित्य स्नान करता है उसे परमगति की प्राप्ति होती है। इस कारण तीर्थो के सन्दर्भ मे भाव , मन , आत्मा की शुद्धता पर अधिक बल दिया जाता है तथा वह जो इन गुणो से युक्त नहीं हैं या वचित है उसे पुण्य स्थलों मे या तीर्थ स्थानो मे प्रवास करने से भी पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। स्कन्द पुराण[1] मे कहा गया है।

नारदीय पुराण[2] के अनुसार प्रयाग तीर्थ में बिना स्नान से यज्ञ करने के समान पुण्य प्राप्त होता है।

महाभारत, आरण्यक पर्व ने तीर्थ यात्रा से पूरा फल प्राप्त करने के लिये उच्च नैतिक और आध्यात्मिक गुणों पर बल दिया है।

---

1 स्कन्द पुराण –
विषये स्वति संरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्य समुदाहतम्।।
चित्तमर्न्तगंत दुष्टं तीर्थ स्नानान्न शुध्यति।
शतशोऽपि जलैधौतं सुराभाण्ड मिवा शुचिः।।
दा मिज्या तपः शौचं तीर्थ सेवा श्रुतं तथा।
सव येतान्य तीर्थानि यदि भावों न निर्मल।।

2 नारदीय पुराण 2/65/100

ऐसा कहा गया है कि–[1] जिसके हाथ–पांव, मन सुसंयत है, जिसे विद्या, तप कीर्ति प्राप्त है वही तीर्थ यात्रा से पूर्ण फल प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति दान ग्रहण आदि से दूर रहता है; जो कुछ मिल जाय उससे सन्तुष्ट रहता है और अंहकार से रहित है, वह तीर्थ फल प्राप्त करता है। जो प्रवञ्चना या कपटाचरण से दूर है निरारम्भ है मतलब जो धन कमाने के लिए तरह–तरह के उद्योगों से निवृत है, कम खाने वाला है, जितेन्द्रिय है अर्थात जो अपनी इन्द्रियों के संयम द्वारा पाप कर्म से दूर रहता है और वह भी जो अक्रोधी है, सत्यशील है, दृढ़व्रती है: अपने समान ही अन्यों को जानने मानने वाला है; वह तीर्थ यात्राओं से पूर्ण फल प्राप्त करता है। इसका मतलब यह है कि जिन्हें ये विशेषतायें नहीं प्राप्त हैं वे तीर्थयात्रा कर के पापों का नाश कर सकते हैं। लेकिन जो इन गुणों से युक्त है वे और भी अधिक पुण्यफल प्राप्त करते हैं।

[2]स्कन्द पुराण का कथन है कि पुनीत स्थान, यज्ञ एवं तरह–तरह के दान मन की शुद्वि के साधन हैं।

[3]पद्य पुराण में आया है कि यज्ञ, व्रत तप, और दान कलियुग में भले प्रकार से सम्पादित नहीं हो सकते लेकिन गंगा स्नान और हरि नाम स्मरण सभी प्रकार के दोषो से मुक्त है।

---

[1] वन पर्व 82/9 –12 ; तीर्थ कल्पतरू पृष्ठ 4–5 तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 13

‘ यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्य स तीर्थ फल मश्नुते।।
परिग्रहादुपावृतः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहांकारनिवृन्तश्च स तीर्थ फल मश्नुते।।
अकल्कको निरारम्भो लध्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेश्यः स तीर्थ फल मश्नुते।।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृदव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थ फल मश्नुते।।

तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 13 / अकल्ककः दम्भरहितः’
निराम्भोऽत्रार्थार्जनादिव्यापार रहित ।
हस्तयोः सयमः परपीडा – चौर्यादिनिवृत्या, पादयोः संयमः
अगम्य देशगमनपरताडनादि निवृत्या, मनसः सयमः
कुत्सित संकल्पादि निवृत्या। विद्या अत्र तत्ततीर्थगुणज्ञानम्,
तप . तीर्थो पवासदि , कीर्तिः सन्चरितत्वेन प्रसिद्धिः
तीर्थ कल्पतरू पृष्ठ 5/वनपर्व92/11 और 93/20–23 ये वन पर्व के श्लोक पद्यपुराण आदिखण्ड, 11/9–12में पायेजाते है।

[2] स्कन्द पुराण – 1/1/31/37

[3] पद्यपुराण – 4/80/9

[1]विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने बहुत ही स्पष्ट कहा है ' जब तीर्थ यात्रा की जाती है तो पापी के पाप करते हैं, सज्जन की धर्मवृद्धी होती है; सभी वर्णो एवं आश्रमों के लोगों को तीर्थ फल देता है।

पुराणों और स्मृतियोँ ने इस बात पर सहमत है कि तीर्थयात्रा फल प्रतिनिधि रुप में भी प्राप्त किया जा सकता है। [2]अत्रि ने कहा है कि–वह जिसके लिये कुश की आकृति तीर्थ जल में डुबोयी जाती है, स्वंय जाकर स्नान करनें के फल का अष्टभाग पाता है। जो व्यक्ति माता–पिता, मित्र या गुरु को उद्रदेश्य करके तीर्थ जल में स्नान करता है, उससे वे लोग द्वादशांश फल पाते है।

[3]पैठनसि का कहना है कि जो दूसरे के लिये परिश्रमिक पर तीर्थ यात्रा करता है उसे षोडशांश फल प्राप्त होता है और जो अन्य कारण से अध्ययन, व्यापार, गुरुदर्शन आदि के लिये तीर्थ को जाता है वह अर्धाशं फल पाता है।

शायद इसीलिए परमात्मा की कृपा प्राप्ति के लिए धनी लोगों ने यात्रियों की सुख सुविधा के लिये धर्मशालाओं, जलाशयों, अन्नसत्रों, कूपो का निर्माण किया है। इसके अलावा यात्रियों की और अन्य जन सामान्य के सुविधा के लिये उन्होने मार्गों के किनारों पर वृक्ष लगाये हैं। प्रभास खण्ड[4] में आया है कि जो धनी व्यक्ति अन्य किसी को धन या दान द्वारा तीर्थयात्रा की सुविधा देता है। वह तीर्थयात्रा फल का चौथाई भाग पाता है।

महाभारत के वनपर्व में तीर्थ यात्रा के बारे में विस्तार से चर्चा की गयी है। इसमें तीर्थ यात्रा से होने वाले फल के बारे में महर्षि पुलस्त्य जी ने भीष्म जी को विस्तार से बताया है।

महाभारत के आरण्यक पर्व में [5]तीर्थों के बारे में युधिष्ठर ने नारद जी से प्रश्न किया कि जो मनुष्य पूरी पृथ्वी की परिक्रमा करता है उसे क्या फल मिलता है।

---

1 विष्णुधर्मोत्तर पुराण –3/273/7और 9
पापाना पापशमनं धर्मवद्विस्तथा सताम्।
विज्ञेय सेक्ति तीर्थ तस्मातीर्थपरो भवेत् ।।
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रम निवासिनाम्।
तीर्थ फलप्रदं ज्ञेय नात्र कार्या विचारणा।।

2 अत्रि 50– 51

3 तीर्थ कल्पतरू पृष्ठ 11

4 पदम पुराण 6/237/41 –42 तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3/271/10 / शंख 8/12; स्मति च0 पृष्ठ 132
तीर्थ प्राम्यानुषगेण स्नानं तीर्थे समाचरेत् ।
स्नान फलमा[illegible]नोति तीर्थयात्रा फलं न तु ।।
तीर्थ कल्पतरू तीर्थ प्रकाश , पृष्ठ 36, प्रभासखण्ड
यश्चान्यं कारचेत् शक्त्या तीर्थयात्रा तथेश्वरः ।
स्वकीयद् व्ययानाश्यां तस्य पुण्यं चतुर्गुणम्।।

5 महाभारत, आरण्यक पर्व 82 अध्याय 7श्लोक
प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमर संनिभ।

[1]पुलस्त्य जी ने कहा कि जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबू में हों तथा जो विद्या,तप और कीर्ति से सम्पन्न हो वही तीर्थ सेवन का फल पाता है।

[2]जा प्रतिग्रह से दूर रहता है तथा जो अपने पास हो, उसी से संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकार का अभाव हो, वही तीर्थ का फल पाता है।

[3]जो दम्भ आदि दोषो से दूर, कर्तृत्व के अहंकार से शून्य, अल्पाहारी और जितेन्दिय हो वह सब पापों से विमुक्त हो तीर्थ के वास्तविक फल का भागी होता है।

[4]जिस व्यक्ति में कोध न हो जो सत्यवादी और दृढता पूर्वक व्रत पालन करने वाला हो तथा जो सब प्रणियों के प्रति आत्मभाव रखता हो,वही तीर्थ के फल का भागी होता है।

[5]ऋषियों ने देवताओं के उद्देश्य से यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञों का यथावत् फल भी बताया है, जो इस लोक और परलोक में भी सर्वथा प्राप्त होता है।

[6]दरिद्र मनुष्य यज्ञों का अनुष्ठान नहीं कर सकते, क्योकि उनमें बहुत सी सामग्रियों की आवश्यकता होती है। विभिन्न तरह के साधनों का संग्रह होने से उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है।

[7]इसीलिये राजा लोग या तो कही –कही कोई समृद्विशाली मनुष्य ही यज्ञो का अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनके पास धन की कमी और सहायको का अभाव है, जो अकेले और साधन शून्य है, उनके द्वारा यज्ञो का अनुष्ठान नहीं हो सकता।

किं फलं तस्य विप्तर्षी तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

1 9 वां श्लोक
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थ फल मश्नुते।।

2 10 वा श्लोक
पतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहंकार निवृत्तश्च स तीर्थ फल मश्नुते।।

3 11 वा श्लोक
अकल्कको निरारम्भो लध्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्त सर्वपापेभ्य स तीर्थ फल मश्नुते।।

4 12 वां श्लोक
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थ फल मश्नुते।।

5 13 वा श्लोक
ऋषिभि· क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम्।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः।।

6 14 वां श्लोक
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा . प्राप्तुं महीपते।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भार विस्तराः।।

7 15 वां श्लोक
प्रात्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्वैर्वा नेरैः क्वचित् ।

[1]जो सत्कर्म दरिद्र लोग भी कर सकें और जो अपने पुण्यों द्वारा यज्ञो के समान फल वाले हों वे इस प्रकार हैं।

[2]यह ऋषियों का परम गोपनीय रहस्य है। तीर्थ यात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है। वह यज्ञो से भी बढकर है।

[3]मनुष्य इसीलिये दरिद्र होता है कि वह तीर्थों में तीन रात तक उपवास नहीं करता, तीर्थों की यात्रा नहीं करता और सुवर्ण–दान और गोदान नहीं करता।

[4]मनुष्य तीर्थयात्रा से जिस फल को पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणा वाले अग्निष्टोम आदि यज्ञो द्वारा यः न करके भी नहीं पा सकता।।

नार्ग्न्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ।।

1 16 वां श्लोक
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधांवर ।।

2 17 वां श्लोक
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभि गमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।।

3 18 वां श्लोक
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते।।

4 19 वां श्लोक
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत्।।

प्रमुख तीर्थो का वर्णन

प्रयागः—

प्रयाग मात्र नदियों का ही संगम स्थल नही है अपितु भारतीय सस्कृति का भी सयोग केन्द्र है।

वैदिक साहित्य रामायण महाभारत, पुराणों और निबन्ध ग्रन्थो में प्रयाग के महात्म्य का वर्णन विस्तार से किया गया है। प्राचीन अभिलेखों, बौद्ध जैन ग्रन्थों और विदेशी यत्रियों के यात्रा वृत्तान्तों में यत्र–तत्र इस तीर्थ की चर्चा मिलती है। [1]महाभारत में सभी की यात्रा को प्रयाग के एक उपतीर्थ प्रतिष्ठान (झूंसी) में प्रतिष्ठित माना गया है।

प्रयाग तीर्थों में सर्वोच्च है। यहां रहने वाले संसार–संगार के पार भी देख सकते हैं। सचमुच यह मोक्षद्वार है जिसके दोनों भागों में बहने वाली गंगा और यमुना नदियां उसकी शोभा को बढ़ाती हैं।

प्रयाग' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है। [2]वनपर्व में आया है कि सभी जीवों के अधीरा ब्रह्मा ने यहां प्राचीन काल में यज्ञ किया था और इसी से 'यज्' धातु से 'प्रयाग' बना है। प्रयाग की पुण्य भूमि के बारे में मत्स्य पुराण ने भी यही कहा है।

स्कन्द पुराण[3] में इसे 'प्र' और 'याग' से युक्त माना है इसलिए कहा जाता है कि यह सभी यज्ञों से उत्तम है, । हरि हर आदि देवों नें इसे 'प्रयाग' नाम दिया है। त्रिस्थलीसेतु में भी ऐसा ही वर्णन है। मत्स्य पुराण ने 'प्र' उपसर्ग पर बल दिया है और कहा है कि प्रयाग और सभी तीर्थों की तुलना में अधिक प्रभावशाली है।

---

1 महाभारत, आरण्यक 114 वा श्लोक 85वां अध्याय
एवमेषा महाभाग प्रतिष्णने प्रतिष्ठता।
तीर्थयात्रा महापुष्याा सर्वपाप प्रमोचिनी।।

2 आरण्यक पर्व 87/18–19 ,
गंगा यमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम्।
यत्रायजत भूतात्मा पूर्व मेव पितामहः।
प्रयागमिति विरण्यातं इस्माद भरतंसन्तम।।

मत्स्य पुराण 109/15
तथा सर्वेषु लोकेषु प्रयागं पूलयेद वुधः।
पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठर।।

3 त्रिस्थली सेतु, पृष्ठ 13 , प्रथम अशं स्कन्द पुराण ,काशी 07/49
स्कन्द पुराण काशी ' प्रकृष्ट र्व यागेभ्यः प्रयागमिति गीयते ।
दृष्टवा प्रकृष्ट यागेभ्यः पुष्टेम्यो दक्षिणादिभिः।।

ब्रह्म पुराण का कहना है कि प्रकृष्टता के कारण यह प्रयाग है और प्रधानता के कारण यह 'राज' शब्द तीर्थराज से युक्त हे।

यह राज तीर्थराज से युक्त है[1]।

मत्स्य पुराण[2] का कहना है कि प्रयाग का विस्तार परिधि में पाच योजन है और जैसे ही कोई उस भूमिखण्ड में प्रवेश करता है उसके प्रत्येक पद पर अश्वमेघ का फल होता है।

[3]वनपर्व, मत्स्य पुराण आदि ने प्रयाग के क्षेत्रफल की परिभाषा इस प्रकार से दी है–'प्रयाग का विस्तार प्रतिष्ठान से वासुकि के जलाशय तक है और कम्बल नाग और अश्वतर नाग तथा बहुमूलक तक है यह तीनों लोको में प्रजापति के पवित्र स्थल के रूप में प्रसिद्ध है। [4]मत्स्य पुराण ने कहा है कि गंगा के पूर्व में समुद्र कूप है, जो प्रतिष्ठान ही है। त्रिस्थली सेतु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार दी है–पूर्व सीमा प्रतिष्ठान का कूप है, उत्तर में वासुकिह्रद है, पश्चिम में कम्बल और अश्वतर हैं और दक्षिण में बहुमूलक हैं। इन सीमाओं के भीतर प्रयाग तीर्थ है।

[5]नरसिंह पुराण ६३/१७ के अनुसार प्रयाग में विष्णु योगमूर्ति के रुप में हैं। मत्स्य पुराण[6] में कहा गया है कि कल्प के अन्त में जब रुद्र विश्व का नाश कर देते हैं उस समय भी प्रयाग का नाश

---

1 मत्स्य पुराण 110/11 ' प्रभावात्सर्वतीम्यः प्रमवत्यधिकं विभो।
ब्रहापुराण त्रिस्थल सेतु, पृष्ठ 13, प्रकृष्टत्वात्प्रयागोसो प्राधान्याद् राजशब्दवान।

2 मत्स्य पुराण 108/9–10,111/8, पदम पुासण 1/45/8,
पचचोजन विस्तीर्य प्रयागस्तु तु मण्डलम्।
वेष्टमात्रे तद्भूमावश्वमेघ. पदे पदे ।।
कूर्म पुराण 2/35/43– पचयोजन विस्तीर्ण ब्रहाण· परमेष्ठिनः।
प्रयागं प्रयितं तीर्थ यस्य मीहात्म्यभीरितम्।।

3 वनपर्व 85/76 –77
'प्रयागं सप्रतिष्णन करबलारव तरावुभै।
तीर्थ भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः।।
तत्र वदाश्च यज्ञाश्च मूर्ति मन्तो युधिष्ठिर'।।

4 मत्स्य पुराण 104/5, पदम पुराण 1/39/69–70,41/4–5
आ प्रयागं प्रतिष्ठानाधत्पुरा वासुकेईदात्।
कम्बलाखतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः ।
एतात् प्रजापते : क्षेत्रं जिषु लोकेषु विश्रुतम्।

5 नरसिंह पुराण 63/17

6 मत्स्य पुराण 111/4–10
प्रयागं निवसन्त्येते ब्रहा विष्णु महेश्वराः।
उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छधना ब्रहातिष्ठति।।
वेणी माधव रूपी तु भगवांस्तत्र तिष्ठति।
महेश्वरो वटो भूत्वा तिष्ठते परमेश्वरः।
ततो देवाः खगन्धर्वा· सिद्वाश्च परर्मषयः।

नहीं होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रयाग मं रहते हैं। प्रतिष्ठान के उत्तर में ब्रह्मा गुप्त रुप में रहते हैं, विष्णु वहां वेणी माधव के रूप में रहते है और शिव वहां अक्षयवट के रुप मे रहते हैं। इसी लिए गन्धर्वो के साथ देवगण, सिद्ध लोग और बडे–बडे ऋषिगण प्रयाग के मण्डल को दुष्ट कर्मों से बचाते रहते हैं। मत्स्य पुराण के समान ही कूर्म पुराण और पद्म पुराण मे भी यही बात कही गयी है।

मत्स्य पुराण[1] में कहा गया है कि यात्री को देवरक्षित प्रयाग में जाना चाहिये, वहां एक महीने तक रुकना चाहिये, वहा सम्भोग नही कना चाहिये, देवो और पितरो की पूजा करनी चाहिये और वांछित फल प्राप्त करना चाहिये।

मत्स्य पुराण[2] ने यह भी कहा है कि वहां दान करना चाहिये और इसमें वस्त्रों, आभूषणों और रत्नों से सुशोभित कपिला गाय के दान का वर्णन है।

मत्स्य पुराण[3] ने सामान्य तौर पर कहा है कि यदि कोई गाय, सोना, रत्न, मोती आदि का दान करता है तो उसकी यात्रा सुफल होती है और उसे पुण्य प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त जो कोई अपनी समर्थता और धन के अनुसार दान करता है तो तीर्थयात्रा की फल वृद्धि होती है, और वह कल्प के अन्त तक स्वर्ग में रहता है।

[4]वनर्पव में प्रयाग के बारे में कहा गया है कि यह ब्रह्मा की यज्ञ भूमि देवो द्वारा पूजित है और यहां पर थोड़ा भी दिया गया दान महान होता है।

गंगा और यमुना अपने जलीय वैशिष्टय के कारण सर्वविदित है देवात्मा हिमालय से निःसृत ये दोनों नदियां उत्तर भारत की सामाजिक आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था की रीढ़ हैं। इन दोनों नदियों की मिलन स्थली को विशिष्ट पवित्रता से युक्त माना गया है।

त्रिस्थल सेतु[5] में तीन नदियों का संगम' ऊँकार से सम्बन्धित माना गया है (ऊँकार शब्द ब्रह्म का द्योतक है) पुराण वचन ऐसा है कि ऊ के तीन भाग , अर्थात अ, उ और म् कम से

रक्षन्ति मण्डल नित्य पाप कर्म निवारणात्।।

1 मत्स्य पुराण 104/18

2 मत्स्य पुराण 105/16 –22

3 मत्स्य पराण 105/13– 14

4 वनर्पव 82 –83/77

5 त्रिस्थल सेतु पृष्ठ 8

ओमित्येकाक्षर ब्रहा पर बहामिषायकम्।
तदेव वेणी विज्ञेया सर्व सौख्यप्रदायिनी।।
अकार शारदा प्रोक्ता प्रधुरनज्ञतत्र जायेते।
उकारो यमुना प्रोक्तानिरूद्वस्तज्जलात्मकः।।
मकारो जान्हवी गंगा तत्र संगर्षणो हरिः।
एवं त्रिवेणी विख्याता वेद बीजं प्रकीर्तिता।।

सरस्वती, यमुना और गंगा के धोतक है और तीनो के जल प्रद्युम्न अनिरूद्ध और समर्पण हरि के प्रतीक है। गंगा और यमुना नदियों के धार्मिक माहात्म्य की गाथाओं से भारतीय वाङ्मय के अनेक स्थल भरे पड़े हैं। संगम के कारण ही प्रयाग तीर्थ राज है । प्रयाग और संगम का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, एक शरीर है तो दूसरा प्राण है। संगम विहीन प्रयाग की धार्मिक परिकल्पना कर पाना असंभव है संगम प्रयाग का मर्मस्थल है। प्रयाग की धार्मिक एवं सास्कृतिक महत्ता गंगा और यमुना की पवित्र धाराओं के साथ निरन्तर प्रवाहमान है। सभ्यता का मंगलमय प्रभात यहीं से आरम्भ होता है। यह संगम भारत की अनेक सभ्यताओं के प्रभात का प्रतीक है।

पद्रम पुराण[1] में प्रयाग की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि सात जन्मों से अर्जित ब्रह्म इत्यादि पाप इस तीर्थ के दर्शन मात्र से ही नष्ट ही जाते है। जो मनुष्य प्रयाग में देह त्याग करते है वे निश्चय ही विष्णु लोक को प्राप्त करते हैं। गंगा और यमुना का संगम प्राकृतिक और भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त भावनापूर्ण रहा है । देश में अनेक नदियों के संगम अतुलनीय है। आदिकाल से यह देव, दनुज और मानव सभी के आकर्षण का कमिक केन्द्र रहा है।

महाभारत के अरण्यक पर्व[2] में प्रयाग के विषय में कहा गया है कि – महार्षियों द्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थ में जाने पर वहां ब्रह्म आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य लोक सम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, मंदिर आदि निर्मल ब्रहार्षि , नाग , सुपर्ण सिद्ध सूर्य नदीं, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रहाा जी सहित भगवान विष्णु निवास करते है। वहा तीन अग्नि कुण्ड है,जिनके बीच से सब तीर्थो से सम्पन्न गंगा वेगपूर्वक बहती है। त्रिभुवन विख्यात सूर्य पुत्री लोक

---

1 पद्यम पुराण – उत्तरखण्ड 93 / 19
[illegible] पापनि, सत्त जन्माजितान्यपि।
दर्शनादस्य तीर्थस्य विनाशायान्तु तन्क्षणात।।

2 महाभरत ,आरण्यक पंव 85वा अध्याय, पृष्ठ –1206 श्लोक 69–75
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृणिसस्तुतम्।।
तत्र ब्रहाादयो देवा दिशश्र सदिगीश्रवराः।
लोकपालाश्र साध्याश्र पितरो लोक सम्मताः।।
संनत्कुमार प्रमुखाश्चैव परमर्षयः ।
अडिग्र : प्रमुखाश्चैव तथा ब्रहार्षयोऽमलाः।।
तथा नागाः सुर्पवाश्र सिद्वाश्रकचरास्तथा।
सरित. सागराश्चैव गन्धर्वात्सरसोऽपि च।।
हरिश्र भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृत.।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येने जाहावी।।
वेगेन समतिकान्ता सर्वतीर्थ पुरस्कृता।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता।
[illegible]ना गंगाया सार्धसंगता लोक पावनी ।

पावनी यमुनादेवी वहां गंगा जी के साथ मिली हैं। गंगा और यमुना का मध्य भाग पृथ्वी का जघन माना गया है।

[1]ऋषियों ने प्रयाग को जधन स्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर सहित प्रयाग कम्बल और अश्रतर नाग तथा भोगवती तीर्थ यह ब्रह्मा जी की वेदी है। उस तीर्थ में वेद और यज्ञ मूर्तिमान होकर रहते हैं और प्रजापति की उपासना करते है। तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहां यज्ञों द्वारा भगवान का भजन करते हैं। इसीलिये तीनों लोकों में प्रयाग को सब तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम् बताते हैं।उस तीर्थ में जाने से अथवा उसका नाम लेने मात्र से भी मनुष्य मृत्यु काल के भय और पाप से मुक्त हो जाता है।

माघ मास में संगम का बालुकामय प्रान्तर कथा प्रवचन तथा ज्ञान की चर्चाओं से ओत–प्रोत हो जाता है। वाणी अदृश्य मात्र उसकी रसानुभूति की जा सकती है। प्रयाग में माध के महीने में गंगा–यमुना–सरस्वती के संगम की परिक्ल्पना साकार हो उठती है।

[2]प्रयाग के विश्व विख्यात संगम में जो मनुष्य स्नान करता है उसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करने के बराबर पुण्य होता है।

[3]महाभारत में कहा गया है कि प्रयाग देवताओं की भूमि है इसलिये यहां पर थोड़ा दिया गया दान भी बहुत महत्व रखता है।

[4]अतः वैदिक वचन के अनुसार और लौकिक रुप से भी प्रयाग मे ही प्राण त्यागने की इच्छा रखनी चाहिये।

---

1 महाभारत, वनर्पव85 वां अध्याय ,पृष्ठ 1207 श्लोक संख्या –76–80
प्रयागं जधनस्थान मुपस्थमृषयो विदुः।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा।।
तीर्थ भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः।
तत्र वेदाश्र यज्ञाश्र मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ।।
प्रजापतिमुपासन्ते ऋबयश्र तपोधनाः।
यजन्ते क्रतुमिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः।।
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत।
प्रयागं सर्वतीर्थेम्य प्रवदन्त्यधिकं विमो।।
गमनात् तस्य तीर्थाम्य नाम संकीर्तणादपि।
नृत्यु काल भय च्चापि नरः पापात् प्रमुच्वते।।

2 81 –85
तत्रामिषेकं यः कुर्यात संगमे लोकविश्रुते।
पुण्यं स फलमात्नोति राजसूयाज्वमेधयोः।।

3 एबा यजनमूमिर्हि देवानाममिसंस्कृता ।
तत्र क्ष्न्तं सूक्ष्ममपि महर भवति भारत।।

4 न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि ।

प्रयाग के बारे में महाभारत मे कहा गया है कि यहां पर सदैव सा० करोड दस हजार तीर्थो का निवास रहता है। चारों विद्याओं के ज्ञान से जितने पुण्य की प्राप्ति होती है। तथा सत्य बोलने वाले मनुष्य को जितने पुण्य की प्राप्ति होती है। वह सब गंगा यमुना के सगम में मात्र स्नान करने से प्राप्त हो जाता है।

प्रयाग मे सायकांल नागवासुकि के नाम से प्रसिद्ध नाग देवता का मन्दिर है। प्राचीन काल मे भो" " के नाम से जाना जाता था। जो वहां स्नान करता है उसको अश्वमेध यज्ञ के बराबर फल मिलता है[2]।

जिस स्नान पर ब्रह्मा जी ने यज्ञ किया था वह स्थल नागवासुकि से कुछ दूरी पर है जो कि सायकांल दशाश्वमेघ नाम से जाना जाता है। वहीं त्रिलोक विख्यात हंस प्रयतन तीर्थ है[3]।

गगा के बारे मे कहा गया है कि उसमे जहां भी स्नान किया जाता है, वहीं कुरुक्षेत्र के बराबर पुण्य प्राप्त होता है । कनखल मे गंगा का विशेष महत्व रखता है लेकिन प्रयाग मे गंगा स्नान करने से सबसे तुलना मे अधिक फलदायी होता है[4]।

सैकड़ों पाप करने पर भी गंगा स्नान उन सब पापों को उसी तरह जला देती है जैसे कि अग्नि ईधन को जला देती है। सत्ययुग मे सभी तीर्थो मे जाने पर पुण्य की प्राप्ति होती है। त्रेता में पुष्कर तीर्थ का महत्व सर्वाधिक है। लेकिन द्वापर में कुरुक्षेत्र विशेष फलदायक है और कलियुग में गंगा का विशेष महत्व है[5]।

कुछ तीर्थो के बारे में कहा गया है कि वहां स्नान करके मनुष्य अपने आगे–पीछे की सात–सात पीडियों तक का उद्धार कर देता है ये तीर्थ है पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गंगा और प्रयाग ।

मति रूत्क्रमणीया ते प्रयाग मरण प्रति।।

1 दश तीर्थसहस्राणि वष्टि . कोटयस्तथापरा:।
येषा सानिध्यमजैव कीर्तित कुरूनन्दन ।।
चतुर्विधे च यत पुण्यं सत्यवादित्रु चैव यत्।
स्नान एव तदात्नोति गंगा यमुना सगमे।।

2 तत्र भेगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुन्त मम्।
तत्रामिषेकं यः कुर्यात सोडश्रवमेधफलं लभेत्।।1186महाभारत

3 तज हंस प्रपतनं तीर्थे सोडश्रवमेधफलं लभेत्। आरण्यक पर्व
दशाज्वमेधिकं चैव गंगायां कुरूनन्दन् ।। 87

4 कु॰क्षेजसमा गड़ग यत्र तजावगाहिता।
विशषो वै कनरवले प्रयागे परमं महत् ।। 88

5 यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गंगामिषेचनम ।
सर्व तत् तस्य गंगाम्भो दहत्यग्रिरिन्धनम्।। 89
संर्व कृतयुगे पुण्यं जेतायां पुष्कंर स्मृतम्।
द्वापरेडपि कुरूक्षेत्रं गंगा कलियुगे स्मृता।। 90

सदा हिमालय की गोद में रहने वाली[1] गंगा के विषय में कहा गया है कि गंगा जी का नाम लेने मात्र से ही वह सारे पापों को धो डालती है और मनुष्य को पवित्र कर देती है। और दर्शन करने पर कल्याण करती है। तथा स्नान और जलपान करने पर गंगा मनुष्य की सात पीड़ियों तक को पावन बना देती है[2]।

स्वर्ग लोक मे मनुष्य तब तक घूसित होता रहता है जब तक कि मनुष्य की हडडी गंगा जल का स्पर्श करती रहती है[3]।

ब्रह्माजी का कहना है कि गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं , भगवान विष्णु के समान कोई देवता नहीं और ब्रह्मणों से उत्तम कोई वर्ण नहीं हैं[4]।

गंगा के विषय में कहा गया है कि जहां गंगा बहती हैं वही उत्तम देश है और वही तपोवन है गंगा के तटवर्ती स्थान को सिद्विक्षेत्र समझना चाहिये[5]।

गंगा के विषय में इस सिद्व सिद्धान्त को ब्रहाण और द्विजो और साधु सन्तों, पुत्र, सुध्दों, शिष्य वर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्यों के कान में कहना चाहिये[6] ।

गंगा महात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्ग ले जाने वाला और परम उतम है। यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उतम, धर्म संगत और श्रेष्ठ हैं[7]।

गंगा महात्म्य महार्षियों का गोपनीय रहस्य है। यह सभी पापों का नाश करता है। द्विज मण्डली में इस गंगा माहात्म्य का पाठ करने से मनुष्य निर्मल होकर स्वर्ग लोक में पहुँच जाता है[8]।

1 पुष्करे तु कुरूक्षेत्रे गंगायां मध्यमेषु च।
स्नात्वा तारयेत जन्तु . सप्तसप्तावरास्तथा । 92

2 पुनाति कीर्तिता पापं दृष्य भद्र प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासपृम कुल्म्।। 93

3 यावदस्थि मनुष्यस्य गगायाः स्पृराते जलम् ।
तावत् स पुरूषो राजन् स्वर्ग लोके महीचते।। 94

4 न गगासदृशं तीर्थे न देवः केशवात् परः।
ब्रह्मणेश्यः परं नस्ति एवमाह पितामह. ।। 96

5 यत्र गंगा महाराज स देशस्तत् तपोवनम् ।
सिद्वि क्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गंगा तीर समाश्रितम्।। 97

6 इद सत्यं द्विजातीनां साधुनामात्मजस्य च ।
सुहदां च जयेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च 1198

7 इद धन्यमिदं मध्यमिदं स्वर्गमनूत्तमम् ।
इद पुष्यमिदं रम्यं पावनं धम धर्म्यमुन्तमम्। 99

8 महार्षीणामिदं गुहां सर्वपापप्रमोचनम्।
अधीत्य द्विज मध्ये च निर्मिलः स्वर्गमाप्नुयात।। 100

संगम केन्द्र है, उसके चारो ओर षट्कूलोप लक्षित भूमि प्रयाग है और प्रयाग का चतुर्दिक प्रभाव क्षेत्र प्रयाग मण्डल है। इन तीनों में परिमाण की दृष्टि से वेणी से बडा प्रयाग और प्रयाग से बड़ा प्रयाग मण्डल है, किन्तु प्रभाव और पवितता की दृष्टि से इनके कम विपरीत हैं। संगम अधिकतम प्रभावशाली पुण्यस्थली है उससे कम प्रयाग और उससे भी कम प्रयाग मण्डल ।

नारदीय पुराण[1] में गंगा यमुना के संगम को प्रयाग का दृढय कहा गया है। पतित–पावनी गंगा एवं सूर्यपुत्री यमुना नामक देवनदियों की संगम स्थली है । [2]पुराणों में इसका विस्तार १२० फीट या ८० हाथ बताया गया है।

संगम के सन्दर्भ मे वितृन्तोम्त पौराणिक मानदण्ड अद्यत नसार्थक प्रतीत होता है। क्योकि शरद से ग्रीष्म ऋष्तु पर्यन्त संगम का निरीक्षण करने पर संगम की समिलित धारा की चौड़ाई इससे अधिक नहीं मालुम होती। संगम एक स्थान पर नहीं रहता।

इस वर्ष किले से २ मील पूर्व अरैल में स्थित आदि वेणी माधव मंदिर के सामने है तो अगले वर्ष किले के समीप भी हो सकता है। वर्षा काल में तो किले के नीचे ही संगम हो जाता है। बादशाह अकबर द्वारा तटबन्ध बनवाने से पूर्व यह संगम वर्षा काल में बलुआ घाट के आस–पास होता है और अन्य ऋतुओ में झूसी से बलुआ घाट के मध्य कहीं भी हो जाता था।

यूँ तो प्रयाग में कहीं भी गंगा–यमुना में किया गया स्नान पुण्यदायी है किन्तु तीर्थराज प्रयाग में किया गया अति विशिष्ट तब हो जाता है जब वह संगम में किया गया हो।

गंगा –यमुना संगम पर यज्ञ , क्षाद्व , तर्पण, दान, आदि कृत्य से इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है।

मत्स्य पुराण[3] के अनुसार दुखी, दीन अथवा वृद्ध नर–नारी यहां प्राण त्याग करने पर स्वर्ग प्राप्ति, के अधिकारी हो जाते है। उन्हें स्वर्ग में गन्धर्वी एवं अत्सराओं के बीच में नैसर्गिक सुख प्राप्त होता है। और उनकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है।

---

1 नारदीय पुराण – धनुर्विंशतिविस्तीर्णे सितनीलाम्बुसगमे।
माधा दपुनरावृन्ती राजसूयात पुनर्भवेत् ।।

2 पद्यम पुराण – धनुर्विंशति विस्तीर्णे सितनीलाम्बुसंगमें।
अपुनरावृन्तीर्माधी राजसूयी पुनर्भवेत् ।।

3 मत्स्य पुराण– व्याधितो यदि वा दीनो वृद्धो वापि भवेन्नरः।
गंगा यमुनोर्मध्ये यस्तु प्राणान्परित्यजेत।।
दीत्तकाज्चनवर्णा भैविमानै सूर्यसन्निभैः।
गध्धर्वात्सरसां मध्ये स्वर्गे कीडति मानवः।
ईत्सिवान् लभते कामान वदन्ति मुनिपुङ्गवाः।।

[1]जो लोग प्रयाग मे मरते हैं वे पुनः जन्म नही लेते मत्स्य पुराण मे ऐसा कहा गया है।

सगम क्षेत्र मे प्राणोत्सर्ग करने के माहात्म्य से सम्बन्धित अनेक वचन पुराणों में भरे पडे हैं। इतिहास साक्षी है कि उत्तर गुप्त नरेश कुमारगुप्त, चन्देल शासन धंगदेव, मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान कुमारिल यहा आदि ने यहां शरीर त्याग किया था।

माध मास में गंगा –यमुना के संगम क्षेत्र में नियमपूर्वक वास चूकि यज्ञ सम्पादन जैसा फलदायी है अतः इसे कलपवास कहते हैं। वेदोक्त यज्ञ–यागदि कर्म ही कल्प कहे गये है। यद्यपि कल्पवास शब्द का प्रयाग पौराणिक साहित्य में नही मिलता तथापि लोक में यह शब्द माघ मास में संगम क्षेत्र में वास के लिये व्यवझत है।

यह कल्पवास पौष शुक्ल एकादशी से माघ शुक्ल द्वादशी पर्यन्त एक मास का होता है। इस काल में उपवास, स्नान–त्रिकाल विष्णु पूजा, भोंगो का त्याग इन्द्रियों पर नियन्त्रण आदि नियमों का कल्प वासियों के लिये विधान है। संगम तीर्थ सेवी को शान्त मन वाला, जिन्तन्दिय एवं सदाचारी होना चाहिये।

[2]माघ मास में स्नान करने की महत्ता का वर्णन अनुशासन पर्व, कूर्म पुराण, नारदीय पुराण आदि में कहा गया है।

[3]पद्य पुराण, कूर्मपुराण , और अग्निपुराण आदि पुराणों ने माघ मास में तीन दिनो तक स्नान का वर्णन तीन करोड़ गौओ के दान के बराबर किया है।

---

1 स्कन्द पुराण काशीखण्ड 8/13, मत्स्य पुराण 182/22–25
ब्रहाज्ञानेन मुच्यन्ते नान्यथा जन्तव क्वचित्।
ब्रह्मज्ञाननये क्षेत्रे प्रयागे वा तनुत्यज ।।
ब्रहाज्ञान तदेवाह काशी सस्थितिभगिनाम्।
दिशामि नारकं प्रान्ते मुच्यन्ते ते तु तत्क्षणात्।।
साक्षान्मोक्षो न चैतासु पुरीषु प्रियभाषिणि ।
यहां भगस्त्य ने लोपा मुद्रा से कहा है।)

2 अनुशासन पर्व –25/36 –37 कूर्म पुराण 1/38/1; मत्स्य पुराण 107/7
दश तीर्थ सहस्राणि वष्टि कोट्य स्तथापराः।
समागच्छन्ति माध्यां तु प्रयागे भरर्तषम।।

3 अग्नि पुराण 111/10 –11 , पद्य पुराण आदिखण्ड 44/8 और कूर्म पुराण 1/38/1
गवा कोहि प्रदानाद्यत् त्रयहं स्नानस्य तत्फलम ।
प्रयागे माघमासे तु एव माहुर्मनीत्रिण : ।।

पद्य पुराण आदिखण्ड 44/8 – गवां शत सहस्रस्य सम्यग्दन्तस्य यत्फलम्।
प्रयागे माधमासे तु जयहं स्नातस्य तत्फलम्।।

काशी

विश्व इतिहास में काशी की गणना इतिहासकारों की दृष्टि में सबसे प्राचीन नगर के रुप मे की जाती है। लगभग तीन सहस्राब्दियों से काशी न सिर्फ हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को जगा रहा है बल्कि भारत के दो बडे धर्म बौद्ध धर्म और जैन धर्म का भी यहा विस्तृत पैमाने पर प्रचार होता रहा है।

हिन्दुओं के लिये काशी नगर अटूट धार्मिक पवित्रता, और पुण्यार्जन का केन्द्र है। काशी भारत का प्राचीनतम विद्या केन्द्र और सांस्कृतिक नगर है।

[1]काशी की वेदों मे कई जगह चर्चा हुयी है। [2]शतपथ ब्राहाण मे एक गाथा है जिसमें यह वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार भरत ने सत्वत् लोंगों के साथ व्यवहार किया था, उसी प्रकार सत्राजित के पुत्र शतानीक ने काशी लोगों के पुनीत यज्ञिक अरव को भगाकर दिया था।

[3]शतपथ ब्राहाण में ध्रतराष्ट्र वियित्रवीर्य को काश्य कहा गया है।

[4]गोपथ में 'काशी कोशलाः' का समास आया है।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया में[5] काशियों की राजधानी वरुणावती पर स्थित थी ।

[6]ब्रहदारणयकोपनिषद् और कौबीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि अहंकारी वाला कि गार्ग्य काशी के राजा अजातशत्रु के पास इसलिए गया कि वह राजा को ब्रहाज्ञान सिखाऐगा

[7]पाणिनी में 'काशीयः' रुप आया है। [8]पाणिनी के वार्तिक के महाभाष्य में हमें 'काशि–कोसलीयाः' का वर्णन मिलता है।

[9]महाभाष्य में मथुरा और काशी के समान लम्बाई–चौड़ाई वाले वस्त्र के मूल्य में अन्तर

---

1 ऋक 7/108/8 'आप इव काशिना संगृभीता
ऋग्वेद 3/30/5 'मद्यवन । काशिरिते'

2 शतपथ ब्राहाण 13/5/4/19;21 ' यज्ञ : काशीनां भरतः सात्वतामिव'
तदेतद गाथयामिगीतम् ।
शतानीक समन्तासु मेध्यं सात्राजितो ध्यम्।
आदन्त यज्ञ काशीनां भरत. सत्वतामिवेति।।

3 शतपथ ब्राहाण 14/3/1/22

4 पूर्वभाग ,2/9

5 कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाव इण्डिया ' जिल्द ।' पृष्ठ 117

6 ब्रहदारण्यकोपनिषद् 2/1/1 और कौबीतकि उपनिषद् 4/1

7 पाणिनी 4/2/113

8 पाणिनी 4/1/54 जिल्द 2, पृष्ठ 223

9 महाभाष्य जिल्द 2, पृष्ठ 223

बताया गया है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि शतपथ ब्राह्मण के लिखे जाने के काफी पहले से ही काशी एक देश का नाम था और यही नाम पतंजलि जिसका समय एक देश का नाम था और यही नाम पतंजलि जिसका ई० पू० दूसरी शताब्दी है के समय तक चला आया ।

[1]हरिवंश ने दिवोदास और वाराणसी के बारे मे एक लम्बी लेकिन अस्पष्ट गाथा दी है।

[2]महाभाष्य में पतअजलि ने वाराणसी को गगा के किनारे स्थित कहा है, और पाणिनी के भाष्य में इन्होंने कहा है कि व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' कहते थे।

[3]बौद्ध ग्रन्थों यह पता चलता है कि वाराणसी बुद्ध के समय तक पांचवी शताब्दी ई० पू० तक प्रसिद्ध नगरों की श्रेणी में आ गयी थी। काशी के अतिरिक्त उस समय के अन्य प्रसिद्ध नगर चम्पा, राजगृह, आवस्ती, साकेत और कौशाम्बी थे।

गौतम बुद्ध गया में ज्ञान प्राप्त करने के बाद वाराणसी के सारनाथ में आकर धर्मचक्र प्रर्वतन किया। इससे यह पता चलता है कि वाराणसी उस समय तक आर्यो की संस्कृति का केन्द्र बन चुकी थी ।

कई जातक कथाओं में वाराणसी के राजा ब्रह्मदन्त का वर्णन मिलता है।

[4]मत्स्य पुराण ने एक ही तरह की उपाधि वाले सैकड़ो राजाओं का वर्णन किया है और कहा है कि १०० ब्रहादत्य और १०० काशि और कुश थे।

[5]बुद्धचरित में अश्वपोष ने वाराणसी और काशी को एक सा कहा है– भगवान बुद्ध ने वाराणसी में प्रवेश करके और अपने प्रकाश से नगर को देदीत्यमान कर के काशी के निवासियों के मन में कौतुक भर दिया। [6]मत्स्य पुराण ने वाराणसी को प्रयाग की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है।

---

1 अनुशासन पर्व 30/10 , अध्याय 29
'शिष्वपि मृपो राजन दिवोदासपितामहः।
हर्यश्व इति विरण्यातो वभूव जनतां वरः।।

2 पतअजलि का महाभाष्य जिल्द 1, पृष्ठ 380
पाणिनी का भाष्य 4/3/84 जिल्द2, पृष्ठ 313

3 महा परिनिष्वान सुत और महासुदस्सनसुत, सैक्रेड बुक भावदि ईस्ट, जिल्द 11 पृष्ट 19 और 247

4 मत्स्य पुराण 273/72 –73 ।
शतमेकं धार्तराष्ट्रा ह्यशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं वै ब्रहारन्तानां वीराणां कुखः शतम् ।
ततः शतं च पंचालाः शतं कशिकुशादयः।।

4 बुद्ध चरित 15/101
वाराणसी प्रविश्याथ भासा सम्भासयज्जिन.।
चकार काशी देशीयान कौतुका कान्तचेतसः।।

5 मत्स्य पुराण , 180 /57
प्रयागादपि तीर्थाग्रदादिदमेव महत्स्मृतम्।

वाराणसी के सन्दर्भ में मत्स्य पुराण मे कहा गया है कि नमिष,कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार तथा पुष्कर तीर्थो के सेवन तथा स्नान से मोक्ष नहीं मिलता, लेकिन काशी तीर्थ की यह विशेषता है कि यहां पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

[2]काशी में किया गया जप, दान, यज्ञ, तपस्या, ध्यान तथा अध्ययन आदि कभी नष्ट नही होते । [3]ब्राहाण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, कृमि, म्लेच्य, पापयोनि मे उत्पन्न नीच मनुष्य, कीट, चीटें, तथा पशु–पक्षी काल के प्रभाव से यदि अविमुक्त क्षेत्र मे शरीर त्यागते हैं तो उन्हें शिव की पुरी का आनन्द मिलता है।

[4]पृथ्वी पर मनुष्य को बिना योग किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, पर अविमुक्त वासी को योग और मोक्ष दोनो प्राप्त होते हैं।

[5]मत्स्य पुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य अविमुक्त में पत्थर के टुकड़ो से पैरों को तोड़कर प्राण –त्याग करता है, उसे शिव पद प्राप्त होता है।

[6]इस तीर्थ में दान, यज्ञ, तथा जलाभिषेक करने से शिव का साक्षात्कार होता है।

[7]जो मनुष्य सुवर्ण की सींगों वाली, रजत–जटित खुरों वाली, सुन्दर वस्त्र तथा चमडो वाली तथा दूध देने वाली सवत्सा गौ को कांस्य –पात्र के साथ वेदज्ञ ब्राहाण को प्रदान करता है, वह

---

1 मत्स्य पुराण 180/55
नैमिषेज्थ कुरूक्षेत्रे गंगाद्वारे च पुष्करे।
स्नानत्संसेपिताद्वाडपि न मोक्ष : प्रात्यते यत।
इह सप्रात्यते येन तत एतद्विशिष्यते।

2 मत्स्य पुराण , 180/17
ध्यानमध्ययनं दानं सर्व भवति चाक्षयम्।

3 मत्स्य पुराण 181/19–21
ब्रहाणा क्षत्रिया वैश्या : शूद्रा वै वर्ण संकराः ।
कृमिम्लेच्छाश्च ये चान्यें संकीर्णाः पापयोनयः।
कीटाः पिपीलकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणाः।
कालेन निधनं प्राप्ता अवितुक्ते शृणु प्रिये।
शिवे मम पुरे देवि मोदन्ते तत्र मानवैः।

4 मत्स्य पुराण 185/15 –16
न हि योगादृते मोक्षः प्रात्यते भुवि मानवैः।
अविमुक्ते निवसतां योगो मोक्षश्य सिध्यति।

5 मत्स्य पुराण , 181/23 अश्मना चरणौ भित्वा तत्रैव निधनं व्रजेत्।

6 [illegible]स्य पुराण ,183/18
स[illegible]द्रानानि यो दद्यात्सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सर्वतीर्थामिषित्तश्च स प्रपद्यते मामिह।

6 मत्स्य पुराण,183/67
सौवर्णश्रृगी रौल्दखरां चैलरणिणपयस्विनीम्।
वाराणस्यां तु यो दद्यात् संवत्सां कास्यभाजणाम्।।

अपने पूर्वगामी सत्तकुल का उद्वार करता है।

[1]वाराणसी के अतिरिक्त इस तीर्थ को काशी, अविमुक्त तथा श्मशान नाम दिये गए हैं। अविमुक्त नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि यहां शिव सदैव सन्निहित रहते हैं।

[2]वाराणसी की सीमा वरणा से असी तक बतायी गयी है।

वाराणसी को श्मशान की संज्ञा भी दी जाती हैक्योकि यह स्थान परम् गुह्य है और इसके चारों ओर भूत, प्रेत, पिशाच और मातृकाएं रहती हैं।[3]

वाराणसी के पांच उपतीर्थो की गणना हुयी है–दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, बिन्दुमाधव और मणिकार्णिका इन्हीं पांच श्रेष्ठ तीर्थे के साथ अविमुक्त का वर्णन किया जाता है।[4]

[5]वाराणसी की महत्ता का वर्णन वायु और ब्रहाण्ड पुराणों मे भी कहीं गयी है। इसमें वर्णन मिलता है कि वाराणसी में योगेश्वर शंकर का नित्य निवास रहता है। इसलिये यहां श्राद्व करने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है।

[6]कई पुराणों में काशी का वर्णन विशेष रुप से प्राप्त होता है।

---

1 मत्स्य पुराण ,181/15 – तत्क्षेत्र न माया मुक्तमविमुक्त तत स्मृतम्।

2 वही 183/19 – वरणाडसी नदी दावतावच्छुम्ल नदी तु वै।

3 वही 184/12 – भूतप्रेत पिशायाश्च गणाः मातृगणास्तधा।
श्मशाननिक पडीवाराः प्रियास्तस्य महात्मन।

4 वही, 185/65–66 तीर्थानां पंचकं सारं विश्वशानन्दकानने।
दशाश्वमेघं लोलार्क केशवो बिन्दुमाधव. ।
पचमी तु महाश्रेष्ण प्रोच्यते मणिकर्णिका।
एमिस्तु तीर्थर्क्येश्च वण्यते हविमुक्तकम्।

5 वायु पुराण, 77/93; ब्रहाण्ड पुराण, 3/13/101
वाराणस्यां नगर्या तु देयं श्राद्वं तु यत्नतः।
तपस्यां योगेश्वरो नित्यं ततस्यो दतमक्षयम्।

6 मत्स्य पुराण अध्याय 180 –185 कुल 411 श्लोक –200–400 ई0
कूर्म पुराण 1/31 –35, कुल 226 श्लोक –200– 550 ई0
अग्नि पुराण 112, – 600 – 900 ई0
स्कन्द पुराण, काशीखण्ड अध्याय6, 26/2–5– 700– 900 शती के मध्य
लिंग पुराण पूर्वार्ध, अध्याय 92, कुल 190 श्लोक – 800 – शती
पद्म पुराण आदिखण्ड 33–37 कुल 170 श्लोक – 900 – 1500 ई0
नारदीय पुराण उत्तरखण्ड, अध्याय 48–51 –1000 – शती का पूर्वार्द्व

[1]पद्य पुराण में कहा गया है

कि ऋषियो ने भृगु जी से पांच प्रश्न पूछे , जैसे कि –काशी की महत्ता क्या है? इसे कैसे समझा जाय ? कौन लोग यहां जायें? इसका क्षेत्र क्या है? तथा काशी को कैसे प्राप्त किया जाय? स्कन्द पुराण में भी ऐसे प्रश्न किये गये हैं। कब से यह अविमुक्त अति प्रसिद्ध हुआ? इसका नाम अविमुक्त क्यों पड़ा? यह मोक्ष का साधन कैसे बना? किस प्रकार मणिकार्णिका का कुण्ड तीनों लोकों का पूज्य बना? जब गंगा वहां नहीं थी तो वहां पहले क्या था? इसका नाम वाराणसी कैसे पड़ा? यह नगर काशी एवं रुदावास क्यों कहलाया और आनन्दकानन कैसे हुआ इसके अतिरिक्त अविमुक्त और महाश्मशान क्यों हुआ।

[2]स्कन्द पुराण में वर्णन मिलता है कि काशी इसलिये प्रसिद्ध हुयी क्यों कि ये निर्वाण के मार्ग में प्रकाश फेंकती है या फिर इसलिये कि यहां अनिवर्जनीय ज्योति जिसका अर्थ है देव शिव, आसमान है ।

[3]कुछ पुराणों ने वाराणसी की उत्पत्ति इस प्रकार से बतायी है कि यह वरणा और असि नामक दो धाराओं के बीच में है वरणा उत्तरी सीमा और असि दक्षिणी सीमा बनाती है।

---

1 पद्य पुराण पातालखण्ड, त्रिस्थली सेतु, पृष्ठ 72
किं माहात्म्यं कथ वेद्यं सेग्या कैश्च द्विजोन्तम।
परिमाण च तस्यां : किं केनोपायेन लश्यते।।
स्कन्द पुराण काशीखण्ड 26/2–5 अविमुक्तमिद क्षेत्रं कदारम्य भुवस्तले।
परां प्रथितिमापनं मोक्षदंचामवत्कथम्।।
कथमेबा जिलोकीड्या गीयते मणिमर्णिका।।
तत्रासीत्किं पुर· स्वामिन् यदा नामइनिग्नगा।।
वाराणसीति काशीति रूदा वास इति प्रभो । अवाध नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी।।
आनन्दकाननं रम्यमविमुक्तमनन्तरम् । महाश्मशानमिति च कथ ख्यातं शिखिध्वज ।।

2 स्कन्द पुराण, काशीखण्ड 26/67

3 मत्स्य पुराण, 183/62; –200 –400ई0
अग्नि पुराण, 112/6; –600–900ई0
वामन पुराण, श्लोक 38 – 700– 800 ई0
स्कन्द पुराण, काशीखण्ड 30/69–70; –700 –900शती के मध्य
पद्य पुराण, आदिखण्ड 33/49; – 900– 1500 ई0

[1]अविमुक्त को निषेधात्मक 'न' जिसके लिये 'अ' रखा गया है लगाकर समझाया गया है, और विमुक्त त्यक्त के साथ 'न' 'अ' को जोडकर उसकी व्याख्या की गयी है। बहुत से पुराणों के अनुसार इस पवित्र स्थल का नाम अविमुक्त इसलिये पड़ा कि शिव ने इसे कभी नहीं छोड़ा

[2]लिंग पुराण में एक और व्युत्पत्ति दी हुई है, 'अवि' का अर्थ है 'पाप' इसलिए यह पाप से मुक्त है ।

वाराणसी शिव जी को अति प्रिय थी, यह उन्हें आनन्द प्रदान करती थी। इसलिये यह आनन्द कानन या आनन्दवन कही जाती है।

[3]वाराणसी और नदियों के बारे में कुछ पुराणों में रहस्यात्मक रुप दिखता है। जैसे कि काशी खण्ड में आया है कि असि इडा नाड़ी है, वरणा पिंगला है, अविमुक्त सुषुमना है और वाराणसी तीनो है।

[4]तीर्थ चिन्तामणि और त्रिस्थलीसेतु ने यही बात दूसरे ढ़ग से की है कि असि, वरणा और मत्स्योदरी पिंलगा, इडा और सुषुमना है।

---

1 स्कन्द पुराण काशीखण्ड 26/27; त्रिस्थलीसेतु , पृष्ठ 89;
मुने प्रलयकालेपि न तत्क्षेत्र कदाचन।
विमुक्तं हि शिवाम्यां यद विमुक्त ततो विदुः।।
लिंग पुराण , पूर्वार्ध, 92/45 –46 ,
नारदीय पुराण, उत्तरखण्ड, 48/24 में ;
मत्स्य पुराण,180/54 और 18रु15;
अग्नि पुराण,112/2
लिंग पुराण,1/92/104– विमुक्तं न माया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन।
मम क्षीत्रमिद तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्।

3 लिग पुराणपूर्वार्ध्द्ध, 92/143
अविशब्देन पापस्तु वेदोक्त कथ्यते द्विजैः।
तेन मुक्त मया जुष्टमविमुक्तमतोच्यते।।

4 स्कन्द पुराण ,काशीखण्ड 5/25; लिंग पुराण 5/25--
स होवाचेति जावालिरारूणेडसिरिडा मता। वरणा पिंगला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्।।
सा सुषुम्ना परा नाजी त्रयं वाराणसी त्वसौ ।।
नारदीय पुराण उत्तरखण्ड, 47/22–23 ; लिंग पुराण, तीर्थ चिन्तामणि, पृष्ठ 341, त्रिस्थली सेतु,पृष्ठ 78–79
पिंगला नाम या नाडी आग्नेयी या प्रकीर्तिता।
शुष्का सरिच्च साज्ञेया लोलार्की यज तिष्ठति।।
इडानारनी च या नाडी सा सौम्या संप्रकीर्तिता।
वरणा नाम सा ज्ञेया केशवो यत्र सस्थितः।।
आभ्यां मध्ये तु या नाडी सुबुम्ना सा प्रकीर्तिता।
मत्स्योदरी च सा ज्ञेयाविषुवं तत्प्रकीर्तितम्।।

[1]पुराणों में चर्चा मिलती है कि काशी में पद–पद पर तीर्थ हैं, एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहां लिंग न हो शिव का प्रतीक न हो।

[2]स्कन्द पुराण ने विश्वेश्वर और अविमुक्तेश्वर को अलग–अलग लिंग माना है विश्वनाथ के अतिरिक्त यात्री लोग बनारस में पांच तीर्थो की यात्रा करते हैं। मत्स्य पुराण कहता है कि विश्वेश्वर के आनन्द कानन मे प्रमुख रुप से पांच तीर्थ है– दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, बिन्दुमाधव और मणिकार्णिका ।

[3]काशी के बारे में पुराणों में कहा गया है कि यह आद्य वैष्णव स्थान है। पहले काशी भगवान माधव की पुरी थी। ऐसी धारणा है कि एक बार भगवान शंकर ने ब्रहाजी का सिर काट लिया और वह सिर उनके करतल से संलग्न हो गया। वे १२ वर्षो तक बदरीनारायण, कुरुक्षेत्र , ब्रहाहद आदि मे घूमते रहे । लेकिन वह सिर से अलग नहीं हुआ । अन्त में जैसे ही उन्होने काशी की सीमा में प्रवेश किया, ब्रह्महत्या ने उनका पीछा छोड़ दिया और स्नान करते ही कर संलग्न कपाल भी अलग हो गया। जहां वह कपाल छूटा, वही कपाल मोचन तीर्थ कहलाया। फिर भगवान विष्णु से प्रार्थना करके उन्होंने उस पुरी को अपने नित्य आवास के लिये मांग लिया। जहां भगवान के नेत्रो से आनदाश्रु गिरे थे, वह बिन्दु सरोवर कहलाया और भगवान बिन्दुमाधव नाम से प्रतिष्ठित हुए।

[4]स्कन्द पुराण में काशी के विषय में कहा गया है कि 'जो पृथ्वी पर होने पर भी पृथ्वी से सम्बन्ध नहीं है मतलब साधारण धरती नहीं है और तीनों लोंको से न्यारी है,

जो अधः स्थित नीची होने पर भी स्वर्गादि लोकों से भी अधिक प्रतिष्ठित और उचतर है, जो जागतिक सीमाओं से आबद्ध होने पर भी सभी का बन्धन काटने वाली मोक्षदयिनी है, और जो सदा त्रिलोक पावनी भगवती भागीरथी के तट पर सुशोभित तथा देवताओं से सुशोवित है, वह त्रिपुरारि भगवान विश्रनाथ की राजनगरी सम्पूर्ण जगत को नष्ट होने से बचाये।

---

1 स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, 59/1/8,
तीर्थानि सन्ति भूयांसि काश्यामत्र पदे पदे।
न पज्चनदतीर्थस्य कोट्यशेन सकान्यापि ।।
काशीखण्ड 10/103 तिलान्तरापि नो काश्या भूमिलिग बिना वचित्

2 स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, 10/9/93 मत्स्य पुराण 185/68–69
काशीखण्ड, 10/83, 46/45–46

3 स्कन्द पुराण, काशीखण्ड; ब्रहन्नारदी0 उतर0 अ0 29/1–72; उ0 48/9–12/

3 स्कन्द पुराण, काशीखण्ड 1/1
भूमिल्णापि न यात्र भूमिदिवतोडप्युचैरधः स्थापि या
या बडा भुवि मुक्िदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः ।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतनगरी तीरे सुरैः सेव्यते
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादयाज्जगत्।।

[1]नारदीय पुराण में कहा गया है कि काशी परम रम्य ही नहीं, त्रिलोकी का सार है। काशी में जाने पर मनुष्य को सद्गगति प्रदान करती है। अनेक पापाचारी भी यहां आकर पापमुक्त होकर देववत प्रकाशित होने लगते हैं।'

[2]अवन्तिका आदि सात मोक्षपुरियां हैं, लेकिन वे कालान्तर में काशी प्राप्ति कराके ही मोक्ष प्रादन करती हैं। काशी ही एक पुरी है जो साक्षात् मोक्ष देती है।

[3]"काशीखण्ड' का कहना है कि मैं कब काशी जाऊँगा, कब शंकर जी दर्शन करुँगा' इस प्रकार जो सोचता तथा कहता है, उसे सदैव काशी में निवास का फल प्राप्त होता है।

[4]काशीखण्ड मे कहा गया है कि जिनके हृदय मे काशी सदैव विराजमान है, उन्हें संसार –सर्प के विष से क्या भय है।

[5]जिसनें काशी नामक दो अक्षरों का अमृत पान कर लिया है उसे गर्म की व्यथा कथा नहीं सुननी पड़ती ।

[6]जो मनुष्य दूर से भी काशी–काशी नाम का स्मरण करता है और सदा जपता रहता है वह मनुष्य अन्य कहीं रहकर भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

---

1 नारदीय पुराण उत्तरखण्ड 48/13
वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूता
रम्या नृर्णा सुगतिदा किल सेव्यमाना ।
अन्नागता विविधदुष्कृतकारिणोडपि
पापक्षये विरजसः सुमन : प्रकाशाः।।

2 - 'शीखण्ड 0
अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशी प्राप्तिकराणि च ।
काशी प्रात्य विमुच्येत मान्यता तीर्थ कोटिभिः।।

3 काशीखण्ड 'कदा काश्यां गमिष्यामि कदा दक्ष्यामि शङ्रभ्।
इति बुवाणः सवतं काशीवास फंल लभेत्।।

4 काशीखण्ड, अध्याय
येषां दद्वि सदैवास्ते काशी त्वाशीविबाड़दः।
संसाराशीविषविबं न तेबां प्रभवेत कचित्।।

5 काशीखण्ड, अध्याय 64
श्रुतं कर्णामृतं येन काशीत्यक्षरयुग्मकम्।
ा समाकर्णयत्देव स पुर्नगर्भजा कथाम् ।।

6 " काशीखण्ड, अध्याय " 64–
काशी काशीति काशीति जपतो यस्य संस्थितिः।
अन्यत्रापि सततस्तस्य पुरो मुक्तिः प्रकाशते।।

[1]काशी की सीमा के बारे में नारद पुराण और अग्नि पुराण में इस तरह से कहा गया है कि काशी पूर्व –पश्चिम ढ़ाई योजन अर्थात दो कोस चौडी है। शंकर भगवान ने इसका विस्तार वरणा से शुष्क नदीं असी तक बतलाया है। इसके उत्तर में अयन तथा तिमिचण्डेश्वर और दक्षिण में शंकरकर्ण और ऊॅकारेश्वर है।

वाराणसी के लिये कहा जाता है कि ये भगवान शंकर के त्रिशूल पर बसी है और प्रलय में भी इसका नाश नही होता । वरणा और असि नामक नदीयों के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहते हैं। वाराणसी में ही अविमुक्त क्षेत्र है जहां पर कि शरीर त्यागने के समय मुक्त हो जाता है । यहां पर देह त्यागने के समय शंकर भगवान मरणोन्मुख मनुष्य को तारक मन्त्र देते हैं और उस जीव को तत्व का ज्ञान हो जाता है, उसके सामने अपना ब्रहा स्वरुप प्रकट हो जाता है इस तरह से 'जहां ब्रहा प्रकाशित हो, वह काशी ' यह काशी नामक अर्थ है।

सात पुरियों में अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काश्ति, काशी, अवन्तिका उज्जैन, मे है तथा द्वारिका है। इनमें से काशी मुख्य मानी जाती है।

काशी भारत का प्राचीनतम विद्या केन्द्र है और सांस्कृतिक नगर भी है। संस्कृत –विद्या का यह सदैव से सम्मान्य केन्द्र रहा है।

द्वादश ज्योतिलिंगों में शंकर भगवान का विश्वनाथ नामक ज्योतिलिंग्ड, काशी में है और ५१ शक्तिपीठों में से एक शक्तिपीठ जो मणिकर्णिका पर विशालाक्षी का काशी मे ही है। यहां सती का दाहिना कर्णकुण्डल गिरा था। इनके भैरव काल भैरव है। पुराणों मे काशी की अपार महिमा है। यह नगर अर्पचन्दाकार भगवती भागीरथी के बाये तट पर तीन मील तक बसा है। इसे मंदिरों का नगर भी कहा जाता है क्योंकि यहां गली –गली मे अनेकों मन्दिर हैं।

काशी के घाट मनोरम दृश्य उपसिति करते हैं। बनारस मे पहुॅंचकर गंगा उत्तर की तरफ धूम जाती हैं। हिमालय की दिशा में प्रवाहित होने लगती हैं इसलिये ये यहां पर विशिष्ट रुप से पूज्य और पवित्र है।

ताम्रपत्रों और शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि वहां घाट लगभग एक सहग्र वर्षो से हैं।

---

1 नारदीय पुराण उत्तरखण्ड 49/19'20; अग्नि पुराण 112/6
द्वियोजनमथार्द्ध च पूर्व पश्चिमतः स्थितम्।
अर्द्धयोजनविस्तीर्ण दक्षिणोतरत स्मृतम् ।।
वरणासिर्नदी यावदसिः शुल्कनदी शुमे ।
एदा क्षेत्रस्य विस्तारः प्रोक्तो देवेव शम्भुना।।
अयनं तूतर ज्ञेयं तिमिचण्डेश्वरं ततः। दक्षिणं शकुकर्ण तु ऊॅकारं तदनन्तरम्।।

[1]काशीखण्ड में आया है कि जो पवित्र नदियों पर पत्थर के घाट बनवाते हैं वे वरुण लोक को जाते है ।

काशी के घाटो मे पांच घाट मुख्य रुप से माने जाते हैं वरणासंगमघाट, पअच्गगडाघाट, अनिकार्णिका घाट, दशा – श्वमेध घाट, असी संगम घाट। कुल घाटों की संख्या पचाग साठ के लगभग है।

वरूणा संगम घाट – वरणा संगम के पास त्रिष्णुपादोदक –तीर्थ तथा श्वेतद्वीप – तीर्थ हैं। घाट की सीदियों के ऊपर भगवान आदि केशव का मन्दिर है। इस मन्दिर मे भगवान केशव की चतुर्भुज श्याम रंग की खड़ी मूर्ति है। यहां दीवाल में केशवदित्य शिव हैं। पास ही हरिद्धरेश्वर शिव मन्दिर है। इससे थोडी दूर पर वेदेश्वर, नक्षत्रेश्रर तथा श्वेतद्वीपेश्वर महादेव हैं। पश्चिम से आकर वढ़णा नाम की छोटी नदी यहां गंगाजी मे मिलती है। यहां आद्रशुक्ल १२ तथा महावारुणी पर्व को मेला लगता है।

राजघाट– राज घाट के पास में ही योगी वीर का मन्दिर है। राजघाट तथा प्रहलाद घाट के बीच गंगा तट के ऊपर स्वली नेश्वर तथा वरद विनायक मन्दिर है।

प्रसादघाट – राजघाट से कुछ ही दूर यह घाट है। इसके पास प्रसादेश्वर –शिव मन्दिर है। यहां से त्रिलोयनघाट के मध्य भृगुकेशव –मन्दिर है। यहां प्रचण्ड विनायक हैं।

त्रिलोचन घाट – यह त्रिविष्टपतीर्थ , है यहां अक्षय तृतीय को मेला लगता है। त्रिलोचननाथ –शिव मन्दिर है तथा मण्डलाकार अरुणादित्य –मन्दिर भी है। एक छोटे मन्दिर में वाराणसी देवी है। इसके अतिरिक्त उदृण्ड मुण्ड विनायक है। त्रिलोचन मन्दिर के बाहर आदि महादेव –मन्दिर है, उसके पास संहार भैरव हैं।

महता घाट – इस धार के ऊपर नर –नारायण मन्दिर है। पौष पूर्णिमा को यहां स्नान का अधिक महत्व है।

गाय धाट – यह गोप्रेक्ष – तीर्थ है। घाट के पास हनुमान जी का मन्दिर है, इसमें निर्मालिका गौरी भूर्ति है।

लाल घाट – इस घाट पर गोप्रेक्षेश्वर महादेव तथा गोपी –गोविन्द की मूर्तियो है।

शीतला घाट– शीतला घाट पर शीतलादेवी की मूर्ति है। राजमन्दिर घाट –यहां हनुमान मन्दिर में लक्ष्मी नृसिंह मूर्ति है।

---

1 काशीखण्ड 12/59 – घट्टान् पुण्यतटिन्यादेर्बन्धयन्ति शिलादिमिः
तीयार्थिसुखसिद्वर्थ्यथ ये नरास्तेत्र भोगिनः।।

ब्रह्मघाट – इस घाट पर ब्रहेश्वर शिव मन्दिर है । घाट से थोडी दूर ऊपर दन्तात्रेयभगवान का मन्दिर है।

दुर्गा घाट – घाट पर नृसिंह जी की मूर्ति है। यहां एक मकान में ब्रहमचारिणी दुर्गा जी की श्याम मूर्ति है। इससें कुछ दूरी पर श्री राम मन्दिर है।

पचांगंगाघाट – कहते. है कि यहां यमुना, सरस्वती, किरणा, और धूतपाशा नदियां गुप्त रुप से गंगाजी में मिलती है इसी से इस धाट का नाम पंचगगा घाट पर कार्तिक रनान का बहुत महत्व है।

लक्ष्मण बालाघाट – इस घाट के ऊपर लक्ष्मण–बालाजी अथवा वेङ्कटेश भगवान का मन्दिर है।

रामघाट– यहां लोक अधिकतर रामनवमी को स्नान करने आते हैं। घाट के ऊपर काल विनायक तथा घाट से कुछ दूर आनन्द भैरव मन्दिर है।

अग्रीश्वर घाट– यहां अग्रीश्वर –शिव मन्दिर है।

ओंसला घाट – यहां पर लक्ष्मी नारायण मन्दिर, नागेश्वर शिव मन्दिर तथा नागेश विनायक हैं। यह घाट नागपुर के औंसला राजवंश का बनवाया है।

गंगामहल घाट– इस घाट पर हनुमान जी की दो मूर्तियां तथा गंगा जी का मन्दिर है।

संकठा तीर्थ – घाट पर संकठा देवी का मन्दिर है। इसे यम तीर्थ कहते है। यहां यमेश्वर तथा यमादित्य नाम के दो शिव –मन्दिर है। यम द्वितीया को यहां मेला लगता है।

सिंधिया घाट – घाट पर आत्मवीरेश्वर मन्दिर है। मन्दिर मे दुर्गा जी, मंगलेश्वर महादेव, मगल विनालक तथा अन्य देवताओं की मूर्तियां है। यह घाट ग्वालियर के प्रसिद्ध सिंधियां नरेशो का बनवाया हुआ है।

मणिकणिका घाट – इस घाट के ऊपर मणि कर्णिका कुण्ड है, जिसमें चारों ओर सीढ़ियां है। २१ सीढ़ी नीचे जल है। इस कुण्ड की तह में एक भैरव कुण्ड है। इस कुण्ड का पानी प्रति आठवें दिन निकाल दिया जाता है। और एक छिद्र से स्वच्छ जलधारा अपने --आज निकलती है, जिससे कुण्ड भर जाता है। यहां वरिश्वर मन्दिर है।

चिता घाट – यह काशी का श्मशान धाट है। यह मणि कर्णिका के दक्षिण पश्चिम है।

राजराजेश्रवरी घाट– इस पर राज राजेश्रवरी –मन्दिर है।

ललिता घाट– इस पर ललिता देवी का मन्दिर है। घाट के समीप ही ललिता तीर्थ है। यहां अश्रिन कृष्णा द्वितीया को मेला लगता है। इसी घाट पर चीन के मन्दिरों की शैली का नैपाली शिव –मन्दिर है। यहां नेपाली यात्रीयों के लिये धर्मशाला है।

मीर घाट– घाट पर धर्मकूल नामक कुँवा है, जिसके पास विश्रबाहु देवी का मन्दिर है। इसमें दिवोदासेश्रर शिवलिंग है। कूप से दक्षिण धर्मेश्रर मन्दिर है। उसके पास ही विशालाक्षी नामक पविती –मन्दिर है। घाट के पास आशा विनायक तथा हनुमान जी की बडी मूर्ति है।

मान मन्दिर घाट – जयपुर के राजा मानसिंह का बनवाया हुआ प्रसिद्ध मन्दिर यही हैं। इस मन्दिर के छत के ऊपर उन्ही की बनवायी एक वेद्य शाला है, जिसमें नक्षत्रो और ग्रहो के निरीक्षण के यन्त्र जीर्ण दशा में है । यहा पर दालश्येश्रर, सोमेश्रर, सेतुबन्ध रामेश्वरम और स्थूलदन्त विनायक की मूर्तिया है।

दशाश्वमेध घाट – दशाश्वमेध घाट के बारे में कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने यहां १० अश्वमेध यज्ञ किये थे। काशी का यह मुख्य घाट है। यहां बहुत श्रद्धालु जन आते हैं यहां जल के भीतर रुद्र –सरोवर है। घाट पर दशाश्वमेधश्रर शिव जी है तथा शीतला देवी की मूर्ति है। एक मन्दिर में गंगा, सरस्वती, यमुना, ब्रहा, विष्णु, शिव और नृसिंह जी की मनुष्य के बराबर की मूर्तियां है। घाट के उतर मे विशाल शिव मन्दिर है। गंगा दशहरा को इस घाट पर स्नान करने का अधिक महात्म्य है।

असि संगम घाट– असि नामक नदी यहां पर गंगा जी से मिलती है। यह घाट कच्चा है। इस घाट के ऊपर जैन मन्दिर है। यहां हरिद्वार तीर्थ माना जाता है। दशाश्वमेध धाट से यह घाट लगभग २ मील है। कार्तिक कुष्णा ६ को यहां स्नान करने का विशेष महत्व है।

तुलसी घाट – तुलसी दास जी इसी घाट पर बहुत दिन रहे और १६८० में उन्होने देह छोड़ा । तुलसी दास जी द्वारा स्थापित यहां पर हनुमान जी की मूर्ति है। इस मन्दिर में तुलसीदास जी की चरण पादुका तथा अन्य कई स्मारक सुरक्षित है। इसी मन्दिर में भगवान कपिल की मूर्ति भी है। तुलसी घाट से थोड़ी दूर पर लोलार्क कुण्ड है। यह एक कुँवा है, जिसमें एक पास के हौज में होकर नीचे तक जाने का रास्ता है।

जानकी घाट – यहां चार मन्दिर हैं।

वृक्षराज घाट– यहां तीन जैन मन्दिर है।

शिवालाघाट – यहां स्वप्नेश्रवर – शिवलिंग तथा स्वप्नेश्ररी देवी है। इसके दक्षिण ह्यग्रीवकुण्ड तथा ह्यग्रीव भगवान की मूर्ति है।

हनुमान घाट – यहां हनुमान जी की मूर्ति है। समीप ही रुरु–भैरव हैं। आगे दण्डी घाट है।

श्मशान घाट – यहां श्मशानेश्वर शिव हैं। इसी को हरि श्रन्द्रघाट भी कहते हैं। महाराज हरिश्रन्द्र यहीं चाण्डाल के हाथ बिककर श्मशान में कर वसूलते थे।

लली घाट – यहां चिन्तामणि विनायक हैं।

केदार घाट – इस घाट के ऊपर गौरीकुण्ड है, जिसके पार केदारेश्वर –मन्दिर है। इस मन्दिर में पार्वती, स्वामि कार्तिक, गणपति, दण्डपाणि, भैरव, नन्दी की मूर्तियां है।

चौकी घाट – यहां एक चबूतरे पर बहुत सी मूर्तियां हैं।

क्षेमेश्वर घाट – इस पर क्षेमेश्वर –मन्दिर है।

मानसरोवर घाट – यहां पर मानसरोवर कुण्ड है। पास में हसेश्वर नामक शिव मन्दिर है। थोडी दूर पर रुक्मागंदेश्वर शिव तथा चित्रग्रीवा देवी का मन्दिर है।

नारद घाट – इस पर नारदेश्वर शिव मन्दिर है।

चौसट्टीघाट – इस घाट पर चौसठ योगिनियो की मूर्ति है। पास ही मण्डप में भद्रकाली मूर्ति है। घाट से थोडी दूर पर पुष्पदन्तेश्वर , गरुडेश्वर तथा पातालेश्वर महादेव हैं।

राणामहल घाट– इस घाट पर वक्र तुण्ड विनायक की मूर्ति है।

ह्वेनसांग का कहना है कि उसके समय मे बनारस में सौ मन्दिर थे। उसके एक ऐसी ताम्र प्रतिभा का वर्णन किया है जो देव महेश्वर की थी और लगभग १०० फीट ऊँची थी। लेकिन दुर्भाग्यवश सन् १६६४ से १६७० ई० तक मुस्लिम राजाओं ने हिन्दु मन्दिरों मे बुरी तरह तोड़ – फोड़ की और इन मन्दिरों के स्थान पर मसजिद और मकबरे बनवा दिये । इसके अतिरिक्त मन्दिरों की सामग्रियां मसजिदों के निर्माण कार्य मे लगवायी गयी ।

[1]कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् ११६४ ई० में लगभग सौ मन्दिर तुडवा दिये।

[2]अलाउद्दीन खिलजी ने स्वंय कहा है कि उसने बनारस मे एक सहस्र मन्दिरों को नष्ट –भ्रष्ट करा दिया ।

[3]म–आसिर –ए–आलमगीरी में कहा गया है। कि –धर्म के रक्षक -- शाहंशाह के कानों में यह पहुचा कि थदट, मुलतान और बनारस के प्रान्तो में विशेष रुप से बनारस में मूर्ख ब्राहाण लोग अपनी पाठशालाओं में तुच्छ पुस्तकों की व्याख्या में संलग्न है और उनकी दुष्ट विद्या की जानकारी प्राप्त करने के लिये दूर–दूर से हिन्दु और मुसलमान वहां जाते है। धर्म के संचालन के लिये सभी सूत्रो के सूबेदारो को यह आदेश भेजा कि काफिरों के सारे मन्दिर और पाठशालाएं नष्ट कर दी जाये उन्हें आज्ञा दी कि मूर्ति पूजा के आचरण और शिक्षा को वे बड़ी कठोरता से बन्द कर दें। दिसम्बर १६६६ को यह सूचना धार्मिक शाहंशाह को, जो एक खुदा को मनाने वालों के नेता थे, दी गयी कि उनकी आज्ञा के पालनार्थ राजर्कमचारीयों ने बनारस के विश्वनाथ मन्दिर को तोड़ दिया। "

---

1 इलिएट एवं डाउसन की हिस्ट्री भाव इण्डिया; जिल्द 2 पृष्ठ 222

2 शेरिंग, पृष्ठ 31 एवं हैवेल , पृष्ठ 761

3 इलिएट एव डाउसन ,हिस्ट्री भाव इण्डिया; जिल्द 7पृष्ठ 184

विश्वेश्वर मन्दिर के स्थान पर औरंगजेब ने एक मस्जिद बनवायी, जो आज भी स्थित है। औरंगजेब ने बनारस का नाम मुहम्मदाबाद रख दिया।

[1]शेरिग का कथन है कि औरंगजेब के काल मे सन् १६५८–१७०७ तक बनारस मे बीस मन्दिरों को भी पाना कठिन हो गया ।

बाद मे मराठा सरदारों ने बहुत से मन्दिर बनवाये और अंग्रेजी शासन के दौरान बहुत से मन्दिर बने। प्रिंसेप ने सन् १८२८ में गणना करायी जिससे पता चला कि बनारस मे १००० मन्दिर और ३३३ मस्जिदें हैं । [2]शेरिंग का कथन है कि कुल मिलाकर १४५४ मन्दिर और २७२ मसिजिदें हैं।

[3]हैवेल का कहना है कि १५०० मन्दिर हैं। और दीवारों में लगी प्रतिमाएं असंख्य हैं। विश्वनाथ मन्दिर जब औरंगजेब द्वारा नष्ट करा दिया गया तो एक सौ वर्षो से ऊपर तक बनारस मे विश्वनाथ का कोई मन्दिर नहीं था।

आधुनिक विश्वनाथ मन्दिर अहिल्याबाई होनकर द्वारा १८ वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे बनवाया गया।

श्री विश्वनाथ जी – काशी का सर्व प्रधान मन्दिर यही है। मन्दिर पर र्स्वण कलश चढा है, जिरा पंजाब केसरी महाराज रणजीत सिंह ने अर्पित किया था। इस मन्दिर के सम्मुख सभा मण्डप है और मण्डप के पश्चिम दण्डपाणीश्वर मन्दिर है। सभा मण्डप में बड़ा घण्टा तथा अनेक मूर्तियां हैं। मन्दिर के प्रागंण के एक ओर सौभाग्य गौरी तथा गणेश जी और दूसरी ओर श्रृंगार –गौरी अविमुक्तेश्वर तथा सत्य नारायण के मन्दिर है। दण्डपाणीश्वर मन्दिर के पश्चिम शनैश्चरेश्वर महादेव हैं।

द्वादश ज्योतिर्लिगों में यह विश्वेश्वर लिंग है। इनकी प्रमुख विशेषताये है जो इस प्रकार है– यहां जलहरी शंकु के आकार की नहीं, है चौरस है। उसमें से जल निकलने का मार्ग नहीं है। जल लोटे से उलीचकर निकाला जाता है। कार्तिक शुक्ल १४ तथा महाशिवरात्रि को विश्वेश्वर का अर्चन महान् फलदायी है।

श्री विश्वनाथ जी काशी के सम्राट हैं। उनके मन्त्री हरेश्वर, कथावाचक ब्रह्मेश्वर, कोतवाल भैरव, धनाध्यक्ष तारकेश्वर, चोबदार दण्डपणि, भंडारी वीरेश्वर, अधिकारी ढुण्ढिराज तथा काशी के अन्य शिवलिंग प्रजापालक हैं।

विश्वनाथ मन्दिर के वायव्यकोण में लगभग डेढ़ सौ शिवलिंग हैं इनमें से धर्मराजेश्वर मुख्य है। रस मण्डली को शिव की कचहरी कहते हैं। यहां मोद –विनायक, प्रमोद –विनायक,सुमुख विनायक और गणनाथ–विनायक की मूर्तियां है।

---

[1] शेरिंग पृष्ठ 32

[2] शेरिंग पृष्ठ 41–42

[3] हैवेल पृष्ठ 76

ज्ञानवापी – श्री विश्वनाथ –मन्दिर के पास ही ज्ञानवापी कूप है। कहते है कि जब औरंगजेब ने विश्वनाथ मन्दिर तुड़वाया तो विश्वनाथ जी इस कूप में चले गये। बाद मे उन्हें वहां से निकालकर वर्तमान मन्दिर मे स्थपित किया गया। इस कूप के जल से यात्री आचमन करते हैं।

यहां पर ७ फीट ऊँचा नन्दी है जो प्राचीन विश्वनाथ मन्दिर की ओर मुख करके खड़ा है। यहां पर प्राचीन मन्दिर के स्थान पर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी, लेकिन उसमे मन्दिर के चिन्ह अभी तक देखे जा सकते हैं। मसजिद के बाहर एक छोटे चबूतरे पर बहुत छोटे मन्दिर में गौरी शंकर मूर्ति है।

तिलभाण्डेश्वर – इसकी लिंगमूर्ति साढ़े चार फुट ऊँची है। दूसरे आगे केदारेश्वर मन्दिर है। यहां शिवरात्रि को तथा श्रावण के सोमवारों को भीड लगती हैं । बटुक भैरव – यह भैरव जी का मन्दिर ह ।ास में ही कामाक्षा देवी है।

कपाल मोचन – बकरियां –कुण्ड से एक मील पर कपाल – मोचन कुण्ड है। यह बड़ा सरोवर है। यहां एक धेरे में सात फीट ऊँचा तांबे से मढ़ा स्तम्भ है, जिसे लाट भैरव या कपाल भैरव कहते है। यहां वरूणा के ऑवली घाट पर चण्डीश्वर शिव तथा मुण्ड विनायक है।

धूप चण्डी – धूप चण्डी नाम के सरोवर के तट पर धूपचण्डी देवी का मन्दिर है तथा विकट द्विज विनायक हैं।

कबीर चौरा – इस जगह कबीर जी की गद्दी है। गद्दी है। गद्दी के पास कबीर जी की टोपी तथा रामानन्द स्वामी और कबीर जी के चित्र हैं।

काशी देवी – काशी देवी का मन्दिर ज्येष्ठेश्वर से थोडी दूर पर है। जिसके पास सत्त सागर कूप है। इसके पश्चिम कर्णघण्टा सरोवर है। यहां एक और कर्णघण्टेश्वर मन्दिर तथा व्यासेश्रर सरोवर और व्यात्स कूप भी है।

भूत भैरव– काशीपुरा में भूतभैरव का मन्दिर है। इन्हें भीषण भैरव भी कहते हैं।

गोरखनाथ मन्दिर – इसमें गोरखनाथ जी के चरण चिन्ह हैं। इसके अतिरिक्त वृषेश्वर महादेव हैं। यहां गोरख सम्प्रदाय के साधु रहते हैं।

इस जगत से थोड़ी दूर पर नृसिंह चबूतरा है। उसके पास रामानुज सम्प्रदाय के मन्दिर है।

कृत्तिवासेश्वर – कृतिवासेश्वर मन्दिर को तोड़कर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी । इस आलमगीरी मस्जिद के चौगान मे एक हौज में २.१/२ फुट ऊँचा फुहार स्तम्भ है, यहां पुराना कृतिवालेश्रर लिंग है।

मन्दाकिनी – यहां कम्पनी– बाग में मन्दाकिनी सरोवर है, जिसके पास मन्दाकिनी मन्दिर हैं। कम्पनी बाग के पास बडे गणेश की भव्य मूर्ति है।

लक्ष्मीकुण्ड – पिशाचमोचन से थोडी दूर पर लक्ष्मी कुण्ड सरोवर है। इसके पास महालक्ष्मी का मन्दिर है। इस मन्दिर में मजूरी योगिनी की मूर्ति है। पास ही शिवमन्दिर तथा कालीमठ है।

पिशाचमोचन– मातृकुण्ड से थोडी दूर –दूर पर यह कुण्ड है। यहां पिण्ड दान से मृतात्मा प्रेतयोनि से छूट जाती है। यह बडा सरोवर है। धाट पर महावीर, कपर्दीश्वर, पअविनायक, पिशाच मस्तक, विष्णु वाल्मीकि तथा अन्य देवताओं की मूर्तिया है।

कुरुक्षेत्र तीर्थ– दुर्गाकुण्ड से थोडी दूर पर नगर की ओर कुरुक्षेत्र सरोवर है। वहां से कुछ दूर पर सिद्व कुण्ड है।

दुर्गा जी – असि–संगम धाट से थोडी दूर पर पुष्कर तीर्थ सरोवर है। वहा से लगभग आधा मील की दूरी पर दुर्गाजी का विशाल सरोवर है। इसके किनारे दुर्गा जी का मन्दिर है। इस मन्दिर में कूष्माण्डा देवी की मूर्ति है, जिसे लोग दुर्गा जी कहते है। मन्दिर के घेरे में शिव, गणपति आदि देवताओं के मन्दिर हैं। मुख्य द्वार के पास दुर्गा –विनायक तथा चण्ड भैरव की मूर्तियां हैं। पास ही कुम्बकुटेश्वर महादेव हैं। राजा सुबाहुपर प्रसन्न होकर भगवती यहां दुर्गारुप से स्थित हुई हैं।

संकट मोचन – दुर्गाजी से आगे यह मन्दिर एक बडे बगीचे में हैं। यहां की हनुमान जी की मूर्ति गोस्वामी तुलसी दास जी द्वारा स्थापित है। सामने राम मन्दिर है।

काल भैरव– इस मन्दिर में काल भैरव सिंहासन पर स्थित हैं और उनकी चतुर्भुज मूर्ति हैं। जो कि चांदी से मढ़ी हैं।मन्दिर के आगे बड़े महावीर तथा दाहिने मण्डप में योगीश्वरी देवी है।

मन्दिर के पिछले द्वार के बाहर क्षेत्रपरल भैरव की मूर्ति हैं। श्री भैरव जी का वाहन काला कुत्ता है। ये नगर के कोच्पाल हैं। कार्तिक कृष्णा ८, मार्ग शीर्ष कृष्णा ८, चतुर्दशी तथा विवार को भैरव जी के दर्शन पूजन का विशेष महत्व है।

गोपाल मन्दिर– यह वल्लभ सम्प्रदाय का मुख्य मन्दिर है। इसमें श्री गोपाल जी तथा श्री मुकुन्दशय जी के विग्रह है। पूजा अर्चना वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार होती है।

गोपाल मन्दिर के सामने रणछोड़ जी का मन्दिर, बड़े महाराज का मन्दिर, बलेदव जी का मन्दिर और .ाऊ जी का मन्दिर है। ये मन्दिर भी वल्लभ सम्प्रदाय के हैं।

सिद्वदा दुर्गा – गोपाल मन्दिर से थोड़ी दूर पर यह मन्दिर है।

काशी – करवत – एक अंधेरे कुएं मे एक शिवलिंग हैं । कुएं में जाने का मार्ग बंद रहता है। यह मार्ग किसी निश्चित समय ही खुलता है। कुए में ऊपर से ही अक्षत, पुष्प चढ़ाया जाता है। पहले लोग यहां 'करवत' लेते थे।

लागंलीश्वर – एक मन्दिर में लागंलीश्वर नामक विशाल शिवलिंग है। आदिविश्वेश्वर के आगे सड़क पर सम्य नारायण जी का भव्य मन्दिर है।

आदिविश्वेश्वर – ज्ञानवाषी के पास प्राचीन विश्वनाथ मन्दिर तोडकर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी है। उसके पश्चिमोत्तर सडक के पास आदि विश्वेश्वर का मन्दिर है।

ढुण्ढिराज गणेश– ढुण्ढिराज गणेश जी के प्रत्येक अंग पर चॉदी मढी है। कहते है। कि महाराज दिवोदास ने गण्डकी के पाषाण से यह मूर्ति बनवायी थी। माध शुक्ल ४ को इनके पूजन का अधिक महत्व है।

दण्डपाणि – ढुण्ढिराज के समीप ही उत्तर की ओर एक छोटे मन्दिर में दण्डपाणि की मूर्ति है। उनके दोनो ओर उनके दो गण – शुभ्र और विभ्र हैं ।

अन्नपूर्णा – विश्वनाथ मन्दिर से कुछ दूर पर यह मन्दिर है। अन्नपूर्णा की पीतल की मूर्ति चांदी के सिंहासन पर विराजमान हैं। अन्नपूर्णा मंन्दिर के समामण्डप के पूर्व कुबेर, सूर्य, गणेश, विष्णु, तथा हनुमान जी की मूर्तियां तथा आचार्य श्री भास्करराय द्वारा स्थापित यन्त्रेश्वर लिंग है, जिस पर श्री यन्त्र खुदा हुआ है। इस मन्दिर के साथ लगा एक खण्ड और है, जिसका आंगन विस्तृत है। उसमें महाकाली, शिव–परिवार, गंगा वतरण, लक्ष्मी नारायण, श्री राम दरबार, राधा– कृष्ण, उमामहेश्रर, और अंगन में नृसिं जी की संगमरमर की सुन्दर मूर्तियां है। चैत्र शुक्ल ६ तथा अश्रिन शुक्ल ८ को अन्नपूर्णा के दर्शन पूजन की विशेष महिमा है।

अक्षयवट – यह शनैश्चर का मन्दिर हैं। इनका मुख चॉदी का है, शरीर नहीं है। नीचे केवल कपड़ा पहनाया जाता है। पास में ही एक तरफ महावीर जी है। एक कोने में एक वटवृक्ष है, जिसे अक्षयवट कहते हैं। यहा हुपदादित्य तथा नकुलेश्वर महादेव हैं।

काशी की पंचकोशी परिकमा – काशी की परिकमा ४७ मील की है। इस मार्ग में स्थान – स्थान पर धर्म शालाएं है। इस परिकमा को यात्री लोग मार्गशीष में और फाल्गुन में विशेष तौर पर करते है। पुरुषोंतम महींने अधिक मास में तो परिकमा पथ में बराबर यात्रियों का मेला चलता रहता है। पंचकोशी परिक्मा सामान्यतः पांच दिनो में समाप्त हो जाती है। कुछ लोग शिवरात्रि को एक ही दिन में पूरी परिकमा कर लेते हैं। मणिकार्णिका पर स्नान करके ज्ञानवापी, विश्वनाथजी, अन्नपूर्णा तथा ढुण्ढिराज गणेश का दर्शन करके पहले छः मील चलकर यात्री कंडवा नामक स्थान पर जी चुनार की सड़क पर है, विश्राम करते है। इस स्थान पर कर्दमेश्वर मन्दिर है। दूसरे दिन कर्दमेश्वर

से चलकर १० मील दूर भीमचण्डी स्थान पर विश्राम होता है। तीसरे दिन भीमचण्डी से १४ मील दूर वरूणा किनारे शर्मेश्वर नामक स्थान पर विश्राम होता है। चौथे दिन रामेश्रर से १४ मील चलकर कपिलधारा नामक स्थान पर विश्राम किया जाता है। पांचवे दिन कपिलधारा से ६ मील चलकर मणिकार्णिका घाट पर स्नान करके सिद्ध विनायक, श्री विश्रनाथजी अन्नपूर्णा जी, दुण्ढिराज, दण्डपणि और काल भैरव का दर्शन करके यात्रा समाप्त करते है।

काशी के जैन तीर्थ

काशी जैनों का मुख्य क्षेत्र है। यहां भदैनी नामक स्थान पर सातवें तीर्थ कर सुपार्श्वनाथ जी और भेलूपुरा नामक जगह पर तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ जी जन्म हुआ था। भदैनी और भेलूपुरा में इन तीर्थकरों के जन्म स्थानों पर इनके मन्दिर बने है। इसके अतिरिक्त बुलानाले पर एक पंचायती मन्दिर तथा तीन चैत्यालय हैं। मैदागिन में जैन मन्दिर और धर्म शाला है। भदैनी पर जैनियों का 'स्याद्‌वाद– विद्यालय' है।

सारनाथ को जैन ग्रन्थों में सिंहपुर कहा गया है। जैन धर्मावलम्बी इसे 'अतिशय क्षेत्र' मानते हैं। श्रेयांसनाथ के यहां गर्भ, जन्म और तप ये तीन कल्याणक हुए हैं। श्रेयांसनाथ जी की प्रतिमा है यहां के जैन मंदिर में। इस मंदिर के सामने ही अशोक का स्तम्भ है।

चन्द्रावती– इसका प्राचीन नाम चन्द्रपुरी है। यह जैन तीर्थ है। यहां चन्द्र प्रभु जैनाचार्य का जन्म हुआ था। यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहां गंगा किनारें जैन मन्दिर और जैन धर्मशाला है। यह स्थान बनारस से १३ मील पड़ता है।

काशी में बौद्ध केन्द्र

सारनाथ– यह बौद्ध तीर्थ है। बनारस के सारनाथ चार मील पडता है। सारनाथ में बौद्ध धर्मशाला है। भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश यहीं दिया था। यहीं से उन्होंने धर्मचक प्रवर्तन प्रारम्भ किया था।

सारनाथ की दर्शनीय वस्तुओं में अशोक का चतुर्मुख सिंह स्तम्भ, भगवान बुद्ध का मंदिर, चमेख स्तूप, चौखण्डी स्तूप, सारनाथ का वस्तु संग्रहालय, जैन मंदिर, मूलगंध कुटी और नवीन विहार। सारनाथ बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था किन्तु मुहम्मद गोरी ने आकमण करके इसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। वह यहां की स्वर्ण–मूर्तियां उठा ले गया और कला पूर्ण मूर्तियों को उसने तोड़ डाला। फलस्वरूप सारनाथ उजाड़ हो गया। एकमात्र चमेख स्तूप टूटी–फूटी दशा में बचा रहा, यह स्थान चरागाह मात्र रह गया था।

सन् १९०५ ई० में पुरातत्व विभाग नें यहां खुदायी का काम शुरू किया। इतिहास के विद्वानों तथा बौद्ध–धर्म के अनुयायियों का ध्यान गया। तबसे सारनाथ महत्व प्राप्त करने लगा। इसका जीर्णोद्धार हुआ, यहां वस्तु संग्रहालय स्थापित हुआ, नवीन विहार निर्मित हुआ, भगवान बुद्ध का मंदिर और बौद्ध धर्मशाला बनी। सारनाथ अब बराबर विस्तृत होता जा रहा हैं।

बदरीनाथ धाम यात्रा

बदरीनाथ सत्ययुग का धाम है। बदरी क्षेत्र के दर्शन मात्र से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है जब कि अन्य तीर्थों में स्वधर्म का विधिपूर्वक पालन करते हुए मृत्यु होने से मुक्ति होती है। केदार क्षेत्र मे शिवलिंग के पूजन मात्र से मोक्ष होता है। श्री नारायण[2] चरणों के समीप प्रकाशमान अग्नितीर्थ तथा भगवान शंकर के केदार संज्ञक महालिंग का दर्शन करके मनुष्य पुर्नजन्म का भागी नहीं होता।

जहां साक्षात् सनातन देव परमात्मा नारायण विराजमान हैं, वहां सारे तीर्थ सम्पूर्ण आयतन तथा जगत को ही प्रस्तुत मानना चाहिए। बदरी ही परम् तीर्थ, तपोवन तथा साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। वहां जीवों के स्वामी परमेश्वर हैं, जिन्हें जानकर शोक, मोह, चिन्ता दूर हो जाती है।[3]

मनुष्य कहीं से भी बदरी आश्रम का स्मरण करता रहे तो वह पुनरावृत्ति वर्जित श्री वैष्णव धाम को प्राप्त होता है।[4]

---

1 महाभारत
नारायण प्रमुर्विष्णु शाश्रतः पुरूषोतम ।
तस्यातियशस पुण्यां विशालां बदरी मनु ।।
आश्रम ख्यायते पुण्यस्रिषु लोकेषु विश्रुत ।
अन्यत्र मरणान्मुक्तिः स्वपर्मविधिपूर्वकात ।
बदरी दर्शनादेव मुक्तिऽ पुंसा करे स्थिता।।

2 स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड, बदरिका श्रममहात्म्य अध्याय2 11/12/20

3 महाभारत वनर्पवतीर्थ0 90/24–30
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
तत्र कृत्स्नं जगत सुर्व तीर्थान्यायतनानि च ।।
तत् पुण्य परमं ब्रह्म तत् तीर्थ तत् तपोवनम्।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्रम्।।
शाश्रव परमं चैव धातारं परमं पद्वम्।
य विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्रदृष्टयः।।

4 वराह पुराण 141/67
श्री बदर्याश्रमं पुण्यं यत्र यत्र स्थिः स्मेरत्।
स पाति वैष्णवं स्थान पुनरावृतिः वर्जितः ।।

बदरी क्षेत्र वेदों के तुल्य अनादि सिद्ध कहा गया है।[1] बदरी धाम में नर–नारायण श्रम के अतिरिक्त नारद शिला, मार्कण्डेय शिला, गरूण शिला, वाराही शिला, नारसिही शिला, कपाल तीर्थ, ब्रह्म तीर्थ, वसुधारा तीर्थ, पंचतीर्थ, सोम तीर्थ, द्वादशादित्य, चतुःस्रोत, ब्रह्म कुण्ड, मेरू तीर्थ, दण्ड पुष्करिणी, गंगा संगम, धर्मक्षेत्र आदि कई प्रसिद्ध ऐतिहासिक धार्मिक सुप्रसिद्ध स्थल हैं। इसका विस्तार से वर्णन देवी भागवत, स्कन्दपुराणान्तर्गत वैष्णव खण्ड, बदरीमहात्म्य तथा वाराहोक्त[2] बदरी महात्म्य में है।

बदरीनाथ धाम में पहुंचकर अलकनन्दा में स्नान करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है अलकनन्दा का केवल दर्शन किया जाता है। तप्त कुण्ड में यात्री लोग स्नान करते हैं। स्नान करके मन्दिर में दर्शन को जाना पड़ता है। वनतुलसी की माला, चने की कच्ची दाल, गरी गोला, मिश्री आदि प्रसाद चढाया जाता है। मंदिर जाते समय बायीं ओर शंकराचार्य का मंदिर मिलता है। मुख्य मंदिर में सामने ही गरूड जी हैं।

श्री बदरीनाथ जी की मूर्तिशालग्राम शिला में बनीं ध्यान मग्न चतुर्भुज मूर्ति है। कहते हैं कि पहली बार यह मूर्ति देवताओं ने अलकनन्दा में नारद कुण्ड में से निकालकर स्थापित की। देवर्षि नारद उसके सर्वप्रमुख अराधक हुए। उसके बाद जब बौद्धों का प्राबल्य हुआ तब इस मंदिर पर उनका अधिकार हो गया। उन्होंने बदरीनाथ की मूर्ति को बुद्ध मूर्ति मानकर पूजा करना जारी रखा। लेकिन जब शंकराचार्य जी बौद्धों को पराजित करनें लगे तो इधर के बौद्ध तिब्बत भाग गये। भागते समय वे मूर्ति को अलकनन्दा में फेंक गये। शंकराचार्य जी ने जब मंदिर खाली देखा, तब ध्यान करके अपने योग बल से मूर्ति की स्थिति जानी और अलकनन्दा से मूर्ति निकलवाकर मन्दिर में प्रतिष्ठित करायी।

तीसरी बार मंदिर के पुजारी ने ही मूर्ति को तप्त कुण्ड में फेंक दिया और वहां से चला गया।

क्योंकि यात्री नहीं आते थे, उसे सूखे चावल भी भोजन को नहीं मिलते थे। उस समय पाण्डुकेश्वर में किसी को घण्टा कर्ण का आवेश हुआ और उसने बताया कि भगवान का श्री विग्रह तप्त कुण्ड में पड़ा है। इस बार मूर्ति तप्त कुण्ड से निकालकर श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित की गयी।

श्री बदरीनाथ जी के दाहिने कुबेर की मूर्ति है यह मूर्ति पीतल की है। उनके सामने उद्धव जी हैं तथा बदरीनाथ जी की उत्सव मूर्ति है। यह उत्सव मूर्ति शीतकाल में जोशीमठ ~~बनीं रहती~~ है

[1] स्कन्द0 वै0 बदरि0 2/2

[2] वाराहोक्त 141 वे अध्याय

उद्धव जी के पास ही चरण पादुकायें हैं। बायीं ओर नर नारायण की मूर्ति है। इनके पास ही श्री देवी और भू देवी हैं।

मुख्य मंदिर से बाहर मंदिर के घेरे में ही शंकराचार्य की गद्दी है जहां घण्टा लटकता है। वहां बिना धड की कर्ण की मूर्ति है। परिक्रमा में भोगमंडी के पास लक्ष्मी जी का मंदिर है।

बदरीनाथ धाम के अन्य तीर्थ

शंकराचार्य का मंदिर बदरीनाथ मंदिर के सिंहद्वार से ४–५ सीढी उतरकर है। इसमें लिंगमूर्ति है। उससे ३--४ सीढी नीचे आदि--केदार का मंदिर है। नियम यह है कि आदि–केदार के दर्शन करके तब बदरीनाथ जी के दर्शन करने चाहिए। केदारनाथ से नीचे तप्त कुण्ड है। इसे अग्नि तीर्थ कहा जाता है। तप्त कुण्ड के नीचे पंचशिला है।–

१– गरूड़ शिला– वह शिला जो केदारनाथ मंदिर को अलकनन्दा की ओर से रोके खड़ी है। इसी के नीचे होकर उष्ण जल तप्त कुण्ड में आता है।

२–नारद शिला – वहा कुण्ड से अलक नन्दा की ओर जो बड़ी शिला है यह अलकनन्दा तक है। इसके नीचे अलकनन्दा में नारद कुण्ड है। इस पर नारद जी ने दीर्धकाल तक तप किया था।

३– मार्कण्डेय शिला– इस पर मार्कण्डेय जी ने भगवान की आराधना की थी । यह शिला नारद कुण्ड के पास अलक नन्दा की धारा में है ।

४– नरसिंह शिला– नारद कुण्ड से ऊपर जल में एक सिंहाकार शिला है। हिरण्यकशिपु –वध के बाद नृसिंह भगवान यहां पधारें थे।

५– वाराही शिला– पाताल से पृथ्वी का उद्वार करके हिरण्याक्ष वध के बाद वाराह भगवान यहां शिलारूप में स्थित हुए। यहां गंगा जी में प्रहलाद कुण्ड, कर्मधारा, और लक्ष्मी धारा तीर्थ है।

अलकनन्दा के किनारे उतरने पर एक शिला है इसे कपाल मोचन कहते है। यहां यात्री पिण्डदान करते हैं। शंकर जी ने जब ब्रहााजी का पांचवा मस्तक कटुभाबी होने के करण काटा तब वह उनके हाथ में चिपक गया । जब सब तीर्थो मे धूमते हुए शंकर जी यहां आये , तब वह हाथ में सटा कपाल छूटकर गिर पड़ा । इस ब्रहा कपाली तीर्थ के पास ही ब्रहकुण्ड है यहा ब्रहाजी ने तप किया था।

रामेश्वरम् धाम –यात्रा

सेतुवन्ध रामेश्वर की स्थापना मर्यादा पुरूषोतम भगवान राम चन्द जी के कर – कमलो द्वारा हुयी है। लंका पर चढाई करने के लिये जाते समय तब भगवान राम यहां पहुचे तब उन्होंने समुद्र तट पर वालुका से शिवलिंग बनाकर उसका पूजन किया ।

यह भी कहते हैं कि समुद तट पर भगवान श्री राम जल पी रहे थे इतने में एकाएक आकाश–वाणी सुनाई दी – ' मेरी पूजा किये बिना ही जल पीते हो ? इस वाणी को सुनकर भबवान ने वालुका की लिगं मूर्ति बनाकर शिवजी की पूजा की और रावण पर विजय प्राप्त करने का आर्शिवाद मांगा। जो भगवान शंकर ने उन्हे सहर्ष प्रदान किया। उन्होंने लोकोपकारथ ज्योतिलिंग रूप से सदा के लिये वहां वास करने की सबकी प्रार्थना भी स्वीकार कर ली । भगवान श्री राम ने शकर जी की स्थापना और पूजा करके उनकी बड़ी महिमा गायी है।[1]
रामश्वर त्रेता का धाम है।

भगवान श्री राम द्वारा बधायें हुए सेतु से जो परम पवित्र हो गया है, वह राम्श्वर तीर्थ सभी तीर्थो तथा क्षेत्रो में उत्तम है। उस सेतु के दर्शन मात्र से संसार सागर से मुक्ति हो जाती है तथा भगवान विष्णु एवं शिव मे भक्ति तथा पुण्य की वृद्धी होती है। उसके तीनो प्रकार के कर्म कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म भी सिद्व हो जाते है। इसमें कोई संयम नहीं है। भूमि के रज –कण तथा आकाश के तारे गिन जा सकते हैं। लेकिन सेतु दर्शन जन्म पुण्य को तो शेषनाग भी नहीं गिन सकते । सेतुबन्ध समस्त देवतारूप कहा गया। उसके दर्शन करने वाले पुरूष के पुण्य कौन गिन सकता है। सेतु श्री रामश्वर लिंग तथा गन्धगादन पर्वत इन सब का चिन्तन करने वाला मनुष्य भी सारे पापों से मुक्त हो जाता है, उसकी धूलि से वेष्टित होता है, उसके शरीर में बालू के जितने कण लग जाते हैं, उतनी ब्रहा हत्याओ का नाश हो जाता है इसमे तनिक भी संदेह नहीं है।[2]

---

[1] श्री राम चरित मानस

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं ।
ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ।।
जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि।
सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि।।
[illegible] अकाम जो छल तजि सेइहि।
भगति मोरि तेहि संकर दइहि ।।
मम कृत सेतु जो दरसनु करिही ।
से बिनु श्रम भवसागर तरिही।।

[2] स्कन्द पुराण, ब्रह्ममण खण्ड, सेतुमा0 1/17–19,22,23,27; 47–48
अस्ति शमेश्ररं नाम रामसेतौ पवित्रितम्।
क्षेत्राणामपि सर्वेषा तीर्थानामपि चोतमम् ।।

धारा दिशाओं के धामों में समेश्रर दक्षिण दिशा का धाम है। यह एक समुद्री द्वीप में स्थित है। रामेश्वर द्वीप लगभग ११ मील लम्बा और ७ मील चौडा है।

द्वापर ज्योतिर्लिंगों में रामेश्वर की गणना है। कहते है श्री राम ने सबसे पहले उप्पूर में गणेश जी की प्रतिष्ठा की। नवपाषाणम् में उन्होंने नवग्रह पूजन, स्नान आदि किया। देवीपतनम् के बेनाल तीर्थ में तथा पाम्बन के भैरव तीर्थ में भी उन्होंने स्नान किया। एक स्थान पर वे एकान्त मे बेठे और उसके बाद रामेश्वरम् जाकर उन्होने रामेश्रर –स्थापना का पूजन किया। महर्षि अगस्त्य का आश्रम यहीं पास में था। पाण्डव भी आये थे। इस तरह से अनादि काल से यह देवता, ऋषिगण तथा महापुरूषो की क्षद्वाभूमि रहा है।

रामेश्वर मन्दिर

श्री रामेश्वर मन्दिर समुद्र किनारे लगभग २० बीधे भूमि के विस्तार में है । मन्दिर के चारों ओर ऊँचा परकोटा है। इसमें पूर्व तथा पश्चिम ऊँचे गोपुर का गोपुर दस मजिला है। द्वार का गोपुर सात मजिंला है।

पश्चिम द्वार से भीतर जाने पर तीन ओर मार्ग जाता है। सामने, दाहिने, बायें । सामने जाने पर माधव तीर्थ नामक सरोवर मिलता है। इसके चारो ओर पक्की सीढिया है। इसमें स्नान मार्जनादि किया जाता है। इसके पास सेतु माधव का मन्दिर है। माधव तीर्थ के उतर एक आगन मे गन्धमादन तीर्थ, गवाक्ष तीर्थ, गवय तीर्थ, नल तीर्थ, तथा नील तीर्थ नामक कूप है। यहां कई छोटे मन्दिर है। रामेश्वर मन्दिर में २२ तीर्थ है, मन्दिर के द्वार से प्रवेश करके बायें जाने वाने मार्ग से प्रदक्षिणा करते हुए आगे जाना चाहिये। इन मार्गो के दोनो ओर ऊँचे बरामदे हैं और ऊपर छत है। इस मार्ग से आगे जाने पर बायी ओर रामलिंगम् प्रतिष्ठा का द्रश्य है। यह स्थान नवीन बनाया गया है। यहां राज के फण के नीचे शिवलिंग है। श्री राम–जानकी उसे स्पर्श किये हैं। यहां नारद, तुरबुस, लक्ष्मण सुग्रीव, विभीषण, जामवन्त, अंगद, हनुमान तथा दो अन्य ऋषियों की मूर्तियां हैं।

दृष्टमात्रे रासेतौ मुक्तिं ससार सागरात्।
हरे हरौ च भक्तिः स्यातथापुण्यसमृद्विता।।
कर्मणस्त्रिविधस्यापि सिद्धिः स्यान्नात्र संशयः।।
गण्जन्ते पांसवो भूमेर्गण्यन्ते दिवि तारकाः ।
सेतु दर्शनणं पुण्यं शेबेणापि न गणयते।।
समस्तदेवतारूप सेतुबन्धः प्रदर्शितः ।
तदृर्शनवतः पुसः कः पुण्यं गणितुं क्षमः।।
सेतु रामेश्रर लिङ्गं गन्धमादन पर्वतम्।
चिन्तयम् मनुजः सत्यं सर्वपापैः प्रमुच्चते।।

मर्ग में दोनों ओर स्तम्भों में सिंह आदि जानवरों की सुन्दर मूर्तियां है। एक जगह पर राजा सेतुपति तथा उनके परिवार के सदस्यो की मूर्तियां एक स्तम्भ मे बनी है। उससे आगे उत्तर के मार्ग मे ब्रहाहत्या विमोचन तीर्थ, सूर्य तीर्थ, चन्द्र तीर्थ, गंगा तीर्थ, यमुना तीर्थ और गया तीर्थ नामक कुण्ड है। ये तीर्थ मन्दिर के दूसरे धेरे में हैं। दूसरे धेरे में ही पूर्व की ओर चक तीर्थ है। इस तीर्थ के पास ही एक सुब्रहाण्यम् मन्दिर है। वहां से कुछ आगे समीप ही शंख़ तीर्थ है। चक तीर्थ और शंख तीर्थ के मध्य मे रामेश्वर का निज मन्दिर को जाने के लिये दरवाजा लगा है।

रामेश्वर मन्दिर के सामने स्वर्ण मण्डित स्तम्भ है। उसके पास ही मण्डप में विशाल मृण्मयी श्वेतवर्ण नन्दी की मूर्ति है। यह नन्दी १३ फुट ऊँचा , ८फुट लम्बा और ९ फुट चौडा है। नन्दी के सामने रत्नाकर अरब सागर, महोदधि भारतीय समुद्र, तथा हरबोला खाड़ी की मूर्तियां है। नन्दी के वामभग के मण्डप मे हनुमान जी के बालरूप की मूर्ति है।

नन्दी से दक्षिण शिव तीर्थ नामक छोटा सरोवर है। नन्दी से उतर ही पूर्वोक्त, गंगा ,यमुना, सूर्य, चन्द्र तथा ब्रहाहत्मा विमोचन नामक तीर्थ है। नन्दी से पश्चिम रामश्वर जी के निज मन्दिर के आंगन में जाने का द्वार है। द्वार के बाम भाग मे गणेश तथा दक्षिण भाग में सुब्रहाण्यम् के छोटे मन्दिर है। फाटक के भीतर विस्तृत आंगन है। इस आंगन में दक्षिण ओर सत्यामृत तीर्थ नामक कूप है। आंगन के वाम भाग में श्री विश्वनाथ मन्दिर के पास कोटि तीर्थ नामक कूप है। कोटि तीर्थ का जल रामेश्रर से जाते समय यात्री साथ ले जाते हैं। पूरा रामेश्वर धाम तीर्थ स्वरूप है। इसका प्रत्येक कण शिवरूप है। इस धाम में शौचादि द्वारा जो अपविजता विवशतावश यात्री द्वारा लायी जाती है, उस अपराध का मार्जन कोटि तीर्थ के जल से आचमन आर्जन करने पर होता है। इसलिये कोटि तीर्थ का जल यहां से जाते समय ही लिया जाता है। श्री रामेश्वर मन्दिर के सामने एक विस्तुत सभा मण्डप है । श्री रामेश्वर मन्दिर के उत्तर ओर सटा हुआ श्री विश्वनाथ हनुमदीश्वर मन्दिर है। यह हनुमान जी का लाया हुआ है। नियम यह है कि पहले श्री विश्वनाथ का दर्शन पूजन करके तब रामेश्वर मन्दिर का दर्शन करना चाहिये।

श्री रामेश्वर मन्दिर के सामने छड़ो का धेरा लगा है। तीन द्वारों के भीतर श्री रामेश्वर का ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है । इनके ऊपर शेषजी के फनों का छत्र लगा है। रामेश्वर जी पर कोई यात्री अपने हाथ से जल नहीं चढ़ा सकता । मूर्ति पर गंगोत्तरी या हरिद्वार से लाया गंगा जल ही चढ़ाया है। और वह जल पुजारी को देदेने पर पुजारी यात्री के सामने ही चढ़ा देते है। मूर्ति पर माला पुष्प अपिर्त करने का कोई शुल्क नहीं है। श्री रामेश्वर जी पर दुग्धामिषेक करने के लिये, नारियल चढ़ाने के लिये, त्रिशतार्धन के लिए, अष्टोतरार्चन के लिये, सहस्र्राचर्न, इस तरह से विभिन्न प्रकार की पूजा के लिये, अलग– अलग शुल्क निश्चित है।

श्री रामेश्वर जी की एक बहुत सुन्दर स्फटिक लिगं है। इसके दर्शन प्रा: काल ४ बजे से ५बजे तक होते है। तीर्थयात्री सुबह इसका दर्शन करके तब दर्शनादि करने जाते हैं। यह स्फटिक लिंग अत्यन्त स्वच्छ तथा पारदर्शी है। मन्दिर खुलते ही पहले इसकी पूजा होती है। इस मूर्ति पर दुग्ध धारा चढाते समय मूर्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं।पूजन हो जाने के बाद मूर्ति पर चढा दूध आदि पंचामृत प्रसाद –रूप में यात्रियों को दिया जाता है।

श्री रामेश्वर जी के जगमोहन में छड के घेरे के पास दो छोटे–छोटे मंदिर हैं।एक में गन्धगादनेश्वर शिवलिंग हैं। कहते हैं कि यह महर्षि अगस्त्य द्वारा स्थापित हैं, श्री रामेश्वर की स्थापना से पूर्व भी यह था दूसरे छोटे मंदिर में अनादि सिद्ध स्वयंभूलिंग हैं। उसे 'अत्रपूर्वम्' यहां सबसे पहले का कहा जाता है। अगस्त्य जी से पूजित होने के कारण उसका नाम अगस्त्येश्वर है। श्रामेश्वर मंदिर से सटा हुआ दक्षिण ओर एक छोटा मंदिर है, उसमें श्री राम लक्ष्मण जानकी के श्री विग्रह ह। रामेश्वर मंदिर के निज मंदिर की परिक्रमा में उत्तर भाग में बायीं ओर श्री विशालाक्षी का मंदिर है और उसके पास ही कोटि तीर्थ कूप है। रामेश्वर मंदिर के दक्षिण श्री पार्वती जी मंदिर का द्वार है। यहां पार्वती जी को 'पर्वत वर्द्धिनी, कहते हैं। यह मंदिर भी बडा विशाल है। तीन ड्योढ़ी के भीतर श्री पार्वती जी की भव्य मूर्ति है। मंदिर का जगमोहन विस्तृत है। मंदिर के जगमोहन के उत्तर पूर्व एक भवन में झूलन पर पार्वती जी की छोटी सी मूर्ति है। यह भवनशायनागार है। रात की आरती के बाद श्री रामेश्वर जी की उत्सव मूर्ति इस भवन में लायी जाती है यहां पर झूलन पर उस मूर्नि को पार्वती जी के समीप विराजमान कराके पूजन आरती होती है। इसशायं आरती को कैलाश दर्शन कहते हैं। प्रातः काल यहीं मंगला आरती होती है और यहां से श्री रामेश्वर जी की चल मूर्ति की सवारी उनके निज मंदिर में ले जायी जाती है।

श्री पार्वती जी के मंदिर की परिकमा में पीछे संतान गणपति तथा पालिकोंड पेरूमाल के मंदिर हैं मंदिर के जगमोहन के बाहर आंगन है। उसमें स्वर्ण मंडित स्तम्भ हैं। मंदिर के द्वार के समीप अष्टलक्ष्मियों की मूर्तियां हैं। उसके आगे गोपुर के पास कल्याण मण्डप है उस मण्डप मे अनेकों मूतियां बनीं हैं कल्याण मण्डप के पास नटराज, देवी, सुब्रह्यम, गणेश, काशीलिंग, नागेश्वर, हनुमान जी आदि के छोटे–छोटे मंदिर हैं।

श्री रामेश्वर मंदिर के पूर्व द्वार के पास हनुमान जी का मंदिर उत्तर दिशा में हैं[1], श्री हनुमान जी भगवान श्री राम के आदेश से कैलाश से शिवलिंग लाये थे, जो श्री रामेश्वर के समीप

---

[1] स्कं० पु० ब्र० रवं० से० मा० अ 45
स्वय हरेण दतं तु हनुमन्नामकं शिवम्।
स्म्परयन शमनाथं च कृत कृत्यो भवेन्नरः।।
योजनानां सहस्रेऽपि समृत्वा सायुज्यमाप्नुयात्।।

विश्वनाथ लंग के नाम से स्थापित हैं उसके बाद अपने एक अंश से श्री विग्रह रूप से हनुमान जी यहां स्थित हुए यह मूर्ति विशाल है श्री हनुमान जी के मंदिर के सामने बाग में सावित्री तीर्थ गायत्री तीर्थ और सरस्वती तीर्थ है तथा पूर्वद्वार के सामने महालक्ष्मी तीर्थ है।

इसके अतिरिक्त श्री रामेश्वर मंदिर की परिकमा में कुण्डो के समीप नवग्रह, दक्षिणामूर्ति चन्द्रशेखर,एकादश रूद्र,शेषशायी नारायण, सौभाग्य गणपति, पर्वत वद्धिनी देवी, कल्याणसुन्देश्वर, देवसभा नटराज, राजसभा नटराज, मारूति, कालभैरव, महालक्ष्मी, दुर्गा, लवणलिंग, सिद्धगण आदि अनेकों मंदिर तथा देव विग्रह हैं।

श्री रामेश्वर मंदिर के पूर्व में गोपुर से निकलकर समुद्र की ओर जाने पर समुद्र तट पर महाकाली मंदिर मिलता है। समुद्र में ही अग्नितीर्थ माना जाता है। कहा जाता है कि किसी काल में सीता जी की अग्निपरीक्षा यहीं हुई थी। यात्री लोग अधिकतर श्री रामेश्वर का दर्शन करके तब मंदिर के तीर्थो मे स्नान करते हैं मंदिर के अन्दर २२ तीर्थ हैं और समुद्र का अग्नि तीर्थ तथा उसके करीब अगस्त्य तीर्थ मिलाकर २४ तीर्थ हैं, इनमें से अग्नि तीर्थ सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। बहुत से यात्री प्रंथम दिन समुद्र स्नान ही करते हैं इन तीर्थो में माधव तीर्थ और शिव तीर्थ में सरोवर हैं। महालक्ष्मी तीर्थ और आगंस्त्य तीर्थ बावलियां हैशेष १६ तीर्थ कूप हैं। स्कन्द पुराण में इन सब ती[illegible] की उत्पत्ति कथा है। इनके जल से स्नान मार्जन का बहुत महात्म्य है।

श्री रामेश्वर मंदिर में विशेषोत्सवों कुछ इस प्रकार से हैं।— महाशिवरात्रि, वैशाख पूर्णिमा, ज्येष्ठ पूर्णिमा, आषाढ़ कृष्णा अष्टमी से श्रावणशुक्ल तक 'तिरूकल्याणोत्सव' नवरात्रोत्सव, स्कन्द जन्मोत्सव, आर्द्रादर्शनोत्सव।

इसके अतिरिक्त मकर संकान्ति, चैत्रशुक्ला प्रतिपदा, कार्तिक महीने की कृतिका नक्षत्र के दिन तथा पौष पूर्णिमा को ऋषभादि वाहनों पर उत्सव विग्रह दर्शन देते हैं। बैकुण्ठ एकादशी तथा रामनवमी को श्री रामोत्सव होता है।

प्रत्येक मास की कृतिका नक्षत्र के दिन सुब्रामण्य की चॉदी के मयूर पर सवारी निकलती है। प्रत्येक प्रदोष को श्री रामेश्वर की उत्सव मूर्ति वृषभ पर मन्दिर के तीसरें प्रकार की प्रदक्षिणा में निकलती है। प्रत्येक शुकवार को अम्बा जी की उत्सव मूर्ति की सवारी निकलती है।

द्वारका धाम–

द्वारका सब क्षेत्रों और तीर्थों से उत्तम कही गयी है। द्वारका मे जो क्षेम, जप, तप, और दान किये जाते हैं, वे सब भगवान श्री कृष्ण के समीप और अक्षय होते हैं।

द्वारका[1] के प्रभाव से कीट, पतंग, पशु पक्षी तथा सर्प आदि योनि में पडे हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं। फिर जो प्रतिदिन द्वारका में रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान श्री कृष्ण की सेवा में उत्साह पूर्वक लगे रहते हैं, उनके विषय में तो कहना ही क्या है। द्वारका में रहने वाले समस्त प्राणियों को जो गति प्राप्त होती है, वह उर्ध्वरेता मुनियों को भी दुर्लभ है।
'द्वारकावासी का दर्शन और स्पर्श करके भी मनुष्य बडे–बड़े पापो से मुक्त हो स्वर्गलोक में निवास करते हैं। वायु द्वारा उडायी हुई द्वारका की रज पापियों को मुक्ति देने वाली कही गयी है, फिर साक्षात् द्वारका की तो बात ही क्या है।'

द्वारका यात्रा की विधि–

द्वारका धाम को प्रस्थान करने के एक दिन पहले तीर्थयात्री को चाहिये कि वे तेल, उबटन लगाकर स्नान करके वैष्णवों का पूजन कर उन्हें भोजन कराये। और द्वारका तथा श्री कृष्ण का चिन्तन करते हुए पृथ्वी पर शयन करे। इसके पश्चात् प्रातः काल उठकर सभी से मिलकर प्रसन्नतापूर्वक वैष्णवों की गन्ध, ताम्बूल से पूजा कर गीत–वाद्य, स्तुति, मंगलपाठ के साथ द्वारका को प्रस्थान करे। मार्ग में विष्णु सहस्रनाम, श्रीमद्भागवत और सूक्त आदि का पाठ करना चाहिये। तीर्थयात्री को पर निन्दा नहीं करनी चाहिये। जिसके हाथ पैर और मन सुसंयत है, उसे तीर्थ यात्रा का फल निश्चित प्राप्त होता है। द्वारका महात्म्य के अनुसार द्वारका के अन्तर्गत गोमती नदी, चक्र तीर्थ, रूक्मिणी–दृह्व, विष्णुपादोद्भवतीर्थ, गोपी सरोवर, चन्द्र सरोवर, ब्रह्म कुण्ड, पंचनद–तीर्थ

---

[1] स्कन्द पुराण प्रभासखण्ड द्वारका माहात्म्य नवल किशोर प्रेस का संस्करण , 37 / 7–9,25,26;
वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण 35 । 7–8,25,26
अपि कीट पतङ्ग्या पशवोऽथ सरीसृपाः।
विमुक्ताः पापिनः सर्वे द्वारकायाः प्रभावत ।।
किं पुनर्मानवा नित्यं द्वारकायां वसन्ति ये।
या गतिः सर्वजन्तवां द्वारकापुरवासिवाम्।।
सा गतिर्दुर्लभा नूनं मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।।
द्वारकावासिनं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा चैव विशेषतः ।
महापापतिनिर्मुक्ताः स्वर्ग लोके वसन्ति ते ।।
पांसवो द्वारकाया वै वायुना समुदीरिताः।
पापिनां मुक्तिदाः प्रोक्ताः किं पुनर्द्वारकाभुवि।।

सिद्धेश्वरलिंग, ऋषि तीर्थ, शंखोद्धार–तीर्थ, वरूण सरोवर, इन्द्र सरोवर तथा गदा आदि कई तीर्थ हैं। लेकिन इनमें से कई तीर्थ घोर कलियुग के कारण समुद्र में विलीन हो गये।[1]

द्वारका की सात पुरियों में गणना है। भगवान श्री कृष्ण की यह राजधानी चारों धामो में एक धाम भी है। भगवान श्री कृष्ण के अर्न्तध्यान होते ही द्वारका पुरी समुद्र में डूब गयी। केवल भगवान का निजी मंदिर समुद्र ने नहीं डुबोया। गोमती द्वारका और बेट द्वारका एक ही विशाल द्वारका पुरी के अंश हैं, द्वारका के जलमग्न हो जाने पर लोगो ने अनेक जगहों पर द्वारका अनुमान लगाकर मन्दिर बनवाये और जब वर्तमान द्वारका की प्रतिष्ठा हो गयी, तब उस अनुमानित स्थलों को मूल द्वारका कहा जाने लगा।

१– वर्तमान द्वारिकापुरी गोमती द्वारका कही जाती है।[2] यह नगरी प्राचीन द्वारका के स्थान पर प्राचीन कुश सिली में ही स्थित है। यहां अब भी प्राचीन द्वारका के अनेक चिन्ह रेत के नीचे यदा कदा मिलते हैं। यह नगरी काठियावाड़ में पश्चिम समुद्र तट पर स्थित है।

गोमती– द्वारका में पश्चिम और दक्षिण एक बडा खाल है जिसमें समुद्र का जल भरा रहता है। इसे गोमती कहा जाता है यह कोई नदी नही है। इसी कारण इस द्वारका को गोमती द्वारका कहते हैं। गोमती के उत्तर तट पर नौ पक्के घाट बनें हैं।

१– संगम घाट २–नारायण घाट ३–वासुदेव घाट ४–गऊघाट ५–पार्वती घाट ६–पाण्डव घाट ७–ब्रह्म घाट ८–सुरधन घाट और ९–सरकारी घाट।

गोमती और समुद्र के संगम के मोंड़ पर संगम घाट है। घाट के ऊपर संगम नारायण का मंदिर है। वासुदेव घाट पर हनुमान जी का मंदिर और उसके पश्चिम नृसिंह भगवान का मन्दिर है।

निष्पाप सरोवर– यह एक छोटा सा सरोवर है, जो कि गोमती के खारे जल से भरा रहता है। यात्री पहले निष्पाप सरोवर में स्नान करने के बाद गोमती स्नान करते हैं। यहां पिण्डदान भी किया जाता है, निष्पाप सरोवर के पास एक और छोटा कुण्ड है। उसके पास सावंलिया जी का मंदिर, गोवर्धन नाथ जी का मंदिर, और बल्लभाचार्य महाप्रभु की बैठक है। उसके आगे मीठे जल के पांच कूप हैं। तीर्थ यात्री इन कूपों के जल से मार्जन तथा आचमन करते हैं। ये कूप गोमती के दक्षिण तट पर हैं।

श्री द्वारिकाधीश का मंदिर–

इस मंदिर को रणछोड़ राय का मंदिर कहते हैं। गोमती की ओर से ५६ सीढ़ी चढने पर मंदिर मिलता है। यह मंदिर परकोटे के भीतर है, जिसमें चारों ओर द्वार हैं। मंदिर सात मंजिला और

---

[1] स्कन्द पुराण प्रभासखण्ड द्वारकाधाम 10/1

[2] डाक्टर ज़यन्तीलाल जमनादास गकर का ' द्वारका दर्शन ' लेख मिला है।

शिखर युक्त है। इसका परिक्रमा पथ दो दीवारों के बीच से है। श्री रणछोड जी के मंदिर पर पूरे थान की ध्वजा उड़ती है। इसे चढ़ाते समय महोत्सव होता है। विश्व की यह सबसे बड़ी ध्वजा है। मंदिर में मुख्य पीठ पर श्री रणछोड राय कीश्वेत वर्ण चतुर्भुज मूर्ति है। निश्चित दक्षिणा देकर मूर्ति का चरण स्पर्श भी किया जाता है। मंदिर के ऊपर की चौथी मंजिल में अम्बा जी की मूर्ति है। द्वारका की रणछोड राय की मूल मूर्ति तो बोडाणा भक्त डाकोर ले गये। वह अब डाकोर में है। उसके ६ महीने बाद दूंसरी मूर्ति लाडवा ग्राम के पास एक वापी में मिली है। वही मूर्ति इस समय मंदिर में विराजमान है।

रणछोड जी के मदिर के दक्षिण त्रिविक्रम-- भगवान का मंदिर है इसमें त्रिविक्रम भगवान अतिरिक्त राजा बलि तथा सनकादि चारों कुमारों की छोटी मूर्तियां हैं यहा एक कोने में गरूड मूर्ति भी है। प्रद्युम्न जी का मंदिर रणछोड जी के मंदिर के उत्तर स्थित है। इसमें प्रद्युम्न कीश्याम वर्ण प्रतिमा है पास ही अनिरूद्ध की छोटी मूर्ति है सभा मण्डप के एक ओर बलदेव जी की मूर्ति है। पहले यहां तप्त मुद्रा लगती थी, लेकिन अब निश्चित दक्षिणा देने पर चन्दन से चरण पादुका की छाप पुजारी लगा देते हैं। मंदिर के पूर्व में दुर्वासा जी का एक छोटा मंदिर है
उत्तर मोंक्ष द्वार के पास पश्चिम की ओर कुशेंश्रवर शिव मंदिर है। यहां कुशेश्रवर का दर्शन किये विना द्वारका यात्रा अधूरी मानी जाती है।
कुशेंश्रवर शिवलिंग तथा पार्वती की मूर्ति में नीचे तहखानें में है।
मुख्य मंदिर में पश्चिम की दीवार के पास कुशेंश्रवर से आगें अम्बा जी, पुरूषोत्तम जी, दत्तात्रेय, माता देवकी, लक्ष्मी नारायण और माधव जी के मन्दिर हैं। पूर्व की दीवार के पास दक्षिण से उत्तर सत्य भामा मन्दिर,शंकराचार्य की गद्दी तथा जाम्बवती श्री राधा और लक्ष्मी नारायण के मंदिर है। यहां द्वार के पूर्व कोलाभक्त का मन्दिर हैं।
शारदा मठ– श्री रणछोड राय के मन्दिर के पूर्व घेरे के भीतर मन्दिर का भण्डार है और उससे दक्षिण जगतगुरू शंकराचार्य का शारदा मठ है।

श्री रणछोड़ जी के मंदिर से द्वारकापुरी की परिक्रमा प्रारम्भ होती है। मंदिर के पश्चिम गोमती के घाटों पर होते हुए संगम तक जाकर उत्तर घूमते हैं। यहां समुद्र में चक्रतीर्थ माना जाता है। भोग रत्नेश्वर महादेव, नगर के बाहर सिद्धनाथ महादेव, ज्ञान कुण्ड जूनी रामवाडी, और दामोदर कुण्ड हैं। आगे एक मील पर रूक्मिणी मंदिर तथा भागीरथी धारा लौटने पर कृकलास कुण्ड, सूर्य नारायण मंदिर, भद्रकाली मंदिर, जय विजय, निष्पाप कुण्ड होते हुये रणछोड़ राय के मंदिर में परिक्रमा समाप्त की जाती है।

सत्ययुग में महाराजश्वैत ने समुद्र के मध्य की भूमि पर कुश बिछाकर यज्ञ किये थे, इससे इसे कुशस्थली कहते हैं। इसके बाद यहां कुश नामक दानव ने उपद्रव प्रारम्भ किया। उसे मारने के

लिए ब्राह्मणी राजा बलि के यहां से त्रिविकम भगवान को ले गये। जब दानवशस्त्रों से नहीं मरा तब भगवान ने उसे भूमि में गाड़कर उसके ऊपर उसी की आराध्य कुशेश्वर लिंग मूर्ति स्थापित कर दी। दैत्य के प्रार्थना करने पर भगवान ने उसे वरदान दिया कि 'कुशेश्वर का जो दर्शन नहीं करेगा, उ. की द्वारका यात्रा का आधा पुण्य उस दैत्य को मिलेगा।

एक अन्य कथा इस प्रकार है–

एक बार दुर्वासा जी द्वारका पधारे। उन्होंने विना कारण ही रूक्मिणी जी को श्रीकृष्ण से वियोग होने को शाप दिया। रूक्मिणी जी के दुःखी होने पर भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हे आश्वासन दिया कि श्रीकृष्ण चन्द्र की मूर्ति का वियोग काल में वे पूजन कर सकेंगी। कहते हैं वहीं श्री रणछोड़ राय की मूर्ति हैं। वर्तमान मंन्दिर का अनेकों बार जीर्णोद्धार हुआ लेकिन उसकी प्रथम प्रतिष्ठा वजनाभ द्वारा हुई मानी जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा द्वारा समुद्र में द्वारकापुरी बनवायी और मथुरा से सब यादवों को यहां ले आये। श्रीकृष्ण चन्द्र के लीला संवरण के बाद द्वारका समुद्र में डूब गयी। एकमात्र श्रीकृष्ण का निज भवन नहीं डूबा। वज्रनाभ ने वहीं रणछोड राय के मंदिर की प्रतिष्ठा की।

श्री जगन्नाथ धाम यात्रा :–

श्री जगन्नाथ चार परम पावन धामों में से एक है। इस कलियुग का पावनकारी धाम पुरी है।

पहले यहां नीलांचल नामक पर्वत था और नीलमाधव भगवान की श्री मूर्ति थी इस पर्वत पर, जिसकी देवता लोग अराधना करते थे। वह पर्वत भूमि में चला गया और भगवान की वह मूर्ति देवता अपने लोक में ले गये, लेकिन इस क्षेत्र को उन्हीं की याद में अब भी नीलांचल कहते हैं। श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर के शिखर पर लगा चक 'नीलाच्छत्र' कहा जाता है। उस नीलाच्छत्र के दर्शन जहां तक होते हैं, वह पूरा क्षेत्र जगन्नाथपुरी है।

इस क्षेत्र के कई नाम हैं। इसे श्रीक्षेत्र, पुरूषोत्तन पुरी तथा शंखक्षेत्र भी कहा जाता है। क्योंकि इस पूरे पुण्यक्षेत्र की आकृति शंख के समान है। शाक्त इसे उड्डियान पीठ कहते हैं। ५१ शक्तिपीठों में यह एक पीठ स्थल है। सती की नाभि यहां गिरी थी।

श्री जगन्नाथ जी के महाप्रसाद में छुआ–छूत का दोष नहीं माना जाता और व्रत–पर्वादि के दिन भी उसे ग्रहण करना विहित है। भगवत्प्रासाद अन्न या पदार्थ नहीं हुआ करता, वह तो चिन्मय तत्व है। उसे पदार्थ मानकर विचार करना ही दोष है।

श्री जगन्नाथ पुरी में–

१– महोदधि – यह समुद्र है।

२– रोहिणी कुण्ड

३– इन्द्रधुम्न सरोवर

४–मार्कण्डेय सरोवर

५–श्वेत गंगा

६–चन्दन तालाब

७–लोक नाथ सरोवर

८–चक तीर्थ

यह आठ पवित्र जल तीर्थ हैं। इनमें से भी समुद्र स्नान तथा रोहिणी कुण्ड, मार्कण्डेय सरोवर और इन्द्रधु सरोवर का स्नान विशेष महत्व का माना जाता है।

१– श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर से सीधा मार्ग समुद्र तट को जाता है। स्नान का स्थान स्वर्ग द्वार कहा जाता है। श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर से स्वर्ग द्वार लगभग एक मील है।

२– रोहिणी कुण्ड श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर के भीतर ही है। इसमें सुदर्शन चक्र की छाया पड़ती है। कहा जाता है कि एक कौवा अचानक इसमें गिर पड़ा, इससे उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुयी।

३– इन्द्रधुम्न सरोवर मन्दिर से लगभग ड़ेढ़ मील पर गुंडीया मंदिर के पास है।

४–५– मार्कण्डेय सरोवर और चन्दन तालाब ये दोनों ही पास–पास हैं, यह सरोवर जगन्नाथ जी के मन्दिर से आधा मील दूर है।

६– श्वेत गंगा सरोवर स्वर्ग,द्वार के मार्ग में है।

७– श्री लोक नाथ मंदिर के पास लोक नाथ सरोवर है। जगन्नाथ जी के मन्दिर से लगभग दो मील है। हर पार्वती सर या शिवगंगा भी कहते हैं।

८– चक्र तीर्थ समुद्र तट पर है।

जगन्नाथ मंदिर तथा परिसर– श्री जगन्नाथ मंदिर बहुत विशाल है। मन्दिर दो परकोटों के भीतर है, इसके चारों ओर चार महाद्वार है। मुख्य मंदिर के तीन भाग हैं–विमान या श्री मंदिर, जो सबसे ऊंचा है इसी में श्री जगन्नाथ जी विराजमान हैं। उसके सामने जगमोहन है और जगमोहन के ब.द मुखशाला नामक मंदिर है। मुखशाला के आगे भोगमण्डप है। श्री जगन्नाथ मंदिर के पूर्व में सिंहद्वार, दक्षिण में अश्वद्वार, पश्चिम में व्याघ्रद्वार और उत्तर में हस्तिद्वार है।

सिंहद्वार के सामने कोणार्क से लाकर स्थापित किया उच्च अरूण स्तम्भ है। इसकी प्रदक्षिणा करके सिंहद्वार को प्रणाम करके द्वार में प्रवेश करने पर दाहिनी ओर पतित पावन जगन्नाथ जी के विग्रह द्वार में ही दिखायी देते हैं इनका दर्शन सभी के लिये सुलभ है। विधर्मी भी इनका दर्शन कर सकते

हैं। आगे एक छोटे मंदिर में विश्वनाथ लिंग है। श्री जगन्नाथ जी के मंदिर के दूसरे प्रकार के भीतर जाने से पहले २५ सीढ़ी चढ़ना पड़ता है। इन सीढियों को प्रकृति के २५ विभागों का प्रतीक माना गया है। द्वितीय प्रकार के द्वार में प्रवेश करने से पूर्व दोंनों ओर भगवन्प्रासाद का भण्डार दिखायी पडता है। आगे अजान नाथ गणेश, बटेरा महादेव और परमंगला देवी के स्थान हैं। सत्य नारायण भगवान हैं। इनकी सेवा अन्य धर्म भी करते हैं, आगे वटवृक्ष है जिसे कल्पवृक्ष कहते हैं। उसके नीचे बालमुकुन्द के दर्शन होते हैं। वटवृक्ष की परिक्रमा की जाती है। वहां से आगे गणेश जी का मंदिर है। इन्हें सिद्ध गणेश कहते हैं पास में सर्वमंगला देवी तथा अन्य देवी मंदिर हैं।

श्री जगन्नाथ जी के मुख्य मन्दिर के सामने मुक्तिमडप है। इसे ब्रह्मासन कहते हैं। ब्राह्णी पूर्व काल में यज्ञ के प्रधानाचार्य होकर यहीं विराजमान होते थे। इस मुक्तिमंडप में स्थानीय ब्राह्मण विद्वान के बैठने का प्रचलन है।

मुक्तिमंडप के पीछे की ओर मुक्तनृसिंह का मंदिर है। ये यहां के क्षेत्रपाल हैं। इस मंदिर के पास ही रोहिणी कुण्ड है। उसके पास ही विमला देवी का मंदिर है। यह यहां काशक्तिपीठ है। जैन लोग इस विग्रह का सरस्सती नाम से पूजन करते हैं।

यहां से थोडी दूर पर सरस्सती जी का मन्दिर है। सरस्सती तथा लक्ष्मी जी के मंदिरों के बीच मे नीलमा जी का मंदिर है। यहीं कूर्म बेढा में श्री जगन्नाथ जी का एक और छोटा मंदिर है। समीप ही कांची गणेश की मूर्ति है। आगे भुवनेश्वरी देवी का मंदिर है। उत्कल के शाक्त अराधकों की ये आराध्या हैं।

वहां से आगे लक्ष्मी जी का मंदिर है। इस मंदिर में भी लक्ष्मी जी की मुख्य मूर्ति है। समीप ही श्रीशंकराचार्य जी तथा लक्ष्मी नारायण की मूर्तिया हैं । इसी मंदिर के जगमोहन में कथा तथा अन्य शास्त्र पर चर्चा होती है।

श्री लक्ष्मी जी के मंदिर के पास ही सूर्य मंदिर है। मंदिर में सूर्य चन्द्र तथा इन्द्र की छोटी–छोटी मूर्तिया हैं। कोणार्क मंदिर से लायी हुयी सूर्य भगवान की प्रतिमा इसी मंदिर में गुप्त स्थान में रखी है।

पातालेश्वर महादेव का सुन्दर मन्दिर यहीं पर है। इनका बहुत माहात्म्य माना जाता है। यहीं उत्तर मणि देवी की मूर्ति है। यहां से पास ही ईशानेश्वर मन्दिर है। इनको श्री जगन्नाथ जी का मामा कहतें हैं। इस लिंग विग्रह के सामने जो नन्दी की मूर्ति है, उससे गुप्त गंगा का प्रवाह निकला है। वहां नख से आघात करनें पर जल निकल आता है।

थ्नज मंदिर से एक द्वार बाहर को जाता है इस द्वार को बैकुण्ठ द्वार कहते हैं। बैकुण्ठ द्वार के समीप बैकुंठेश्वर महादेव का मंदिर है। यहां बागीचा है। बारह वर्ष पर जब भी जगन्नाथ जी का कलेवर परिवर्तन होता है, तब पुराने विग्रह को यहीं समाधि दी जाती है।

जय विजय द्वार में जय विजय की मूर्तियां हैं। इनका दर्शन करके, इनसे अनुमति लेकर तब निज मंदिर में जाना उचित है। इसी द्वार के समीप श्री जगन्नाथ जी का भंडार घर है।

तीर्थ यात्री लोग अधिकतर मंदिर की परिकमा करके जब थोडा परिक्रमाश बाकी रहता है निज मंदिर के जगमोहन में प्रवेश करते हैं। जगमोहन मे गरूड स्तम्भ है श्री चैतन्य महाप्रभु यही से श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करते थे। वहां एक छोटा गड्ढा भूमि मे है। कहते हैं कि यह गड्ढा महाप्रभु के आसुओं से भर जायां करता था। गरूड ध्वज को दाहिने करके तथा जय विजय की मूर्तियों को प्रणाम करके तब आगे निज मंदिर मे जाना चाहिये।

निज मदिर में १६ फीट लम्बी, ४ फीट ऊँची वेदी है। वेदी के तीन ओर ३ फुट चौडी गली है, जिससे यात्री जगन्नाथ जी की परिकमा करते है। इस वेंदी पर श्री जगन्नाथ, सुभद्रा तथा वलराम जी की मुख्य मूर्तियां विराजमान है। श्री जगन्नाथ जी का श्याम वर्ण है। वेदी पर एक ओर ६ फीट लम्बा सुदर्शन चक प्रतिष्ठित है। यहीं नीलमाधव, लक्ष्मी तथा सरस्वती की छोटी मूर्तियां भी है।

श्री जगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलराम जी की मूर्तियां अपूर्ण है। उनके हाथ पूरे नहीं बनें हैं। मुख मण्डल भी सम्पूर्ण निर्मित नहीं है।

तीर्थयात्री एक बार श्री जगन्नाथ जी के मंदिर में भीतर तक जाकर चरण स्पर्श कर सकते हैं। जगमोहन में से दर्शन रात्रि में पट बंद होने के अतिरिक्त सभी समय होता है। लेकिन यहां कि सेवा पद्धति में अन्तर होने के कारण यह निश्चित नहीं है कि किस समय भोग लगेगा और कब सबके लिए भीतर तक जाने की सुविधा प्राप्त होगी। अधिकतर रात्रि में ही यह सुविघा होती है दिन में भी एक समय यह सुविधा मिलती है। लेकिन प्रतिदिन उसके मिलने का निश्चय नही है।

वैशाख शुक्ला तृतीया से ज्येष्ठ कृष्णा ८ तक २१ दिन चन्दन मात्रा होती है। इस समय मदन मोहन, राम कृष्ण, लक्ष्मी तथा सरस्वती, पंचमहादेव नीलकंठेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, लोकनाथ, कपाल मोचन और जम्भेश्वर के उत्सव –विग्रह चन्दन तालाब पर जाते है। वहा स्नान तथा नौकाविहार होता है।

ज्येष्ठशुक्ला एकादशी को रूक्मिणी–हरण लीला मंदिर पर होती है। ज्येष्ठ पूर्णिमा को श्री जगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलराम जी की स्नान यात्रा होती है ये भी विग्रह स्नान मण्डप मे जाते हैं।

वहां उन्हें १०८ घडों के जल से स्नान कराया जाता है। स्नान के पश्चात् भगवान् का गणेश –वेश में श्रंगार होता है। कहा जाता है कि इस अवसर पर श्री जगन्नाथ जी के एक गणेश जी के भक्त को गणेश रूप में दर्शन दिया था। इसके बाद १५ दिन मंदिर बंद रहता है।

आषाढ़ शुक्ला द्वितीया को श्री जगन्नाथ जी की रथयात्रा होती हैं। यह पुरी का प्रधान महोत्सव है। तीन अत्यन्त विशाल रथ होते है। पहले रथ पर श्री बलराम जी, दूसरे पर सुभद्रा तथा सुदर्शन चक, तीसरे पर श्री जगन्नाथ जी विराजमान होते है।शाम तक ये रथ गुंडीया मन्दिर पहुँच जाते है।

दूसरे दिन भगवान रथ से उतरकर मन्दिर में पधारते है। और सात दिन वहीं विराजमान रहते है। दशमी को वहां से रथ लौटते हैं। इन नौ दिनो के श्री जगन्नाथ जी के दर्शन को ' आड़पदर्शन' करते है । इसका बहुत अधिक माहात्म्य माना जाता हैं । श्री जगन्नाथ जी के सेवको का उत्सव श्रावण की आमावस्या को होता है। श्रावण में शुक्ल पक्ष की दशमी से झूलन यात्रा होती हैं । जन्माष्टमी को जन्मोत्सव, भाद्रकृष्णा ११ को कालिय दमन भाद्रशुक्ल ११ को कालिय दमन, भाद शुक्ल ११ को पार्श्व परिवर्तनोत्सव, वामन द्वादशी, अश्विन पूणिामा को सुदर्शनविजयोत्सव तथा नवरात्र में विमला देवी के उत्सव मन्दिर में अधिकतर सभी पर्वो पर महोत्सव होते रहते हैं। द्वापर में द्वारिका में श्री कृष्ण की पररानियो ने एक बार माता रोहिणी के भवन में जाकर उनसे आग्रह किया कि वे उन्हें श्याम सुन्दर की ब्रज –लीला के गोपी –प्रेम – प्रसंग सुनाये । माता रोहिणी ने इस बात को टालने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन पटरानियों के आग्रह के कारण उन्हें वह वर्णन सुनाने को बाध्य होना पडा। माता रोहिणी नहीं चाहती थी कि सुभद्रा जी वहां उपस्थित रहें, इसलिए उन्होंने सुभद्रा जी को भवन के द्वार के बाहर खड़ा रहने को कहा और आदेश दे दिया कि वे किसी को अन्दर न आने दें। संयोग से उसी समय श्रीकृष्ण बलराम वहां पधारे। सुभद्रा जी ने दोनों भाइयों के बीच में खड़े होकर अपने दोनों हाथ फैलाकर दोनों को भीतर जाने से रोक दिया। ब्रज प्रेम की जो वार्ता बंद द्वार के भीतर हो रही थी उसे द्वार के बाहर से ही सुनकर तीनों के हीशरीर द्रवित होने लगे। संयोगवश उसी समय देवर्षि नारद वहां पधारे उन्होंने यह जो प्रेम का द्रवित रूप देखा तो प्रार्थना करने लगे कि–'आप तीनों इसी रूप में विराजमान हों।' श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया–'कलियुग में दाऊ विग्रह में इसी रूप में हम तीनों स्थित होंगे।'

प्राचीन काल में मालव देश के नरेश इन्द्रधुम्न को पता चला कि उत्कल प्रदेश में कहीं नीलांचल पर भगवान् नीलमाधव का देवपूजित श्रीविग्रह है। वें परम् विष्णु भक्त थे वे श्रीविग्रह के दर्शन करने के प्रयत्न में लगे। उन्हें स्थान का पता लग गया, लेकिन वे वहां पहुंचे इसके पहले ही देवता उस श्रीविग्रह को लेकर अपने लोक चले गये थे। उसी समय आकाशवाणी हुई कि दारू ब्रह्मरूप में तुम्हें अब श्री जगन्नाथ के दर्शन होंगे।

राजा इन्द्रद्युम्न अपने परिवार के साथ आये थे वे नीलाचल के पास ही बस गये। एक दिन समुद में एक बह बड़ा काष्ठ बहकर आया। राजा ने उसे निकलवा दिया। इससे विष्णुमूर्ति बनवाने का उन्होने निश्चय किया। उसी समय वृद्व बढ़ई के रूप मे विश्वकर्मा उपस्थित हुए, उन्होने मूर्ति बनाना स्वीकार किया। लेकिन यह निश्चय करा लिया कि जब तक वे सूचित न करे, उनका वह गृह खोया न जाय जिसमें वे मूर्ति बनायेगें ।

महादास को लेकर वे वृद्व बढ़ई गुंडीचामन्दिर के स्थान पर भवन मे बंद हो गये। अनेक दिन बीत जाने पर महारानी ने आग्रह किया कि इतने दिनों मे वह वृद्व मूर्तिकार अवश्य भूख प्यास से मर गया होगा।

भवन का द्वार खोलकर उसकी अवस्था देखने पर महाराज ने पाया कि बढई तो अदृश्य हो चुका है लेकिन वहां जगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलराम जी की अपूर्ण प्रतिमाएं मिली। राजा को बहुत दुख हुआ मूर्तियों के सम्पूर्ण न होने से लेकिन उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'चिन्ता मत करो।' इसी रूप में रहने की हमारी इच्छा है । मूर्तियों पर पवित्र द्रव्य चढ़ाकर उन्हें प्रतिष्ठित कर दो।

इस आकाशवाणी के अनुसार वे ही मूर्तिया प्रतिष्ठित हुयी। गुंडीचा मन्दिर के पास मूर्ति निर्माण हुआ था, इसलिये गुंडीचामन्दिर को ब्रहम्लोक या जनकपुर कहते है।

द्वारिका में एक बार श्री सुभद्रा जी ने नगर देखना चाहा। श्रीकृष्ण तथा बलराम जी उन्हे अलग रथ में बैठाकर, अपने रथो के मध्य में उनका रथ करके उन्हें नगर दर्शन कराने ले गये इसी घटना के स्मारक– रूप में यहां रथ यात्रा निकलती है।

उत्कल में 'दुर्गा–माधव–पूजा' एक विशेष पद्धति ही है। अन्य किसी प्रान्त में ऐसी पद्धित नही है इसी पद्धित के अनुसार श्री जगन्नाथ जी को भोग लगा नैवेद्य विमला देवी को भोग लगता है और तब वह महाप्रसाद माना जाता है।

व्यापारिक यात्रायें

व्यापारिक यात्रायें

व्यापार के लिए की गयी यात्रा को प्राचीन भारतीय यात्रा..परंपरा का महत्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। प्राचीन काल से ही मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार के लिए आया जाया करता था। प्रारम्भ में व्यापार कुछ ही प्रदेशों तक सीमित था। लेकिन धीरे–धीरे मनुष्य, नये–नये रास्तों और देशों का पता लगाना शुरू किया। जिससे भौगोलिक ज्ञान की जानकारी बढी और आवश्यकता का विकास होता गया। प्राचीन काल में यात्रा करना बहुत मुश्किल होता था। डाकू और हिंसक जानवर जंगलों में रहा करते थे। इसलिए अकेले यात्रा करना कठिन था। धीरे–धीरे लोग समूह में यात्रा करने लगे, इस तरह समूह में यात्रा करने से व्यापार में आने वाली परेशानियां कम हो गयी। समूह में यात्रा करने को 'सार्थ' कहा गया है। यह सार्थ परंपरा ने दूर के व्यापार को विशेष गतिशील साधन बना दिया। सार्थवाह का यह कर्तव्य होता था कि वह सार्थ में सम्मिलित व्यापारियों की सुरक्षा करते हुए उसे निश्चित स्थान तक पहुँचाये। सार्थवाह कुशल व्यापारी होने के अतिरिक्त पथ प्रदर्शक भी होता था। हड़प्पा और मोहन जोदडों से पुरातात्विक अवशेष मिलें हैं जिनसे प्राचीन काल की अवश्यकता की नयी झलक

मिलती है और व्यापार के बारे में पता चलता है कि अफगानिस्तान या ईरान से लाजवर्द आता था। कच्चे शीशे की गुरियों से और छेददार बरखरों से इसका सम्बन्ध हड़प्पा संस्कृति से माना जाता है।[1]

पुरातात्विक पिगट के अनुसार हडप्पा के व्यापारी दक्षिणी बालूचिस्तान में जाते थे।[2] सिन्ध और बलूचिस्तान में व्यापार चलता था तथा बलूचिस्तान की पहाड़ियों से माल और कभी-कभी मनुष्य भी सिन्ध के मैदान में उतरते थे। इस देश के बाहर कुल्ली संस्कृति का संबंध ईरान और ईराक से था। सुमेर के साथ व्यापारिक संबंध दक्षिण बलूचिस्तान से था। हड़प्पा संस्कृति के साथ सुमेर का व्यापारिक संबंध लगभग 500 वर्ष बाद हुआ। और यह व्यापारिक संबंध समुद्र के रास्ते था।

हड़प्पा और मोहन-जोदड़ों बडे व्यापारिक नगर थे। इन नगरों का व्यापार चलाने के लिए बहुत से छोटे-छोटे नगर और बाजार थे। ऐसे चौदह बाजार हड़प्पा संस्कृति से सम्बन्धित थे और सजह बाजार मोहन-जोदड़ों से उत्तर दक्षिण बलूचिस्तान के कुछ

---

1 स्टुअर्ट पिगट, प्रीहिस्टोरिका इण्डिया, पृष्ठ 93-94, लंदन 1950
2 स्टुअर्ट पिगट, प्रीहिस्टोरिका इण्डिया, पृष्ठ 113-114, लंदन 1950

बाजारों में भी हड़प्पा मोहन जोदडों के व्यापारी रहते थे। नदियां उत्तर और दक्षिण के नगरों को जोडती थी तथा बलूचिस्तान की ओर छोटे–छोटे रास्ते जाते थे। दक्षिणी बलूचिस्तान ओर सुमेर में लगभग 28 00 ई0 पू0 में व्यापारिक संबंध थे। सिन्ध से दक्षिण बलूचिस्तान का व्यापारिक संबंध स्थल मार्ग से था।

हडप्पा और मोहन जोदड़ों से प्राप्त रत्नों और धातुओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है क हडप्पा सस्कृति मे व्यापार किस–किस स्थान से होता था। बलूचिस्तान से सेलखड़ी, अलबास्टर आते थे और अफगानिस्तान या ईरान से चांदी। हेमिटाइट फारस की खाड़ी में हुरमुज से आता था।[1]

दक्षिण में काठियावाड़ से शंख, अकीक, रक्तमणि, करके तन, चेलसिडनी और स्फटिक आता था। कराची तथा काडियावाड़ से एक तरह की सूखी मछली आती थी।

व्यापार के लिए नगरों में व्यापारी एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने के लिए सार्थवाह थे। माल ढोने के लिए ऊँट का प्रयोग किया जाता था और पहाड़ी जगहों में टट्टुओं का

---

1 मेके, दि इण्डस सिविलिजेशन, पृष्ठ 98

इस्तेमाल किया जाता था। झूकर से एक घोडे की काठी की मिट्टी की प्रतिकृति मिली है।

पहाडी रास्तों में बकरों से माल ढ़ोया जाता था। हडप्पा संस्कृति में धीमी गति वाली बैलगाड़ियों का भी प्रचलन था। बैलगाडी की बहुत सी मिट्टी की मूर्तियां मिली है।

हडप्पा संस्कृति में नावों के माध्यम से भी व्यापार होता था। इसके प्रमाण के रूप में नाव के दो चित्रण मिलते है।[1]

मैके के अनुसार हड़प्पा संस्कृति के युग से सिन्ध के मुहाने से मिलकर जायज बलूचिस्तान के समुद्री किनारे तक जाते थे।[2]

पिगट के अनुरार हड़प्पा संस्कृति का सुमेर के साथ सीधा सम्बन्ध लगभग ई0 पू0 2300 में हुआ। हडप्पा के साथ उत्तर ईरान के हिसार की तृतीय सभ्यता का भी सबंध था जिसका समय करीब 2000 ई0 पू0 था। इसीलिए वहां से हड़प्पा की कुछ वस्तुएं मिली है। सुमेर के साथ व्यापारिक यात्राएं दक्षिणी बलूचिस्तान के व्यापारियों ने स्थापित किया था। 2300 ई0 पू0 में ये व्यापारिक यात्राएं हड़प्पा के व्यापारियों के

---

1 ई0 मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट् मोहन– जोदड़ो, भाग 1, पृष्ठ 340 – 41 प्ले 79 ए0, आकृति।

2 मैके, दी इण्डस वैली सिविलाइजेशन, पृष्ठ 197–98

हाथ में चली गयी। यह व्यापार फारस की खाडी तक समुद्र से चलता था।

शाही तुरब से मिले कब्रगार के बर्तनों तथा दूसरी वस्तुएं के आधार पर हडप्पा सभ्यता का संबंध ईरान में बामपुर, सुदूर दक्षिणी रूस, हिसार की तृतीय की, अनाऊ तृतीय तथा सूसा की सभ्यताओं से किया जा सकता है। बाहरी संस्कृतियों के साथ सबंध की प्रतीक थे वस्तुएं व्यापारिक यात्राओं के माध्यम से लायी गयी।

वैदिक कालीन व्यापारिक यात्राएं

ऋग्वेदऔर उसके बाद की संहिताओं में लम्बी सड़को से यात्रा करने का उल्लेख मिलता है।[1]

श्री सरकार के अनुसार इन रास्तों पर रथ चलते थे।[2] वैदिक युग में व्यापारी लम्बी यात्राएं करते थे। व्यापारियों का उद्देश्य होता था पैसा कमाना।[3] ये व्यापारी लाभ के लिये पूँजी भी लगाते थे।[4]

---

1 ऋग्वेद 10/17/4–6, ऐतरेय ब्राह्मण 9/15; काठक संहिता, 37/14; अथर्ववेद 8/822 – परिश्य्या

2 सुविमल चन्द्र सरकार, सम आसपेनट्स आफ दी अर्लियर साशल लाइफ ऑफ इण्डिया, पृष्ठ – 14, लंडन, 1928

3 ऋग्वेद, 3/118/3

इन व्यापारियों का माल विभिन्न देशो मे जाता था।[2] वैदिक युग के व्यापारी स्थल और समुद्र दोनो मार्गों से व्यापार करते थे। ये व्यापार आन्तिम और बाहरी दोनो जगहों में होता था।

ऋग्वेद में व्यापारियों के लिए वणिज्[3] शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यापार वस्तुओं की अदला–बदली से चलता था। अथर्ववेद में वर्णन मिलता है कि दूर्श और पवस का व्यापार होता था। दूर्श एक तरह का ऊनी कपड़ा का और पवस चमडे को कहते थे। वस्तु विनिमय के लिए गाय का प्रयोग होता था। बाद में शतमान सिक्के का प्रयोग होने लगा।

ऋग्वेद[4] और बाद की संस्कृतिओं के[5] अनुसार समुद्री व्यापार नाव से होता था। नौ शब्द का प्रयोग अधिकतर नदियों में चलने वाली छोटी नावों के लिए होता था।

ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है।[6] एक स्थान पर तुग्र के पुत्र भुज्यु की समुद्री यात्रा का वर्णन है। मार्ग में

---

1 अथर्ववेदन, 3/15/6
2 अथर्ववेदन 3/15/4
3 ऋग्वेद, 11/12/11,5/45/6
4 ऋग्वेद, 1/131/2,2/39/4
5 अथर्ववेद 2/36/5;5/19/8
6 ऋग्वेदन 1,25, 7, 1.66.2

उसके जलयान डूब गये आत्मरक्षा का और कोई उपाय न देखकर उसने अश्विन् देवताओं से प्रार्थना की। अश्विन् ने दयार्द्र होकर उसकी तथा उसके सहगामियों की रक्षा के लिए सौ पतवारों वाली एक नाव भेदी दी।[1] बुहलर का अनुमान है कि यह घटना हिन्दमहासागर में भुज्यु की किसी यात्रा की ओर संकेत करते हैं जिसमें उसका जहाज टूट गया था।[2] वैदिक युग में बृबु भी एक बडा समुद्री व्यापारी था।[3]

अतः यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक युग में भारतीयों का विदेशों से सम्बन्ध था अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी, वैदिक कार्य समुद्र यात्रा करते थे तथा भुज्यु और बृबु जैसे व्यापारी इस देश से दूसरे देशों का सम्बन्ध स्थापित किये।

इस सम्बन्ध में हमें पुरातात्विक प्रमाण बहुत नहीं मिल पाते लेकिन वेदों में विरोध रूप से अथर्ववेद में कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जिनमें पता लगता है कि वैदिक युग में भी भारतीयों के साथ बाहुल का सम्बन्ध रहा होगा।

10वी शताब्दी ई0 पू0 में भारत का विदेशों के साथ व्यापार होता था। जिसमें अरब मध्यस्थता का काम करते थे। 9वीं

---

1 ऋग्वेद 1.116 3–5 वैदिक इंडेक्स, 1,46 1–62

2 वैदिक इंडेक्स, 2, 107–108

3 ऋग्वे , 6/45/31–33

शताब्दी ई0पू0 में भारत का असीरिया के साथ व्यापार हुआ करता था। इस समय भारतीय हाथी असीरिया भेजे जाते थे। इसके अतिरिक्त असीरिया के राजा सेन्ने चेरीब ने लगभग 704–681 ई0 पू0 मे अपने उपवन में कपास के पौधे लगाये थे।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में समुद्र यात्रा होती थी और वे शास्त्र सम्मत थी।

पाणिनी व्यापारियों के लिए 'वणिक्'[2] और वाणिज[3] शब्दों का प्रयोग करते हैं। पाणिनी काल मे भिन्न–भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न–भिन्न व्यापारी थे। जैसे कि गौओं के व्यापारी 'गोवाणिज'[4] होते थे। वहां पर क्रेता और विक्रेता दोनो जमा होते थे।

देश में अनेक व्यापारिक मार्ग थे जिनसे व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान में व्यापार संबन्धी यात्राएं किया करते थे। प्रमुख मार्ग उत्तर पथ[5] था। यह मार्ग पाटलीपुत्र से प्रारम्भ होकर वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, साकल, तक्षशिला, पुष्यकलावती, कपिशा आदि

---

[1] जे0 आर0 ए0 एस0, 1916, पृष्ठ 403 जनरल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी

[2] वासुदेव शरण अग्रवाल – पाणिनी कालीन भारत वर्ष 3.3 52

[3] वासुदेव शरण अग्रवाल – पाणिनी कालीन भारत वर्ष 6.2 13

[4] वासुदेव शरण अग्रवाल – पाणिनी कालीन भारत वर्ष 6.2. 13

[5] वासुदेव शरण अग्रवाल – पाणिनी कालीन भारत वर्ष 3.3. 119

नगरों से होकर बाल्मीक देश तक जाता था। इस प्रमुख मार्ग के अतिरिक्त देश को विविध नगरों को मिलाने वाले अन्य छोटे बड़े मार्ग थे।[1] व्यापारियों ओर यात्रिओं की सुविधा के लिए मार्गों पर विश्राम स्थल बनाये जाते थे।

सूत्र काल में मन्त्रों द्वारा व्यापार में लाभ होने की आशा से किए गए 'पाण्ड्यसिद्धि' संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है। इस काल में 'समुद्र' तथा 'सिन्धु' शब्दों का प्रयोग होता है लेकिन सूत्र काल मे सामुद्रिक ज्ञान बहुत कम था।

जातकों में अनेक तरह की सडकों का वर्णन मिलता है। सड़के प्रायः कच्ची होती थी। बड़ी सड़के महामग्ग, महापथ, राजमग्ग कहलाती थी। कुछ सडके बनायी जाती थी। सड़के अधिकतर ऊबड–खाबड़ और साफ सुथरी नहीं होती थी।[2]

व्यापारिक यात्राएं अधिकतर जंगली और रेगिस्तानों से होकर गुजरती थी। रास्तें में अधिकतर भुखमरी, जंगली जानवर, डाकू, भूत, प्रेत और जहरीले पौधे मिलते थे।[3] कभी–कभी हथियार बंद डाकू

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल – पाणिनी कालीन भारत वर्ष 3 5 1 77

2 जातक 1, 196

3 जातक 1,98,271, 274, 283, 3, 315, 4,185, 12. 6,26

व्यापारिक यात्रियों के कपडे और सामान लूट ले जाते थे।[1] जंगली लोग प्राय. सार्थी के कठिन मार्ग पर पथ प्रदर्शक का कार्य करते थे जिसके लिए उन्हे उचित पारितोषिक मिलता था।[2]

जब इन सडकों पर कोई बडी सेना चलती थी तो सडक ठीक करने वाले मजदूर उसके साथ चलते थे। रामायण में इस बात का वर्ण मिलता है कि जब भरत चित्रकूट में राम से मिलने के लिए चले तो उनके साथ सड़क बनाने वालों की बहुत संख्या थी। सेना के अग्र मार्गदर्शनक चलते थे जिन्हें दैशिक, पथज्ञ कहते है।

एक जातक से यह जानकारी मिलती है कि बोधिसत्व सडक की मरम्मत करते थे। बोधिसत्व अपने साथियों के साथ प्रातः काल उठकर अपने हाथों में पीटने और फरसे इत्यादि लेकर नहर की चौमूहानियों और दूसरी सडकों में पड़ें पत्थरों को देते थे। ऊबड-खाबड़ रास्ते चौरस कर दिए जाते थे। सड़कों की सफाई और मरम्मत का काम कुछ मुख्य व्यक्तियों के हाथ मे था।

प्रमुख व्यक्तियों के सड़को पर चलने के पहले उनकी मरम्मत का वर्णन भी मिलता है। बुद्ध के वैशाली के मगध की ओर आने

---

1 जातक, 4, 185

2 जातक, 5, 22, 471

की सूचना जब मगध राज बिम्बिसार ने सुना तो उन्होंने महात्मा बुद्ध से सड़क की मरम्मत हो जाने तक रूक जाने की प्रार्थना की। राजगृह से पांच योजन तक की लम्बी सडक चौरस कर दी गई। इसके पश्चात् बुद्ध अपनी यात्रा पर निकले।[1]

राज्य की ओर से डाकुओ को रोकने के लिए कई खास प्रबन्ध न होने से माथवाट्ट स्वयं पहरेदारों व्यवस्था करते थे।[2] राज्य की ओर से सार्थ की रक्षा तथा मार्ग-दर्शन के लिए जंगलियों की व्यवस्था थी।[3] जंगलियों के साथ अच्छी नस्ल के कुत्ते होते थे।

मार्ग मे जंगली जानवरों का भी भय रहता था। कहा जाता है कि बनारस से जाने वाले महापथ पर एक आमखो बाघ रहता था।[4] मार्ग में खाना न मिलने से यात्रियों को खाने का सामान साथ ले जाना पडता था। पका खाना गाड़ियों पर चलता था।[5] पैदल चलने वाले यात्री सत्तू पर ही गुजर करते थे।

---

1. चरमपद अट्ठकथा 3/170
2. जातक 1, 204
3. जातक 4, 113
4. जातक 1, 204
5. जातक 2, 85

केवल व्यापार के लिए ही यात्रायें नहीं कि जाती थी। मार्ग पर ऋषि–मुनि, तीर्थ यात्री खेल–तमाशेवाले और विद्यार्थी बराबर यात्रा करते रहते थे । जातको में वर्णन मिलता है कि अधिकतर सोलह वर्ष की अवस्था मे राजकुमार विदांर्जन के लिए तक्षशिला की यात्रा किया करते थे।[1]

उस समय की यात्रा बहुत मुश्किल हुआ करती थी। उसके किसी साथी का मिल जाना बड़ा भाग्य माना जाता था लेकिन साथी का चुस्त होना बहुत जरूरी होता था। धम्मपद[2] आलसी और बेवकूफों के साथ यात्रा करने को मना करता है। बुद्धिमान साथी न मिलने पर अकेले यात्रा करना ही श्रेयस्कर माना जाता था।

बौद्ध साहित्य में वर्णन मिलता है कि घोडे के व्यापारी अधिकतर यात्रा करते रहते थे। उत्तरापथ के घोडे के व्यापारी अधिकाशतः बनारस आया करते थे।[3] एक जातक[4] में घोड़े के एक व्यापारी की कहानी है। वह व्यापारी एक बार पांच सौ घोड़ों के साथ उत्तरापथ से बनारस आया। बोधिसत्व जब राजा के कृपापात्र थे तो वे

---

1 जातक 2, 2
2 जातक ,5 161
3 जातक 1, 124
4 जातक 2, 122

घोडे बेचने .वाला को स्वयं घोडों का मूल्य लगाने की आज्ञा दे देते थे, लेकिन इस बार लालची राजा ने अपना एक घोडा उन बिक्री के घोडों के बीच भेज दिया। उस घोड़े ने दूसरे घोडों को काट लिया जिससे व्यापारियों को उसका मूल्य घटाना पडा।

फेरी वाले लम्बी व्यापारिक यात्रायें किया करते थे। व्यापारी अपने साथ तराजू, नगद रूपये और थैली रखते थे।[1]

एक स्रोत से इसे पता लगता है कि बनारस के एक कुम्हार अपने मिट्टी के बरतनों को एक खच्चर पर लादकर पास के शहरों में बेचा करता था। एक बार वह व्यापारी अपने शहरों में बेचा करता था। एक बार वह व्यापारी अपने बरतनों के साथ तक्षशिला तक व्यापार के लिये यात्रा कर आया था।[2]

अपने व्यवसाय में लाभ प्राप्त करने के लिए नाच–तमाशे वाले भी यात्राएं किया करते थे। एक जातक में[3] कहा गया है कि अपने एक मित्र डाकू सरदार के भाग जाने पर सामा नाम की एक गणिका ने नाचने वालों को उसकी खोज में बाहर भेजा।

---

1 जातक 1, 111
2 धरमपद अट्ठकथा, 3,224
3 जातक 3, 41

. एक स्थान पर एक नट की सुन्दर कथा का वर्णन मिलता है[1] जिसमें कहा गया है कि प्रत्येक वर्ष पांच सौ नट राजगृह आते थे और राजा के सामने अपने खेल तमाशे दिखाते थे। इन तमाशे दिखाते थे। इन तमाशें से उन्हें बहुत लाभ प्राप्त होता थां

बौद्ध साहित्य में ऐसे भी यात्रियों का उल्लेख मिलता है जिनकी यात्रा का उद्देश्य एकमात्र मनोरंजन करना था। यात्रा में साहसिक कार्य ही उनकी यात्रा के ईनाम हुआ करता थे।

साहसिक कारनामों का एक जातक में वर्णन मिलता है कि एक आदमी फेरीदार बनकर कलिंग में घूमा नया हाथ से लकड़ी लेकर उसने ऊबड खाबड़ रास्ता पार किया। कभी–कभी जुआड़ियों के साथ वह खेल खेलता था और कभी चिड़ियां कमाने के लिए जाल बिछाया तो कभी भीडों मे वह लाठी लेकर लड़ा भिडा।

व्यापारियों की यात्राओं में अनेक तरह की कठिनाइयां आती थी। देश के अन्दर और विदेशों में होने वाले व्यापार सार्थवाहों के द्वारा होते थे। व्यापारिक यात्रियों का एकमात्र उद्देश्य धर्नाजन ही नहीं था बल्कि यह भारतीय संस्कृति, और सभ्यता के प्रचारक भी थे। जैसा कि हम पहले बता चुका है कि उस युग में डाके पड़ते रहते थे

---

1 धम्मपद अ0, 3, 226 – 230

और जंगलो में जंगली जानवरो का भय बना रहता था और सारथी को जंगलों में हमेशा रास्ता भूलने का डर भी बना रहता था। ऐसी स्थिति में व्यापारी में समूह की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सार्थवाह की बुद्धि और चुस्ती पर निर्भर करता था। व्यापारियों के समूह पर उसका पूरा अधिकार रखा था। और वह अपने साथियों से अनुशासन की पूरी आशा रखता था। उसका यह कर्तव्य होता था कि वह सार्थ के भोजन और रहने का प्रबन्ध करे और इस बात का भी ख्याल रखे कि लोगों को भोजन समान रूप से मिल सके। इसके अतिरिक्त वह चालाक व्यापारी भी होता था। विपत्ति में वह कभी भी विचलित नही होता था। और अनेक बार साथी को विपत्तियों से बचाता था और अपने व्यापारिक साथियों से बचाने के उपाय भी बताता था।

एक जातक में उल्लेख मिलता है कि जब सार्थ एक जंगल में घुसा तो सार्थवाह ने अपने साथियों को मना कर दिया कि बिना उसकी आज्ञा के अनजानी पत्तियां, फल, और फूल न खाएं। एक बार अनजाने फल, फूल खाकर लोग बीमार पड़ गये तब सार्थवाह ने उन्हे जुलावा देकर उनके प्राण बचाये।

एक जातक में[1] सार्थवाह बोधिसत्व की कहानी दी गयी है जो कि पाच सौ गाडियों के साथ व्यापार करते थे। एक बार जब वे यात्रा कर रहे थे तो एक दूसरा बेवकूफ व्यापारी भी अपना सार्थ ले चलने को तैयार हुआ। बोधिसत्व ने विचार किया कि एक साथ एक हजार गाडियों के चलने से सड़की दुर्गति, पानी और लकडी की कमी और बैलों के लिए घास की कमी की सम्भावना हो जायेगी। इसलिए उन्होंने दूसरे सार्थवाह को पहले जाने दिया। उस सार्थवाह ने सोचा कि मगर मैं पहले जाऊंगा तो मुझे बहुत आसानी होगी। मुझे बिना कटी–कटी सड़क मिलेगी, मेरे बैलों को चुनी हुई घास मिलेगी और मेरे आदमियों को तरो–ताजा सब्जियां मिलेगी। दूसरे अतिरिक्त व्यवस्थित ढंग से पानी भी मिलेगा तथा मैं अपने द्वारा मांगे गये मूल्य पर माल का विनिमय भी कर सकूँगा। बोधिसत्व ने बाद में जाने से अपनी सुविधा की बात सोची, उसने सोचा कि पहले जाने वाले सड़कों को बराबर कर देंगे, उनके बैल पुरानी घास चर लेगें जिससे मेरे बैलों को पुरानी घास की जगह उगती हुई गई दूब मिलेगी, पुरानी वनस्पतियो को तोड़ लेने पर मेरे साथियों का नवीन वनस्पतियां मिलेगी तथा पानी न मिलने पर पहला सार्थ जो कुंए खोदेगा उन कुओं से हमें भी पानी मिलेगा। माल

---

[1] जातक 1, पृष्ठ 98 से

का दाम तय़ करना कठिन काम है अगर मैं पहले सार्थ के पीदे चला तो उनके द्वारा निश्चित किये दामों पर अपना माल आसानी से बचे सकूँगा।

परिमाण पर सार्थवाह ने साठ योजन का रेगिस्तानी बिना विचार किये रास्ता पार करने के लिए अपनी गाड़ियों पर पानी के घड़े भर लिये। लेकिन भूतों के इस बहकावे में आकर कि रास्तें पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, उसने घड़ों का पानी उड़ेलवा दिया। उसकी मूर्खता यहां तक थी कि जब हवा उनके सामने चलती थी, वह और उसके साथी, नौकरों के साथ हवा के बचने के लिए अपनी गाड़ियों के सामने चलते थे लेकिन जब हवा उनके पीछे चलती थी तब वे कारवां के पीछे हो लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे गरमी से व्याकुल होकर बिना पानी के रेगिस्तान में तड़पकर मर गये।

इसके विपरीत सार्थवाह बोधिसत्व जब अपने कारवां के साथ रेगिस्तान के किनारे पहुँचे तो उन्होंने पानी के घड़ो को भर लेने की आज्ञा दी तथा यह आदेश दिया कि बिना उनकी आज्ञा के एक चुल्लू पानी भी काम में नहीं लाया जाय। रेगिस्तान में विषैले पेड़ों और फलों के होने से उन्होंने कहा कि बिना उनके पूछे कोई जंगली फल न खाए। रास्तें भूतों ने उन्हें भी पानी फेंक देने के लिए बहकाया और कहा कि आगे पानी बरस रहा है। यह सुनकर बोधिसत्व ने अपने अनुयायियों

से कुछ प्रश्न किये– उन्होंने कहा कि – "कुछ लोगो ने हमसें अभी कहा हैं कि आगे जंगल मे पानी वरस रहा है, अब बताओ कि बरसाती हवा का पता कितनी दूर तक चलता है। साथियो ने जवाब दिया कि एक योजन तक। बोधिसत्व ने फिर पूछा कि क्या बरसाती हवा यहां तक पहुॅची है। साथियों ने कहा नहीं। बोधिसत्व ने फिर कहा कि– हम बरसाती बादलों की चोटी कितनी दूर से देख सकते हैं? साथियों ने कहा कि एक योजन से बोधिसत्व ने पूछा क्या किसी ने एक भी बरसाती बादल की चोटी देखी है। साथियों ने कहा नहीं। बोधिसत्व ने कहा बिजली की चमक कितनी दूर से दिखती है तब साथियों ने कहा कि चार या पांच भोजन से। बोधिसत्व ने कहा कि किसी भी साथी ने बिजली की एक भी चमक देखी है। साथियों का उत्तर नहीं में था। बोधिसत्व ने पुनः प्रश्न किया कि मनुष्य बादल की गरज कितनी दूर से सुन सकता है साथियों ने उत्तर दिया दो याह तीन भोजन से । बोधिसत्व ने अपने साथियों से पुनः पूछा कि क्या किसी में बादलों की एक भी गरज सूनी है लोगों ने कहा नहीं। इन सब प्रश्नों का पूछने के बाद बोधिसत्व ने कहा कि बरसात की बात गलत है। सार्थ इस तरह से कुशल पूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच गये।

एक अन्य जातक[1] में बोधिसत्व के बनारस के एक कुल में पैदा होने का वर्णन मिलता है। एक बार वे अपने सार्थ के साथ एक साठ योजन चौडं रेगिस्तान में पहुँचे। उस रेगिस्तान की धूल इतनी महीन थी कि मुट्ठी में लेने में सरककर अंगुलियों के बीच से निकल जाती थी। रेगिस्तान में दिन भर के बीच से निकल जाती थी। रेगिस्तान में दिन भर की यात्रा करना कठिन कार्य होता था। इसलिए साये अपने साथ ईधन, पानी, तेल, चावल इत्यादि सामान लेकर रात में यात्रा करते थे। प्रातः काल वे अपनी गाडियों को एक वृत में लगाते थे और उस पर एक पाल तान देते थे। प्रातः काल जल्दी से भोजन करके वे उसकी छाया में दिन भर बैठे रहते थे।

सूर्यास्त होते ही वे भोजन करके, और भूमि के जरा ठंडी हो जाने पर अपनी गाडियां आगे बढ़ाते थे। इस रेगिस्तान की यात्रा समुद्र -यात्रा की तरह दुखद थी। एक नक्षत्रों का जानकर काफिले का पथ प्रदर्शक करता था। रेगिस्तान पार करने में जब कुछ ही दूरी बाकी थी तो यात्री लोग ईंधन और पानी फेंककर आगे बढ़ गये। स्थल के विषय में भौगोलिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति को जो कि सबसे आगे चल रहा था, नींद आ गयी। जिसके कारण बैल

---

[1] जातक 1, 108 से

पीछे छूट गये। प्रातः काल जब उसकी नींद खुली तब अपनी गलती देखकर उसने गाडियों को घुमाने को करा। पथकष्ट लोगों के हाहाकार मच गया लेकिन बोधिसत्व ने ठंडे दिमाग से काम किया। उन्हें एक कुश स्थली दिखी जिससे वहां पानी होने का उन्होंने अनुमान लगाया। साठ हाथ खोदने पर उन्हें चट्टान मिली जिससे लोग पानी के लिए निराश हो गये। लेकिन बोधिसत्व ने एक आदमी को माला दी जिससे वो व्यक्ति नीचे उतरकर चट्टान तोड़ डाला और पानी बढ निकला। लोगों के खूब पानी पिया और नहाये। लोगों ने गाड़ी की जोते तथा चक्कर तोडकर ईंधन बनाए। इसके पश्चात सबने चक्कर तोडकर ईंधन बनाए। इसके पश्चात सबने चावल खाया और बैलों को भी खिलाया।

इस तरह सबने रेगिस्तान पार करके कुशल पूर्वक सपने लक्ष्य तक पहुँचे। जहां तक संभव है यह स्थान मारवाड़ अथवा सिन्ध का रेगिस्तान था।

व्यापारी लोग अपने देश का माल विदेशों में ले जाते थे और विदेशों का माल भारत में देश में आता था। ये व्यापारी

अपने यात्राओं के माध्यम से एक मात्र व्यापार ही नहीं करते थे। बल्कि ये भारतीय संस्कृति के प्रचारक और प्रसारक थे।

बौद्ध साहित्य में समुद्र यात्रा के अनेक उल्लेख मिलते हें। जातकों के भी समुद्र यात्रा के बहुत से वर्णन मिलते हैं। समुद्र यात्रा में बहुत कठिनाइयों के होते हुए भी बहुत सी व्यापारी सुवर्ण द्वीप जिसे की मलय एशिया, और रत्नदीप जिसे सिंह कहते हैं की यात्रा किया करते थे।

बावेरू जातक में वर्णन मिलता है कि बनारस के कुछ व्यापारी अपने साथ एक दिशा काल लेकर समुद्र यात्रा पर निकले थे। यह यात्रा अरब सागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी।

सुधारक जातक से पता लगता है कि प्राचीन भारतीय व्यापारियों को फारस की खाडी, लाल सागर, और भूमध्य सागर के बारे में जानकारी थी। लेकिन ईसवी सन के पहले तक भारतीय व्यापारी बावेल मंदेब के आगे नहीं जाते थे। इस जगह से भारतीयों के काल अरब वासी मध्यस्थता करके ले जाते थे और आगे उसे मिस्र तक पहुँचाते थे।

शंख जातक में सुवर्णद्वीप की यात्रा विवरण मिलता है। ब्राह्मण शंख ने दान देने के कारण अपनी सम्पत्ति को समाप्त होते देखकर सुवर्ण द्वीप की यात्रा का विचार बनाया और उसने यह यात्रा एक जहाज से की।

ब्राह्मण ने अपनी जहाज स्वयं बनाकर उस पर माल रखकर अपने सगे–सम्बन्धियों से विदा लेकर नौकरी के साथ बंदगाह का पर पहुँचा और दोपहर में उसका जहाज खुल गया। प्राचीन काल में समुद्र यात्रा में अनेक तरह की मुश्किलें आती थी। इसलिए समुद्र यात्रा से वापस आने वाले बहुत भाग्यशाली समझे जाते थे। एक जातक में कहा गया है कि बनारस के एक धनी व्यापारी ने जहाज खरीद कर समुद्र यात्रा करने का निश्चय किया तो उसकी मां ने उसे बहुत समझाया और जाने से मना किया, लेकिन वह अपनी मां को रोती बिलखती हुई छोड़कर चला गया।[1]

टूटे हुए जहाज को छोड़ने के पहले यात्री लोग घी शक्कर से अपना पेट भर लेते थे। यह भोजन उन्हें कई दिनों तक जीवित रखता था। शंख जातक में वर्णन मिलता है कि शंख की

---

[1] जातक, 4, 2

यात्रा के सातवें दिन जहाज में छिद्र हो गया जिसमें यात्री लोग डर गये लेकिन शंख ने एक नौकर को साथ लिया और अपने शरीर के तेल पोतकर और भरपेट घी शक्कर खाकर मस्तूल पर चढकर समुद्र मे कूद पडा और सात दिनों तक बहता रहा।[1]

महाजनक जातक[2] में एक डूबते हुए जहाज का आंखो देखा वर्णन है। महा जनक के जहाज में उस समय सेंध लग गयी जबकि वह तेज गति से सुवर्ण द्वीप की ओर बढ रहा था और देखते देखते जहाज डूबने लगा। व्यापारी लोग अपने इष्ट देवों को याद करने लगे लेकिन महाजनक ने कुछ नहीं किया। जब जहाज पानी में डूबने लगा तो महाजनक ने तैरते हुए मस्तूल को पकड लिया। समुद्र मे डूबते हुए यात्रियों पर मछलियां और कछुओं ने आक्रमण कर दिया और उनके खून से समुद्र का पानी लाल हो गया। कुछ दूर तैरने के बाद महाजनक ने मस्तूल छोड दिया और किनारे पर पहुँचने के लिए तैरने लगा। अन्त में देवी मणिमेखला ने उसकी रक्षा की।

---

1 जातक 4, 10

2 महानजक जातक, 539

सामुद्रिक व्यापार पानी के जहाजों से होता था। जातकों मे जहाज की बनावट के विषय में वर्णन मिलता है कि जहाज लकडी के तख्तों से बनते थे।[1] और वे अनुकूल वायु में चलते थे। जहाजो की बनावट इस तरह होती थी कि उसमें वाहर की तरफ पंजर होता था और उसमें तीन मस्तूल, रस्सियां, पाल तख्ते, डांड और पतवार और लंगड होते थे।[2] नाविक पतवार की सहायता से जहा चलाता था।[3]

भारत का व्यापार अपने पूर्वी और पश्चिमी देशों से बहुतायत से होता था। वलहस्स जातक[4] में भारत को सिंहल के साथ व्यापार का वर्णन मिलता है। बनारस[5], चम्पा[6] और मरूकच्छ[7] का सुवर्णभूमि के साथ व्यापारिक सरबन्ध था।

भारत और काबुल के साथ व्यापारिक संबंध की चर्चा बाबेरू जातक[8] में मिलती है।

---

1 जातक 2, 111, 4, 20 – गाथा 32
2 जातक 2, 112, 3, 126; 4 17, 21
3 जातक 2, 112, 4, 137
4 जातक 2, 137 से
5 जातक, 4 15–17
6 जातक 6, 34
7 जातक 3, 188
8 जातक 3, 3, 126 से

. सप्पारक जातक[1] में समुद्र के व्यापारियो का उल्लेख मिलता है कि एक बारवेंभरूकच्छ से जहाज व्यापारिक यात्रा के लिए निकले। इस यात्रा के मध्य मे इन्हें खुमाल, अग्गिमाल, दधिमाल, नीलकुस माल, नलमाल और वलभामुख नामक समुद्र मिले।

जातक की कहानियां भारतीय नाविकों के साहसी जीवन का विवरण प्रस्तुत करती हैं कि उन्होंने कष्टों की परवाह किये बिना विदेशो से जाकर अपनी मातृभूमि के गौरव को बढ़ाया। उनके छोटे जहाज़ तूफान के चपेटों को सहन नहीं कर पाते थे। जिससे कि वे टूट जाते थे और यात्रियों को अपनी जान गंवानी पडती थी। समुद्र के बीच में चट्टाने भी जहाजों के लिए कष्टकारक होती थी। व्यापारिक यात्राओं की सफलता नाविकों पर निर्भर करती थी। अधिकतम् नाविक कुशल होते थे और उन्हें अपना व्यवसाय का पूर्ण ज्ञान होता था। इसके अतिरिक्त उनहे समुद्री जीवों और हवाओं के रूख का भी ज्ञान होता था। नाविकों को व्यापार का भी ज्ञान रहता था और वे इस बारे में व्यापारियों को जानकारी भी देते रहते थे।

---

1 जातक 4, 138–142 गाथा 105 से 115

जल और थल मार्ग में यात्रा करने का प्रमुख कारण व्यापार हुआ करता था। व्यापार में मुख्य रूप से सूती, ऊनी, मोर रेशमी कपडे और चन्दन, हाथी दांत, रत्न आदि होते थे।

अन्तरदेशीय और विदेशी व्यापार में सूती कपडे का एक विशेष स्थान था। सूती कपड़े के लिए बनारस[1] एक प्रसिद्ध जगह थी। जातकों में गन्धार के लाल करबलों[2] की प्रशंसा की गयी है। उड्डीयान[3] तथा शिविर[4] के शाल बहुत कीमती होते थे। पठान कोट के इलाके में कोटुम्बर[5] नाम की ऊनी कपडा बनता था। उत्तरी भारत ऊनी कपडा के लिए प्रसिद्ध था। काशी अपने सूती कपडे के लिए प्रसिद्ध था। न कपड़ों का कासी कुत्तम[6] और कासीय[7] कहते थे। बनारस की मलमल उत्तर तकनीक से बनायी जाती थी। वह मलमल तेल नहीं सोख सकती थी। बुद्ध का मृत

---

1 जातक 6, 47, 3, 286
2 जातक 6, 47, महावग्ग 8, 1, 36
3 जातक 4, 352
4 जातक 4, 401
5 जातक, 4, 401
6 जातक 6, 47, 151
7 जातक 6, 500

शरीर इसी मलमल में लपेटा गया था।[1] बनारस में क्षौम सौर रेशमी कपडे की बनते थे।[2] वहां की सुईकारी का काम भी प्रसिद्ध था।[3]

गोणक[4] नामक शब्द बौद्ध साहित्य में आया है इसकी व्याख्या वहां पर लम्बे बालों वाले बकरे के चमडे से बनी हुई कालीन से की गयी है।

व्यापार में चन्दन का मे विशेष महत्व था। वनारस चन्दन के लिए प्रसिद्ध था।[5] चन्दन चूर्ण और तेल की काफी मांग थी।[6] अगरु, तगर तथा कालकच का भी व्यापार मे स्थान था।[7]

सिंहल और अन्य देशों के कई तरह के रत्न आते थे जिनमें नीलम, ज्योतिस, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, मानिक, बिल्लौर, हीरे, और यशष आते थे।[8] हाथी दांत का व्यापार भी खूब होता था।

---

1 महापरिनिव्बाण सुत्त 5/16
2 जातक 6, 77
3 जातक, 6, 144, 145, 154
4 डारलागस ऑफ दी बुद्ध, पृष्ठ 11 से
5 जातक 2, 331, 5, 302, गा0 40
6 जातक 1, 129, 238; 2, 273
7 महावग्ग, 6/11/1
8 चुल्लवग्ग, 9/1/3

महाभारत के अनुसार, दक्षिण सागर के द्वीपों से चन्दन, अगर, रत्न, मुक्ता, सोना, चांदी, हीरे और मूंगे आते थे।[1] इनमे से चन्दन, अगर, सोना और चांदी वर्मा और मध्य एशिया से आते थे, मोती और रत्न सिंहल से और मूंगे भूमध्य सागर से आते थे और हीरे बोर्नियों से आते थे।

महाभारत में वर्णन मिलता है कि अर्जुन को अपने दिग्विजय अभियान में हाट जिसका कि आधुनिक नाम पश्चिमी तिब्बत है और ऋणिकों जिसे कि यू0पी0 कहते है से घोडे मिले तथा उत्तर कुरू से खाले और समूर। इससे स्पष्ट होता है कि उत्तरपथ के व्यापार में घोड़े, खाले ओर समूर प्रमुख थे।

कम्बोज जिसका आधुनिक नाम ताजेकिस्तान है तेज घोड़ो[2] खच्चरो, ऊँटों,[3] कारचोबी कपड़ो, पश्मीनों तथा समूरों और खालों के लिए प्रसिद्ध था।[4]

1 महाभारत, 2/27/25–26
2 महाभारत, 2/47/4
3 महभारत 2/45/20; 47/4
4 महाभारत 2/47/3; 2/45/9

क पिश या काबुल से शराब आती थी।[1] बलुचिस्तान से अच्छी नस्ल के बकरे ऊँट और खच्चर तथा फल की शराब और शाले आती थी[2]

हेरात के लोग हारहूर[3] शराब का निर्यात करते थे तथा खरात से रमठ हींग भेजते थे। स्वात के लोग अच्छी नस्ल के खच्चर पैदा करते थे।[4] चीन और बलख से ऊनी, रेशमी कपड़ो पश्मीनो और चीन और नमदों का व्यापार होता था।[5] उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त से अच्छे हथियार, मुश्क और शराब आती थी।[6]

भारत वर्ष में मध्य एशिया से सोना आता था। यह सोना खसों और तंगणों द्वारा लाया जाता था। मध्य एशिया का सोना व्यापार में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था।

---

1 महाभारत 4 /2/99
2 महाभारत 2 /41/10–11
3 महाभारत, 2/47/19; मोतीचन्द्र, जियोग्रोफिकल एंड एक्नोमिक स्टडीज फाम दी उपायन पर्व, पृष्ठ 65
4 महाभारत 2 /47/23–27
5 महाभारत, 2 /47/21
6 मोतीचन्द्र, जियोग्रोफिकल एंड एक्नोमिक स्टडीज फ्रॉम दी उपायन पर्व , पृष्ठ 68–91

भारत मे आराम से घोडे, यशव और हाथी दांत की मूंठे आती यशव के बारे में ज्यादा सभावना है कि वर्मा से आता था। मगध से पच्चीकारी के साज–चारपाइयां, रथ और यान–झूल और नीर के फल आते थे।[2] तिब्बत वर्मी किरात लोग सीमान्त प्रदेश से सोना, अगर, रत्न, चन्दन, कालीयक और सुगन्धित द्रव्य लाते थे।[3] बंगाल कपडो और उडीसा अच्छे हाथियों के लिए मशहूर थे।[4]

---

1 महाभारत, . /47/12–14

2 मोतीचन्द्र, ज्योगोफिकल एण्ड एक्नोमिक स्टडीज फ्रॉम दी उपायन पर्व, पृष्ठ 73–74

3 वही, पृष्ठ 85

4 वही, पृष्ठ 112–113

मौर्य युग में व्यापारिक यात्राएं

मौर्य काल में आन्तरिक और विदेशीय दोनो व्यापार उन्नत अवस्था में थे। आन्तरिक व्यापार के लिए देश में सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित स्थल मार्ग थे। पाटलिपुत्र से पश्चिमोत्तर प्रदेश को जाने वाला र्मा 1500 कोस लम्बा था। दूसरा महत्वपूर्ण मार्ग हैमवतपथ था जो कि हिमालय की ओर जाता था। दक्षिण भारत की ओर अनेक मार्ग गये थे। कौटिल्य के अनुसार दक्षिणापथ में खानों से होकर गुजरने वाला मार्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। जिस पर व्यापार के सिलसिले में यात्राएं अधिक होती थीं। एक मार्ग पाटलिपुत्र के पूर्व की ओर जाता था। इन बड़े–बड़े मार्गों से कई उप मार्ग निकलते थे। यह मार्ग छोटे--छोटे नगरों को मिलाते थे।

आन्तरिक व्यापार देश की नदियों के मार्ग से भी होता था। छोटी नदियो में छोटी नौकायें और बड़ी नदियों में बड़ी नौकायें चलती थी।

अर्थशास्त्र से पता चलता हे कि अन्तरदेशीय और अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार की सफलता का श्रेय सार्थवाहो पर निर्भर करता

था। राज्य ने सार्थवाहो के लिए कुछ ऐसे नियम बना दिये कि जिसकी अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड का भागी बनना पड़ता था।

अन्तरदेशीय और अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के कुशलता पूर्वक चलने के लिए जल्छी सड़के और सेना का आसानी के साथ संचालन आवश्यक था।

पथ कई प्रकार के होते थे। जैसे रथ, पथ, बन्दरगाहों को जाने वाला पथ–सूबों की राजधानियों को जाने वाला पथ, पड़ोसी राष्ट्रों में जाने वाले पथ और चारागाहों में जाने वाले पथ 24 फीट चौड़े होते थे।

हैमवत मार्ग अथवा बलख से हिन्टुकेश होकर भारत का मार्ग दक्षिणापथ अर्थात कौशाम्बी उज्जैन प्रतिष्ठान के रास्ते से अच्छा था। कौटिल्य के अनुसार हेमवत मार्ग पर सिवाय घोड़ो, ऊनी कपडों और खालो को छोडकर दूसरा व्यापार नहीं था। लेकिन दक्षिणापथ पर हमेशा शंख, हीरे, रत्न, मोती और सोने का व्यापार चलता रहता था। दक्षिणापथ में भी वह रास्ता अच्छा समझा जाता था। दक्षिणापथ में भी वह रास्ता अच्छा समझा जाता था। खदान वाले जिलों को जाता था, इसलिए व्यापारी लोग उस पर

बराबर आवागमन करते थे। यह रास्ता कम खतरेवाला और कम खर्च वाला था तथा उस पर माल आसानी से खरीदा जा सकता था। कौटिल्य के अनुसार बैलगाडी के रास्ते और चक्रपथ इसलिए बेहतर था क्योंकि इस पर भारी बोझ आसानी से ढोये जाते थे। कौटिल्य के अनुसार सभी देशों और सभी मौसमों के लिए वे सड़के सबसे अच्छी थी जिन पर ऊँट और खच्चर आसानी से चल सके।

अशोक के एक अभिलेख से पता लगता है कि यात्रियों की सुविधा के लिए राजा ने रास्तों पर कुंए खुदवाये थे और पेड़ लगवाये थे।[1]

मौर्य युग में भारत का इन देशों के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। कई अन्य मार्गों की पाटलिपुत्र को सम्बन्ध दूसरी राजधानियों और बन्दरगाहो से जोडते थे। समुद्र के किनारे के मार्गो से भी भारतीय बंदरगाहों में काफी व्यापार चलता था। पूर्वी समुद्र-तट पर ताम्रलिप्ति और पश्चिमी समुद्र-तट पर भरुकच्छ के बंदरगाहों से लंका और स्वर्णभूमि के साथ व्यापार होता था।

---

1 भण्डाकर, अशोक, पृष्ठ 276

अर्थशास्त्र मे उल्लेख मिलता है कि राज्य को देश के जलमार्गी का पूरा ध्यान रहता था और उनकी व्यवस्था के लिए नौकाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी।[1]

नामी व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को, जो कि लगातार व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विह्न बाधा के उतरने देता था।

वह व्यापार जो बाहरी, आन्तरिक और विदेशी होता था। उन वस्तुओं पर आयात निर्यात के समय शुल्क लगता था। फल–फूल और सूखे गोश्त पर उसके मूल्य का छठा भाग शुल्क में देना पडता था। शंख, हीरा, मोती, मूंगा, रत्न तथा घरों पर विशेषज्ञों की राय से शुल्क निर्धारित किया जाता था। क्षौम, हसाल, मैनसिल, सिन्दूर, चातुए, वर्णयातु, चन्दन, अगरू, कटुक, खमीर, आवरण, शराब, हाथी दांत, खाल, सूती और रेशेदार कपड़े बनाने के लिए कच्चे माल, आस्वरण, परदे, किरिमदाना, तथा भेड़ और बकरे के ऊन और बाल पर शुतक उनके दामों का 1/10 से 1/15 तक होता था। इसी तरह कपड़ो, चौपायों, कपास, गन्या द्रव्य, दवाओं,

---

1 अर्थशास्त्र, पृष्ठ 139 से 142

काठ, बांस; वल्कल, चमड़ों, मिट्टी के बरतनों, अनाज–तेल, नमक, क्षार, तथा भुंजिया चावल, पर शुल्क उनके मूल्य का 1/20 से 1/25 तक होता था। इन शुल्कों के अतिरिक्त व्यापारियों को शुल्क का पांचवा भाग द्वारकर के रूप में भरना पडता था, लेकिन यह कर माफ भी किया जा सकता था। मौर्य युग के व्यापार में व्यापार के अध्यक्ष का एक विशेष स्थान था।[1]

नदियों पर बसे व्यापारी शहरो के बाजार भाव जानने के बाद अपना माल उस बाजार में बचे सकते थे, जिसमें अधिक लाभ मिलने की संभावना रहती थी।

बूढे तथा बीमार व्यापारी घने जंगलों में अथवा जहाजों पर यात्रा करते समय अपने माल पर मुहर लगाकर और उसे किसी विश्वासनीय व्यापारी को देकर निश्चिन्त हो जाते थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर वे व्यापारी, जिनके पास उनकी धरोहर होती थी, उनके बेटों अथवा भाइयों के खबर भिजवा देते थे और वे उनसे मुद्रित धरोहर ले लेते थे।[2] धरोहर न लौटाने पर उनकी साख चली जाती

---

1 अर्थशास्त्र,, पृष्ठ 139 से 142

2 अर्थशास्त्र, पृ0 204

थी। उन्हें चोरी के अपराध में राजदण्ड मिलता था तब उनको धरोहर भी लौटानी पड़ती थी।

माल को पहुँचाने का समय साधारण व्यापारियों के जिए चौबीस घंटे, विमानों के लिए तीन दिन, गोपालकों के लिए पांच दिन, और कीमती सामान के लिए सात दिन का समय होता था। खराब होने वाली वस्तुओं की बिक्री केलिए उसी तरह खराब न होने वाली वस्तुओं की बिक्री रोक दी जाती थी। इस नियम को न मानने वाले दण्ड के भागीदार होते थे। बिक्री किया हुआ कोई माल, सिवाय इसके कि उसके खराबी हो, लौटाया नहीं जा सकता था।

व्यापार केवल व्यापारियों के हाथ में नहीं था, बल्कि राजा भा उसमें हाथ बढ़ाता था। राज कर्मचारियों का यह कर्तव्य होता था कि उनके मालिक का अधिक से अधिक फायदा हो। घोड़े, हाथी, खालें, समूर, कपड़े, गन्ध, द्रव्य, इत्यादि उस समय के व्यापार के मुग्ण्य अंग थे।

अर्थशास्त्र में चमड़े और समूरें का वर्णन मिलता है।[1] चमड़े और समूर अधिकतर उत्तर पश्चिमी भारत, पूर्वी अफगानिस्तान और मध्य एशिया के आते थे। कान्तानाव, सरोह, बलख और चीन से ही मुख्य करके चमडे और समूर आते थे। जिनकरी और सुईकारी के कामवाली शालें कश्मीर अथवा पंजाब से आती थीं। नेपाल से ऊनी कपडे आते थे।

बंगाल, पौंड्र और सुवणकुड्या दुकुल के लिए प्रसिद्ध थे। काशी और पौंड्र क्षौम के लिए। मगध, पौंड्र और सुवर्णभूमि की पटोंरे बहुत अच्छी होती थी।

चीन से काफी रेशमी कपडो का आयात होता था। सूती कपडों का मुख्य केन्द्र मथुरा, काशी, अपरान्त कोंकण, बंगाल, वश को कौशाम्बी भी कहते है। माहिष्मती के अन्तर्गत महेसर, मध्य भारत, खंडवा जिले आते थे। यह सूती कपड़ो के मुख्य केन्द्र थे।

मौर्य युग में रत्नों का व्यापार बहुतायत से होता था। ऐसा वर्णन अर्थशास्त्र में मिलता है। बहुत से रत्न और उपरत्न भारत के कोने—कोने से आते थे। दूसरे अतिरिक्त बहुत से विदेशों

---

1 अर्थशास्त्र, पृ0 81

से भी आते थे। मोती सिंहल--पाण्ड्य, पाश जिसे कि ईरान कहते है और कुल और चूर्ण तथा वत्कट के समुद्र तट से आते थे।[1] मोती मनार की खाड़ी, फारस की खाड़ी और सोमाली देश के समुद्र तट से आते थे। सुरूचि के उल्लेख से पता चलता है कि सुरूचि प्रसिद्ध था। कीमती रत्न कूट, मूल और पार समुद्र से आते थे।[2] सिंहल रत्नों के लिए प्रसिद्ध था।

मानिक और लाल रत्न पूर्वी अफगानिस्तान, सिंहल और वर्मा से आते थे।[3]

बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मालाबार से आता था।[4] नीलम और जमुनियां लंका से आते थे।[5]

अच्छे हीरे सभा राष्ट्र अर्थात बरार, मध्यम राष्ट्र अर्थात मध्य प्रदेश, और दक्षिण कोशल, काश्मक अर्थात् अश्मक यहां

---

1 अर्थशास्त्र, पृष्ठ 75–76
2 अर्थशास्त्र, पृ0 77
3 वही, पृष्ठ 77
4 वही, पृष्ठ 77
5 वही, पृष्ठ 78

गोलकुण्डा की हीरे की खादान है, और कलिंग से आते थे।[1] जाल कन्दक नामक मूंगा सिकन्दरिया से आता था।

मौर्य युग में इस देश में गन्ध द्रव्यों की बहुत मांग थी। चन्दन की अनेक किस्में दक्षिण भारत, जाता, सुमात्रा, तिमोर और मलय एशिया तथा आसान से आती थी।[2] अगर की लकड़ी आसाम, मलय, एशिया, हिन्द, चीन और जावा से आती थी।[3] घोड़ों में कबोज, सिन्धु, वनायुज, बतख और सोवीर यानि सिन्धु के जोड़े प्रसिद्ध थे।

ईसा पूर्व दूसरी सदी से ई0 तीसरी

सदी तक कुषाणों और रोमन साम्राज्य का संबंध काफी दृढ़ हुआ। कुषाणों के अधिकृत राजमार्गों से चलते हुए चीनी बर्तन, चीन के बने रेशमी कपडे, हाथी दांत, कीमती रत्न, मसाले तथा सूती कपड़े राम से जाने लगे और रोमन साम्राज्य का सोना कुषाण

---

1 वही, पृष्ठ 78
2 जे0 आई0 एस0 ओ0 ए0, 8; 1840 पृष्ठ 83–84
3 वही, पृष्ठ 8

साम्राज्य मे आने लगा। कनिष्क के समय भारत के धन का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कनिष्क के अधिक और किसी के सोने के सिक्के इतने अधिक मात्रा में नहीं मिलते। ब्रेग्राम में हैकें की खुदायी से यह पता लगता है कि रोम रो भी कुछ माल भारत और चीन को जाता था।

ईसा पूर्व दूसरी शदी का इतिहास शक सातवाहनों की प्रतिद्वन्द्विता का काल है।

सात वाहन कुल का दूसरा बड़ा राजा श्री यज्ञ सात कर्णि हुआ। रैप्सन के अनुसार चोल-मण्डल में मद्रास और कड्डुलोर के बीच, उसके जहाज छाप के सिक्के मिलते है।[1] इस सिक्के के पर दो मस्तूलों वाला एक जहाज है तथा उसके नीचे एक मछली और एक शंख से समुद्र का बोध होता है। यह जहाज उस भारतीय जहाज-व्यापार का प्रतीक है, जो सातवाहन युग में जोरों से चल रहा था।

जिस समुद्री-तट से जहाज छाप के सिक्के पाये गये है वहां शायद दूसरी शदी के मध्य में पल्लव राज करते थे।

---

[1] रेप्सन, क्वाएन्स ऑफ आन्ध्रज .... पृ0 16—17

जहाज छाप सिक्कों का प्रभाव हम पल्लव और कुरूबर सिक्कों पर भी देख सकते हैं। श्री निराशी वाला सिक्का आन्ध्र देश में गुण्टूर जिले से मिला था जिससे पता चलता है कि जहाज छाप के सिक्के उस प्रदेश के भी चलते थे। चोल मण्डल में उपर्युक्त सिक्कों तथा रोमन सिक्को के मिलने से इस बात का पता चलता है कि उस समय भारत का रोम के साथ कितना गहरा व्यापार चलता था।

तोसलि कलिग यानि उडीसा में था और हाथी दांत के व्यपार के लिए प्रसिद्ध था। रूम लेख में महानाविक सिवक का उल्लेख होने से यह बात स्पष्ट होती है कि ईसा की आरम्भिक सदियों में घण्टासाल एक बंदरगाह था। दूसरे लेख मे घण्टासाल का प्रचीन नाम कण्टक सोल दिया हुआ है।[1]

पलुर एक एफेटिरियम था जहां से सुवर्णद्वीप के लिए किनारा छोड़कर जहाज वाले समुद्र में चले जाते थे। पलुर की स्थिति की पहचान चिकाकोल और कलिंगपटनम् के समीप से की जाती है।[2]

---

1 एंशेर इण्डिया, नं0 5, पृष्ठ 53

2 बागची, प्रीमार्यन एंड प्रीड्रवीडियन

पूर्वी समुद्र तट पर बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध का कारण व्यापार था। बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिकतर व्यापारी थे और उन्ही की मदद से अमरावती, नागार्जुनी कोण्ड और जगरय पेट के विशाल स्तूप बन सके।

कल्याण सात वाहन साम्राज्य के पश्चिम की ओर था यह व्यापार के निकास का मुख्य केन्द्र था। कल्याण के व्यापारिक महत्व का पता हमें कन्हेरी और जुन्नर की लेखों के अभिलेखों से मिलता है।[1] इन लेखों में कल्याण के व्यापारियों और कारीगरों के नाम आये हैं।

पेरिप्लस और टाल्मी के युग में सोपारा के बदरगाह से विदेशों के साथ व्यापार चलता था। लेकिन धीरे–धीरे वह व्यापार कम होने लगा और अन्त में तो नाम मात्र का गांव रह गया।

---

1 ल्यूडर्स लिस्ट, नं0 986, 988, 998, 1001, 1013 इत्यादि

भारत का रोम के साथ व्यापार

ईसा की प्रारम्भिक की सदियों में भारत और रोम के साथ व्यापार की उन्नति हुई। अगस्त के समय में भारत और रोम का व्यापारिक संबंध बढ़ा। लेकिन व्यापार की उन्नति मारम्भ से ही भारत के पक्ष में थी। इसी के कारण भारत में रोमन राजाओं के बहुत से सोने के सिक्के मिलते हैं। इस बात के संकेत मिलते हैं कि भारतीय सिंह, शेर, गैंडे, हाथी और सर्प रोम कभी–कभी तमाशें के लिए लाये जाते थे। रोमन लोग भारतीय तोते भी पालते थे। भारतीय हाथी दांत, मोर, कछुए की खोपडी का व्यापार गहने बनाने के लिए होता था। रोमन स्त्रियां भारतीय और चीन की मोती पहनती थी। जड़ी-बूटियां और मसाले भी इस व्यापार के मुख्य अंग थे। काली मिर्च, जटामांसी, दालचीनी, कुठ और इलायची, अधिकतर, स्थलमार्ग द्वारा अरब यात्री लाते थे। दवाओं में सौंठ, गुगुल, बाय विंडल, शक्कर और मगर होते थे। रोमन लोग भारतीय तिल के तेल का खाने में उपयोग करते थे। नील का रंग की तरह व्यवहार होता था। सूती कपड़े पहनने के काम में लाये जाते थे तथा आबनूस की लकड़ी के साज सामान बनाते थे। चावल खाद्यान्न के रूप में था तथा भारतीय नीबू, आड़ू और जर्दालु खाने

तथा सौवाद साधारण रत्न जैसे हीरा, सोनिक्स, सार्डोनिक्स, अकीक, सार्ड, लेहिताक, स्फटिक, जमुनिया, कोयल, वैड्र्य, नीलम, मणिक, पिरोजा, कोरण्ड इत्यादि की रोम में बहुत मांग थी। इन सबका दाम रोम को सोने में चुकाना पडता था। टाइबीरियन ने इस खर्च के रोकने का प्रयत्न भी किया था लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला।[1]

भारतीय व्यापार में मुख्य रूप से चेरों के पास काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था। पाण्डयों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैडूर्य और मलमल था।

अडमस नदी की पहचान सूवर्णरेखा अथवा ब्राह्मणी की संक साखा से की जाती हैं। जहां मुगलकाल में भी हीरे मिलते थे। सबरो में भी हीरे मिलते थे और यहां से तेजपात, नलद, मलमल, रेशमी कपडे और मोती बाहर जाते थे। राल्थी इस प्रदेश के उन्नीस शहरों के नाम देता है जिनमें गंगे और पालीब्रोथ्रा मुख्य थे।[2]

---

1 ई0 एच बामिंगटन, दि कामर्स विटवीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ0 40, केंब्रिज, 1928

2 वार्मिंगटन, दी कामर्स विटमीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डियन, पृष्ठ 117

रोमन लोग साधारण तरह के मोती लाल सागर से और मिश्र के अच्छे मोती फारस की खाड़ी में बहरीन द्वीप से लाते थे। लेकिन रोम में अधिकतर मोती भारत से आते थे।

छठी शताब्दी में दक्षिण भारत से शंख बाहर जाने का उल्लेख मिलता है।

रोम से चीनी रेशमी कपड़े ईरान के रास्ते कौशेय मार्गों से आते थे। सिन्ध के बन्दरगाह बार्बरिकोन से रेशमी कपड़े रोम भेजे जाते थे।

भारत से रोम के व्यापार में काली मिर्च का मुख्य स्थान था। सौंठ और इलायची भी रोम को जाती थी। दाल चीनी का प्रयोग रोमन लोग मसाला तथा धूप इत्यादि के लिए करते थे। भारत से लौंग भी जाता था। गुग्गुल का निर्यात बार्बरिकोन और भड़ोच से होता था।

भारत से रोम को दवा तथा इमारती काम के लिए लकड़ियां जाती थीं। प्लिनी ने भारत को रत्नधात्री कहा है।

भारत के पश्चिमी व्यापार में शराब का भी एक विशेष स्थान था।

गुप्त युग में व्यापारिक यात्रायें

गुप्त युग में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार करके मध्य एशिया और मलय एशिया तक पहुँच गयी। इस संस्कृति के प्रचारक व्यापारी, बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण थे जिन्होंने जल और स्थल मार्ग की अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए भी विदेशों से कभी सम्पर्क नहीं छोडा।

बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि गुप्त युग में भी भरूकच्छ, सुपारा और कल्याण तथा निम्नलिखित बडे बदरगाह थे। कॉसमॉस ईण्डिकोल्पाएस्टस अपने ग्रन्थ क्रिश्चियन टोपोग्रैफी[1] में बतलाते है कि उस युग में सिंहल समुद्री व्यापार का एक बड़ा भारी केन्द्र था और वहां ईरान और हब्श से जहाज आते थे तथा विदेशों को वहां से जहाज जाते थे। चीन और दूसरे बाजारों से वहां रेशमी कपड़े, मगर, चन्दन और दूसरी चीजें आती थीं। जिन्हें सिंहल के व्यापारी मालाबार और कल्याण भेज दिये जाते थे।

---

1 मैक्क्रिण्डल–नोट्स फ्रॉम एनूशेन्ट इण्डिया, पृ.0 160

दिग्विजय यात्रायें

दिग्विजय शब्द की व्युत्पत्ति

दिक् का अर्थ है—दिशाएं और विजय का अर्थ है — जय प्राप्त करना। अर्थात् वह मनुष्य जो अपने बल, पौरूष, पराक्रम शौर्य और ज्ञान या किसी अन्य सद्गुण के द्वारा किसी क्षेत्र या किसी राज्य पर अधिकार प्राप्त करता है उसे दिग्विजय कहते है।

मोनियर विलियम[1] ने संस्कृत हिन्दी डिक्शनरी में दिश् का अर्थ आकाश के एक चौथाई भाग से माना है। ऋग्वेद, अर्थववेद, शतपथ ब्राह्मण में चार दिशाओं का वर्णन है जैसे प्राची का अर्थ पूर्व, दक्षिण का अर्थ दक्खिन प्रातीची का अर्थ है पश्चिम और उदीषी का अर्थ उत्तर है। आश्वलायन सूत्र में पांचवी दिशा का भी वर्णन है जिसे ध्रुव कहते हैं।

इसी शब्द कोष में महाभारत[2] का सन्दर्भ देते हुए युधिष्ठिर की विजय यात्राओं को दिग्विजय कहा है। इसी शब्दकोष

---

1 दृष्टव्य—मोनियर विलियम : संस्कृत हिन्दी डिक्शनरी, पृष्ठ 480
2. महाभारत — 2.983 — 1203

में शंकराचार्य द्वारा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के आचार्यों से शस्त्रार्थ द्वारा उन पर अपने मत की विजय यात्रा को भी दिग्विजय कहा गया है। इस प्रकार, दिग्विजय यात्रा से तात्पर्य है – शक्तिशाली एवं बड़े–बड़े राजाओं द्वारा विजय प्राप्ति के लिए चलाये जाने वाले युद्धाभियान अथवा विभिन्न दार्शनिक धर्माचार्यों द्वारा अपने मत की स्थापना करने हेतु सम्पन्न की गयी ज्ञान यात्रायें।

कीथ ने दिश् का अर्थ दिशा बताया है जिसका उल्लेख ऋग्वेद[1] में आकाश के एक दिशा के सन्दर्भ में मिलता है। इस वेद में पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशाओं का उल्लेख भी किया गया है।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार दिशाओं की संख्या क्रमशः 4 से 8 और अन्ततः 10 मान ली गयी।[3]

विजय का एकमात्र यही उद्देश्य नही रहता था कि किसी राजा का किसी भूखड पर अधिकार प्राप्त कर लेना बल्कि

---

1. ऋग्वेद 1.124.3
2. वही 7.72.5
3. मैत्रायणी संहिता 3–12–8

इस विजय अभियान के द्वारा उस राजा विशेष का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता था उस राजा के सैन्य संगठन के द्वारा, उसके द्वारा प्रयुक्त की जा रही युद्ध आयुद्ध के द्वारा और हाथी, घोड़े और युद्ध मे प्रयोग किये जा रहे हथियारों के द्वारा।

युद्ध के विभिन्न उद्देश्य होते थे कोई राजा इसलिए युद्ध करता था कि उसका राज्य विस्तृत हो जाय कोई राजा इसलिए युद्ध करता था कि इसके द्वारा उसके मान—सम्मान और प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाय और अपने राज्य के अन्दर तथा दूसरों राज्यों में भी उसके गौरव को सराहा जाय। और कुछ नरेश इसलिए आक्रमण करते थे कि इसके द्वारा उनके अंह को सन्तुष्टि मिलती थी। उनके अंदर ये लालसा होती थी कि बड़े से बड़े भू—भाग पर सिर्फ उन्ही का शासन हो।

इसके अतिरिक्त कुछ राजा वैवाहिक संबन्ध स्थापित करने के लिए आक्रमण करते थे और कुछ राजा अपमान का बदला लेने के लिये प्रतिशोधात्मक युद्ध करते थे।

इसके अतिरिक्त भी कुछ राजा अपने मित्र की मदद करने के उद्देश्य से युद्ध करते थे तो कुछ बदला लेने की नीयत से लड़ाई करते थे।

ये युद्ध केवल अपने सैन्य बल के द्वारा किसी भूखंड पर अधिकार प्राप्त कर लेना ही नहीं है बल्कि इसके द्वारा एक नयी सभ्यता एक नयी संस्कृति का जन्म होता है। दो राज्यों के एक हो जाने से एक दूसरे की संस्कृति को अपनाने का अवसर मिलता था। एक दूसरे की भाषा को, लिपि को, कला के क्षेत्र में भी परिवर्तन होता है। वास्तुकला, चित्रकला सभी पर प्रभाव पड़ता है। वेश–भूषा, रहन–सहन सभी पर युद्ध का प्रभाव पड़ता था।

अश्वमेध या बाजपेय यज्ञ का सम्पादन दिग्विजयी राजा युद्ध के परिणाम स्वरूप करते हैं। राजा लोग अपे शौर्य एवं वैभव की प्रतिष्ठा के लिए यज्ञ सम्पादित करते थे। जिसमें कई तरह की यात्राए होती थी इन यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की सामग्रियों को एकत्रित करने के लिए वेदज्ञ ज्ञानी एवं

धर्मनिष्ठ यज्ञ करने में परायण मनीषियों को यज्ञ स्थल में बुलाने के लिए भी यात्राएं की जाती थी। विशेष रूप से अश्वमेध यज्ञ तो राजा के दिग्विजय अभियान का मूल कारण हुआ करता था जिसमें शक्ति परीक्षण एवम् प्रभुत्व के लिए एक घोड़ा दूरस्थ राज्यों तक यात्रा करने के लिए छोड़ा जाता था तथा जिसके पीछे उसकी रक्षा के लिए राजा लोग अपना दिग्विजय अभियान चलाते थे। इस प्रकार की यात्राओं में साम्राज्य के वैभव, शक्ति के साथ–साथ राज्य की वैदिक परंपरा एवं सनातन परंपरा के पोषण की भी प्रतिष्ठा सम्मिलित रहती थी।

हम पहले कह चुके हैं कि कभी–कभी दार्शनिक विचारों के प्रचलन के लिए भी इस प्रकार की यात्राएं बहुत महत्वपूर्ण थी। शंकराचार्य की दिग्विजय यात्रा[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन की तत्कालीन भारतीय अन्य प्रचलित विचारों पर प्रतिस्थापित करने के लिए भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा संदर्भित की

---

1. पाण्डेय गोविन्द चन्द्र – लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य पृष्ठ 255–335

जा सकती है। शंकराचार्य से पहले भी मीमांसको ने बौद्ध एवं जैन आचार्यों ने यहां तक कि भक्तिवादी आलवार और नायनार संतो ने भी यात्राओं को लक्ष्य प्राप्ति के लिए अभीष्ट समझा था।

दिग्विजय के प्राचीनतम उल्लेख यज्ञों के सन्दर्भ में

अश्वमेध की गणना प्राचीनतम यज्ञों में होती है। ऋग्वेद[1] की ऋचाओं से विदित होता है कि इनकी रचनाओं से पूर्व ही अश्वमेध का प्रचलन था । प्राचीन भारत में लोगो द्वारा यह विश्वास किया जाता था कि अश्वमेध के सम्पादन के बाद का अश्व स्वर्ग को चला जाता है।

---

1. ऋग्वेद 1/162 एवं 163 संख्यक ऋचायें

शतपथ ब्राह्मण[1] एवं तैत्तरीय ब्राह्मण[2] में अश्वमेध का वर्णन हुआ है जिसमें बहुत से ऐसे राजाओं के उल्लेख मिलते हैं जिन्होने अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किये थे। सभी पदार्थों के इच्छुकों, सभी विजयों के अभिलाषियों तथा अतुल समृद्धि के कांक्षियो द्वारा अश्वमेध किया जा सकता था।[3] फाल्गुन शुक्ल पक्ष के आठवें या नवें दिन या ज्येष्ठ मास के इन्हीं दिनों या कुछ लोगों के मत से आषाढ़ मास के दिनों में अश्वमेध का आरम्भ किया जाता है। प्राचीन काल में अश्वमेध बहुत कम होता था। तैत्तिरीय संहिता[4] एवं शतपथ ब्राह्मण[5] के अनुसार अश्वमेध एक उत्सव पर्व था।

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में इसका वर्णन दिया गया है। महाभारत में[6] व्यास ने युधिष्ठिर से कहा कि अश्वमेध से

---

1. शतपथ ब्राह्मण 13/ 1–5
2 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/ 8–9
3. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/ 8–9
   राष्ट्र वा अश्वमेध :। .... परा वा एष सिच्यते
   योऽबलोऽश्वमेधेन जयते। यदमित्रा अश्व विन्देरन् हन्येतास्य यज्ञ.।
4. तैत्तिरीय संहिता 5/4/12/3
5. शतपथ ब्राह्मण 1/3/3/6
6 महाभारत – अश्वमेधिक पर्व 72/23–24

व्यक्ति के सारे पाप धुल जाते है। चैत्र की पूर्णिमा को युधिष्ठिर को इसकी दीक्षा दी गयी थी। अर्जुन सबसे बडे योद्धा थे उनको साल भर तक चक्कर मारने वाले अश्व की रक्षा का भार सौपा गया था । और उसे युद्ध से बचते रहने को कहा गया था।[1] घोडे का रंग कृष्ण सार था।[2] अर्जुन के साथ याज्ञवल्क्य का एक शिष्य तथा बहुत से विद्वान ब्राह्मण शान्ति करने के लिए साथ मे थे।[3] अश्व सम्पूर्ण भारत मे पूर्व से दक्षिण तथा पश्चिम से उत्तर तक बढता था। अपने शत्रुओं से अनेक युद्ध करता हुआ अर्जुन अपने पुत्र, मणिपुर के राजा बभ्रुवाहन के हाथों मारा गया। किन्तु अन्त मे वह अपनी स्त्री नागकुमारी उलूपी द्वारा पुनर्जीवित किया गया। मार्ग में अर्जुन ने अनेक शत्रुओं को हराया किन्तु उन्हें मारा नही बल्कि उन्हे यज्ञ में शामिल होने का निमन्त्रण दिया। दरिद्रों एवं गरीबों को भोजन दिया गया। ब्राह्मणों को करोड़ों निष्क दिये गये। व्यास को

---

1 महाभारत – अश्वमेधिक पर्व 73/8
2 महाभारत – अश्वमेधिक पर्व 73/18
3 महाभारत – अश्वमेधिक पर्व 88/23/,89/39–43

सम्पूर्ण पृथ्वी दान में मिली थी। जिसे उन्होने अपने तथा ब्राह्मणों को स्वर्ण देने के बदले लौटा दिये।

परीक्षित जनमेजय ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर दिग्विजय प्राप्ता की थी और अश्वमेध किया था।[1] ऐतरेय ब्रह्मण[2] मे कहा गया है कि जनमेजय 'सर्वभूमि' चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था।

शतपथ ब्राह्मण[3] तथा शांखायन श्रौत सूत्र[4] में जनमेजय के भाई भीमसेन, उग्रसेन तथा श्रुतसेन के भी अश्वमेध यज्ञ करने का वर्णन मिलता है। ऐसा कहते हैं कि परीक्षित के वंशज कुछ पापों के भागीदार थे जिसके निवारण हेतु उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया।[5]

---

1 कीथ ए0बी0 कीथ 7 वैदिक इन्डैक्स पृष्ठ 281

2 एतरेय ब्राह्मण 8, 1

3 महाभारत , आदि पर्व 13, 5, 4, 3

4 16 9, 7

5 शतपथ ब्राह्मण

पारिक्षिता यजमाना अश्वमेधै. परोऽवरम्
अजहुः कर्म पापकम् पुण्याः पुण्येन कमणा।

मत्स्य पुराण[1] में अभिमन्यु के पौत्र तथा परीक्षित द्वितीय के पुत्र जनमेजय द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का विवरण मिलता है।

ऐतिहासिक युग में पुष्यमित्र शुग, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, तथा कुमारगुप्त द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन मिलता है। नन्दिर्वम पल्लवमल्ल के सेनापति उदयचन्द्र ने निषाद राज पृथिवी व्याध्र को हराया, जिसने कि उसके अश्वमेध के अश्व की स्थान–स्थान पर जाते समय रक्षा की थी।[2] यह घटना नौवीं शताब्दी की है। चालुक्य राज पुलकेशी ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था।[3] आन्ध्र के राजा ने राजसूय दो अश्वमेध सम्पादित किये थे।[4] शतपथ ब्राह्मण[5] में वर्णन मिलता है कि राजसूय यज्ञ करने से

---

1 मत्स्य पुराण –
  द्विश्वमेध माहत्य महावाजसनेयक
  प्रवर्तयित्वा तं सर्वम् ऋषि वाजसनेयकम्
  विवादे ब्राह्मणैः सार्द्धम भिशप्तो वनं ययौ।

2 इण्डियन एण्टीक्वेटी, जिल्द, 8 पृष्ठ 273 ।

3 एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द 10, कोलार संख्या 63।

4 आर्क्या लाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द 5 पृष्ठ 60–61, नाना घाट अभिलेख।

5 शतपथ ब्राह्मण – 9/3/4/8

व्यक्ति राजा होता है, बाजपेय यज्ञ करने से सम्राट होता है। महाभारत में पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया था।[1]

वाजपेय का शाब्दिक अर्थ है शक्ति का पीना। इस यज्ञ के सम्पादन से भोजन शक्ति आदि की प्राप्ति होती है। इस यज्ञ में 17 की संख्या को प्रमुखता प्राप्त है। इसमें स्त्रोतों एवं शस्त्रों की संख्या 17 है। प्रजापति के लिए 17 पशुओं की बलि दी जाती है। दक्षिणा में 17 वस्तुएं दी जाती है। यह यज्ञ 17 दिनों तक चलता है।[2] वाजपेय यज्ञ के उपरान्त यजमान क्षत्रियों की भांति व्यवहार करता है। वह अध्ययन कर सकता है या दान कर सकता है किन्तु अध्यापन एवं दान ग्रहण नहीं कर सकता है। इसके उपरान्त वह अभिवादन करने के लिए स्वयं खड़ा नहीं होता और न ऐसे लोगो के साथ खाट पर बैठ सकता था जिसने बाजपेय यज्ञ न किया हो।

---

1 महाभारत – राजसूय पर्व

2 आपस्तम्न 18/1/12 आश्वलायन 9/9/ 2–3

दिग्विजय यात्रा की अर्हता

दिग्विजय यात्रा की पात्रता रखने वाले युद्धों में यह आवश्यक है कि उनमें राजनीति अथवा शास्त्रो के ज्ञान की श्रेष्ठता प्राप्त हो । दिग्विजयी नरेश अपने शासकीय जीवन में प्रजापालक, कर्मठ तथा योद्धा होते थे। उन्हें अपनी प्रजा अपने मित्रों अपने सहायक राजाओं एवें उपराजाओं तथा सैनिकों के बीच बहुत लोकप्रिय होना चाहिए। इसके लिए व्यक्तित्व निर्माण में वांछित गुणों का विकास एवं संचालन दिग्विजयी महापुरूषों के लिए नितान्त अपेक्षित होता था। महाभारत के दिग्विजय पर्व में कहा गया है कि युधिष्ठिर के पास धनुष, शस्त्र, महाबल, सहायक भूमि, यश, सेना आदि दुर्लभ वस्तुएं है। अब अपना कोश बढ़ाने के लिए सभी दिशाओं में युद्धाभियान संचालित करना चाहिए।[1] दिग्विजय की अभिलाषा रखने वाले राजा अथवा विद्वान अपने क्षेत्र के ज्ञान के

महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 25, श्लोक संख्या 2–5

साथ–साथ अन्यान्य क्षेत्रों की गतिविधियों एवं ज्ञान–विज्ञान आदि की सम्यक जानकारी रखते थे। इसी परिज्ञान के बल पर वे दिग्विजयी यात्रा अभियान संचालित करते थे। शत्रु के बल–बुद्धि, रण–कौशल तथा प्रभाव क्षेत्र को जो राजा सही आकलन नहीं रखता था वह वीर एवं महत्वाकांक्षी होते हुए भी दिग्विजयी नहीं हो पाता था।

आचार्य शंकर ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन में प्रवृत्त होने के पूर्व जैन एवं बौद्ध, मीमांसा, सांख्य तथा मान्यमतो के सिद्धान्तों का सम्यक अनुशीलन किया था तथा उनके गुण दोषों पर बहुत ही गम्भीरता से विचार किया था। यही कारण हे कि शंकर अपने शास्त्र दिग्विजय यात्रा में लगातार अन्य धर्मों के श्रेष्ठ विद्वानों एवं आचार्यों को अपनी अप्रतिम मेधा से पराजित करके उन्हें अपना शिष्य बना लिया था।[1] इस प्रकार दिग्विजयी राजा अथवा दिग्विजयी आचार्य दोनो के लिए ये अपेक्षित

---

1 पाण्डेय गोविन्द चन्द्र, लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य, 255–335।

था कि दिग्विजयी यात्रा में निकलने के पूर्व प्रत्येक दिशा में विजय प्राप्त करने के अपेक्षित समस्त वांछित गुणों एवं अर्हतों में पूर्ण दक्षता अवश्य प्राप्त करें।

दिग्विजय यात्रा से होने वाले लाभ

दिग्विजय यात्राओं से शक्तिशाली एवं समर्थ राजा गणों को महान यश की प्राप्ति होती थी। इन यात्राओं के माध्यम से वे अपने साम्राज्य को विस्तृत करने के साथ–साथ उसमें धन एवं जन शक्ति की अभिवृद्धि किया करते थे।[1] विजय के माध्यम से प्राप्त कृषि योग्य उपयुक्त भूमि, व्यापारिक केन्द्र, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए महत्वपूर्ण बंदरगाह, सैनिकों के लिए महत्वपूर्ण सैनिक ठिकाने तथा युद्ध एवं समृद्धि के लिए आवश्यक खनिज भण्डार अदि की प्राप्ति होती थी।

1 दृष्टव्य महाभारत, सभा पर्व , 25 , 2, 4

विज्ञान, दर्शन, धर्म कला अर्थ राजनय आदि के क्षेत्रों में योग्य विद्वानों अपने नूतन ज्ञान के प्रसार के लिए तथ अन्यान्य ज्ञानों से अभिनव ज्ञान को सम्पुष्ट करने के लिए शैक्षणिक यात्राएं अथवा दार्शनिक अथवा ज्ञान विज्ञान से युक्त दिग्विजय यात्राएं सम्पन्न किया करते थे। आदि शंकराचार्य ने केरल के कलाडी क्षेत्र से निकल कर देश के कोने—कोने में यात्राएं सम्पन्न करके अपने अद्वैत दार्शनिक सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए ऐसी ही दिग्विजय यात्राएं की थी।

दिग्विजय यात्रा से होने वाली हानि

दिग्विजय यात्राओं से धन—जन की हानि भी होती थी। युद्ध क्रिया से दोनो तरफ की सेनाओं के सैनिक मारे जाते थे। तथा सैन्य यात्राओं के समय सामान्य प्रजाजनों के खेतों—खलिहानों बाग- बगीचे तथा पशु आदि की बहुत क्षति होती थी। कभी—कभी

युद्ध घोर अशान्ति का भी कारण बनता था। जिसके कारण लम्बी अवधि तक विरोधी राज्यों के प्रजाजनों के बीच व्यापारिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा अन्यान्य सम्पर्क बाधित हो जाते थे जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की हानियों का होना स्वाभाविक था।

दिग्विजय यात्रा : साहित्यिक परंपरा

राजा दिलीप के पुत्र रघु का जन्म उच्च स्थित पांच ग्रहों के सुयोग में हुआ था। उसके जन्म के अवसर पर राज्य में महान् उत्सव मनाया गया था। जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन संस्कार के होते जाने के पश्चात् विद्वान गुरूओ ने उसे विधिवत् शास्त्रों की शिक्षा दी।

युवा हो जाने पर उसे पिता ने युवराज बना दिया और अश्वमेध के अश्व की रक्षा का भार सौंपा । रघु अपने सैनिकों के साथ अश्व के पीछे जा ही रहे थे कि इन्द्र ने अदृश्य शरीर से अश्व

का हरण कर लिया। इन्द्र ने अश्व इसलिए चुराया था कि राजा दिलीप का यज्ञ पूर्ण न होने पाये और वह शतक्रतु बनकर इन्द्र का पद न छीन सकें।[1]

रघु ने इन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा और दोने में भीषण युद्ध हुआ। पहला बाण रघु ने चलाया जो कि इन्द्र के वक्ष पर लगा। तब इन्द्र ने भी क्रुद्ध होकर रघु के वक्ष पर प्रहार किया। रघु का दूसरा बाण इन्द्र के बाहु को घायन कर दिया और तीसरा मयूर पंख वाले बाण ने उनका ध्वज, जिस पर वज्र अंकित था, काट दिया। फिर उसने इन्द्र के धनुष की प्रत्यंचा भी काट दी। तब अत्यन्त क्रोधित इन्द्र ने वज्र से रघु के वक्ष पर प्रहार किया जिससे रघु मूर्छित हो गया।[2] क्षण भर में ही रघु उठ खड़े हुए तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर कहा कि मेरे इस अस्त्र की मार को कोई

---

1 कालिदास -- रघुवंश, श्लोक सख्या 49
हरिर्य थैकः पुरूषोत्तम स्मृत महेश्वर स्त्रयरबक एव नापर.।
तथाविदुर्मा मुनयः शतक्रतुं द्वितीय गामी नहि शब्द एबन।

2 कालिदास – रघुवंशम् सर्ग 3, श्लोक संख्या 61
रघुर्भशं वक्षसितेन ताड़ितः पंपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेष मात्रा दव धूय दत्व्यथां सहोत्थितः सैनिक–हर्षनिस्वनैः ।।

सहन नहीं पाया मैं प्रसन्न हूँ बोलो तुम्हे क्या चाहिए, केवल यह अश्व न मांगना।

रघु ने कहा कि यज्ञ कार्य पूर्ण हो जाने पर मेरे पिता को क्रतु का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाय और दूसरे यज्ञ–सदस् में बैठ मेरे पिता को आप के ही दूत से यह सारा वृतान्त ज्ञात हो जाय।

इन्द्र ने उसकी इच्छा पूर्ण की और दिलीप निन्यानवे अश्वमेध पूर्ण कर और राज्य रघु को सौंपकर सपत्नीक तपोवन को चले गये।

शरद ऋतु आने पर रघु ने परम्परानुसार दिग् विजय यात्रा प्राङ्म की लेकिन इसके पहले राजधानी की सुरक्षा, प्रान्त प्रदेश के दुर्गों के बचाव, पृष्ठभाग के शत्रुओं से सुरक्षा और भविष्य के उत्कर्ष की व्यवस्था कर दी। और उसके पश्चात् छै प्रकार की

सेना मौल; भृत्य, सुहृत, द्विषद, और आटविक और श्रेणी लेकर विजय के लिए प्रस्थान किए।[1]

रघु सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर गये और अनेक जनपदों को विजित करने के बाद महोंदधि के पास तक पहुँच गये। मार्ग में सुह्म जनपद के शासक ने मैत्री कर ली और स्वयं को बचा लिया।[2] बङ्गों को रघु ने उखाड फेका और गङ्गा प्रवाह में बसे द्वीप में अपनी विजय स्थापना के लिए झण्डे गाड दिये।[3]

इसके पश्चात् कपिशा नदी पार कर रघु कलिंग की ओर बढे और महेन्द्र पर्वत पर विजय प्राप्त की। कलिंग नरेश हाथियों की सेना लेकर अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे लेकिन विजय

---

1 कालिदास – रघुवंशम् सर्ग 4 श्लोक संख्या 26
सगुत्तमूल–प्रत्यन्त· शुद्ध–पार्ष्णिरयान्वित· ।
षड्विध वलमादाय प्रतस्थे दिग्–जिगीषया।।

2 कालिदास कृत, रघुवंश/सर्ग 4 श्लोक संख्या 35
आत्मा संरक्षितः सुह्मौर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्।

3 कालिदास -- रघुवंशम् सर्ग 4, श्लोक संख्या 36
विचरतान जय स्तम्भान् गङ्ग स्रोतोऽन्तरेसु सः।

रघु की हीं हुयी।[1] लेकिन रघु ने महेन्द्र पर्वत पर अधिकार नहीं किया। इसके बाद रघु दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किए और कावेरी नदी को पार कर मलय पर्वत की तराई पर डेरा डाल दिया। यहां उनका सामना पाण्डयों से हुआ किन्तु वे रघु से पराचित हुए । पाण्ड्यों ने बहुत सा धन उपहार स्वरूप प्रदान किए।

इसके पश्चात् रघु मलय पर्वत और दर्दुर पर्वतो को पार कर आगे बढ़े और सह्म पर्वत की ओर बढ़े सेना को देखकर केरल की स्त्रियां इधर–उधर भागने लगी। अपरान्त के शासक ने आत्म सर्मपण कर लिया। रघु ने त्रिकूट पर अपना झण्डा गाडा और फिर पारसीकों को जीतने के लिए स्थल मार्ग से चल दिये।

यवनों की अश्वारोही सेना के साथ उनका तुमुल युद्ध हुआ। लेकिन रघु की सेना ने भालों से उनके सिरों को काट कर

---

1 कालिदास – रघुवशम् सर्ग 4, श्लोक संख्या 40
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तम स्रैर्गजसाधनः।

पृथ्वी पाट दी। जो सैनिक बच गये वे अपने पगडियों को उतारकर रघु की शरण में आ गये।

इसके पश्चात् रघु ने उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। और उन्होने हूणों पर विजय प्राप्त की। काम्बोज भी उनका सामना नही कर सके और वे भेंट स्वरूप अखरोट अर्पित कर उनके सम्मुख झुक गये। उन्होने प्रचुर धन और उत्तम अश्व भेंट में दिये। तब रघु अश्वों के सहारे हिमालय पर चढ़ गये। पर्वतीय गणो के साथ रघु का तुमुल युद्ध हुआ। इसके पश्चात् उन्होने लौहित्य नदी पार कर प्राग्ज्योतिषपुर पहँचे तो वहां के राजा ने पराजय स्वीकार कर ली।[1] कामरूप के शासक ने उन्हें मदस्रावी गज भेंट में दिये और बहुत से रत्न भी दिये । इस प्रकार चारों दिशाओं के राजाओ को छत्रहीन करके रघु ने विश्वजित् यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया और यज्ञ समाप्त होने पर सारे पराजित राजाओं को प्रचुर उपहार देकर उनके दुख को कम किया। तथा समस्त राजाओं को

---

1 कालिदास कृत, रघुवंश, सर्ग 4 श्लोक 81
चकम्पे तीर्ण – लौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।

अपने–अपने नगर लौट जाने की अनुमति दी। रघु ने अपनी सारी सम्पत्ति विश्वजित् यज्ञ में दान कर दी थी।

महाभारत के दिग्विजय पर्व में अर्जुन ने आपनी पहली विजय के लिए कुबेर से रक्षित उत्तर दिशा को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र ओर शुभ मुहुर्त मे चढ़ाई करने के लिए संकल्प लिया।[1] अर्जुन ने पूज्य ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति वाचन करा के बडी भारी सेना लेकर चल दिया। अद्‌भुत करने वाले अग्नि के दिए हुए दिव्य रथ से भीमसेन और नकुल सहदेव भी चल दिए। ये सब धर्मराज युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर सेना सहित कूच किये । इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने धनपति कुबेर से सुरक्षित उत्तर दिशा की ओर सर्वप्रथम विजय प्राप्त की।[2]

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व, अध्याय 25, श्लोक – 4
विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम्।
तिथावथ मुहुर्ते च नक्षत्रे चाऽगिपूजिते।।

2 महाभारत – दिग्विजय पर्व, अध्याय 25, श्लोक – 9
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।
दिशं धन पते रिष्टामजयत्पाक शासनि.।।

अस्त्र विद्या में निपुण भीमसेन ने पूर्व सहदेव ने दक्षिण नकुल ने पश्चिम दिशा को जीत लिया।

अर्जुन ने साधारण पराक्रम से ही कुलिन्द देश में राजाओं को पराजित किया। अर्जुन ने आनर्त, कालकूट, कुलिन्द आदि देशों को जीत कर सेना सहित राजा सुमण्डल को पराजित किया।

सुमण्डल को साथ लेकर परन्तप अर्जुन ने शाकलद्वीप और प्रति विन्ध्य राजा को जीत लिया। सात द्वीपों में शाकल द्वीप के रहने वाले जो राजा थे उनका अर्जुन की सेना के साथ घमासान युद्ध हुआ।[1]

प्रागज्योतिषपुर का राजा भगदत्त बड़ा शक्तिशाली था। उसके साथ अर्जुन का महायुद्ध हुआ। भगदत्त की सेना में किरात

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व, अध्याय 26, श्लोक – 6
शाकल द्वीप वासाञ्चसप्त द्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्येस्तैर्वि ग्रहस्तुमुलोऽभवत् ।।

और चीनों की सेनाओ से तथा समुद्र के अन्य बहुत से प्रदेश से योद्धाओं से युक्त था। भगदत्त इन्द्र के मित्र थे अतः उन्होने स्वतः अपनी इच्छा से अर्जुन की ओर मित्रता का हाथ बढाया। भगदत्त को जीतने के उपरान्त अर्जुन कुबेर से रक्षित उत्तर दिशा की ओर चल दिए।[1] और अन्तगिरी, बर्हिगिरी, और उपगिरी प्रदेशों को जीत लिया। अर्जुन ने सारे पर्वतों और पर्वतों पर रहने वाले सभी राजाओं को वश में कर लिया और उसने उन सब राजाओं से करके रूप में धन ग्रहण किया। और उन सारे राजाओ को प्रसन्न करके एवं उनको साथ लेकर उलूकवासी बृहन्त पर चढाई कर दी। बृहन्त अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर अर्जुन से सामना करने निकला। अर्जुन और बृहन्त का बहुत भयंकर युद्ध हुआ और बृहन्त ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। इसके अतिरिक्त उसने बहुत से रत्नों की भेंट उसके समक्ष रखें। अर्जुन ने बृहन्त को पराजित करने

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व, अध्याय 27, श्लोक – 2
तं विजित्य महाबाहुः कुन्ती पुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरा तस्माद्दिशं धनदपालिताम् ।।

के पश्चात् उसे उसका राज्य लौटा दिया। अर्जुन ने सेना बिन्दु नामक राजा को भी अपने राज्य से पृथक कर दिया। मोदापुर, वामदेव, सुदामान, सुसंकुल उत्तर उलूक देश और उनके राजाओं को अर्जुन ने जीत लिया।[1] अर्जुन ने पञ्चगण देशो को भी जीत लिया। और सब जीते हुए राजाओं को साथ लेकर महातेजस्वी अर्जुन ने पुरू वंशी विश्वगश्व राजा पर चढाई कर दी। पौरव से सुरक्षित पुर को और पर्वत देश के महारथी वीरों को युद्ध में अपनी सेना से जीत लिया । अर्जुन ने पुरूवंशी विश्व गश्व राजा को युद्ध में जीतकर सात गणों को जीत लिया।[2] इसके बाद अर्जुन ने कश्मीर के क्षत्रिय वीरों तथा दस छोटे–छोटे राजाओं के साथ लोहित के राजा को जीत लिया । इस तरह से त्रिगर्त, दार्व कोकनद आदि अनेक क्षत्रिय वीर अर्जुन के वश में हो गये। अर्जुन

---

[1] महाभारत – दिग्विजय पर्व अध्याय 27, श्लोक संख्या ।।,
मोदापुरं वामदेवं सुरामानं सुसंकुलम् ।
उलुकानुत्तरांश्चैव ताश्च राज्ञः समान्नयत् ।।

[2] महाभारत – दिग्विजय पर्व, अध्याय 26, श्लोक – 1(
पौरव युधि निर्नित्य दस्यून्पर्वत वासिनः ।
गणानुत्सवमङ्केतान जयत्सप्त पाण्डवः ।।

ने अभिसारी नाम की सुन्दर नगरी को भी भी जीत लिया और उरगा नगरी मे रहने वाले रोचमान राजा को भी क्षेत्र में विजित कर लिया।

इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने राजा चित्रयुध द्वारा सुरक्षित, सुन्दर, सिंहपुर को अपनी सेना द्वारा युद्ध में मथ डाला। इसके उपरान्त वीर अर्जुन ने सुह्म चोल आदि देशों को अपनी सेना से जीत लिया। अर्जुन ने बाह्लीकों को भी जीत लिया। पाण्डु पुत्र अर्जुन ने वीर सेना को लेकर कम्बोजों के साथ दरदों को भी जीत लिया।[1] अर्जुन ने लोह, परम् काम्बोज उत्तर ऋषिक देशों को एक बार में ही जीत लिया। इसके अतिरिक्त अर्जुन ने निष्कुट और हिमालय पर्वत को युद्ध में जीत लिया।

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व – अध्याय 27, श्लोक संख्या 23।
गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डु नन्दन. ।
दरदान्सह काम्बो जैरजयत्पाक शासनि : ।।

इस तरह से अर्जुन अपने पराक्रम शौर्य और वीरता के द्वारा विभिन्न राजाओं को परास्त कर विजेता हो गया।[1] और सारे राजाओं कर ग्रहण करने को बाध्य कर दिया। और अपने कोश मे वृद्धि कर ली।

इसके अतिरिक्त अर्जुन ने श्वेत पर्वत पर आक्रमण करके किं पुरूपावास देश को जीत लिया । इसके उपरान्त अर्जुन हाटक देश को जीतने पहुँच गया और इसके आगे उत्तम मानसरोवैर के समीप गर्न्धव देश को जीत लिया । इस गन्धर्व नगर से अर्जुन ने तित्तरि, कुल्माष और मण्डूक जाति के अश्वों को भेंट स्वरूप प्राप्त किया। हरिवर्ष देश में मनुष्य देहधारी को कुछ भी

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व – अध्याय 28,, श्लोक संख्या 25।
लोहान्परमकम्बोजानि नृपिकानुत्तरानपि।
सहि तास्तान्महाराज व्यजयत्पाक शासनिः ।।

दिखायी नहीं देता। यह जगह मनुष्यों के प्रतिकूल थी।[1] इसलिए अर्जुन उसमे प्रवेश नही किए लेकिन वहां से कर स्वरूप उत्तम सूती और रेशमी वस्त्र तथा उत्तम आभूषण कर के रूप में प्रदान किए।

इस तरह अर्जुन ने उत्तर दिशा को जीत कर तथा चोर और क्षत्रियों से युद्ध करके एवं वहां के राजाओं को जीतकर कर प्रदान करने को बाध्य किया। और इन राजाओं से बहुत धन तथा रत्नों की भेंट लेकर वायु के समकक्ष वेग वाले तित्तरि, कुल्माष, शुक के पंख के तुल्य हरित तथ मयूर के समान नीले वर्ण

---

1 महाभारत – दिग्विजय पर्व – अध्याय 28, श्लोक संख्या 17–20 ।
एवं से पुरूषव्याध्रो विजित्य दिशमुत्तमम् ।
संग्रामान्सुवहुन्कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ।।
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान्करे चा विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ।।
हयांस्तितितरि कुल्मापाञ्शुक पत्रनिभानपि ।
मयूर सद्दशानन्यान्सर्वान निलंरह ।।
वृतः सुमहता राजन्बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरात्तमम् ।।

के घोडों के साथ लेकर चतुरंगिणी सेना के साथ अर्जुन इन्द्रप्रस्थ वापस आ गये।

इसी तरह युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर महाबली भीमसेन ने हाथी, घोड़े और रथो से सुसज्जित सेना लेकर पूर्व दिशा की ओर चढ़ाई कर दी। भीमसेन सर्वप्रथम पंचालों के पुर मे पहॅचे और विभिन्न उपायों से पंचालों को समझाया । इसके पश्चात भीम ने गण्डक देश को जीतकर लिया और कुछ समय के पश्चात दार्शाण देश को भी जीत कर अपने आधीन कर लिया। दार्शाण देश के साथ भीम का भीषण मल्ल युद्ध हुआ तथा भीम सेन ने दार्शाण के राजा सुधर्मा को सेनापति नियुक्ति कर दिया।

इसके पश्चात् भीमसेन पूर्व दिशा की ओर दिग्विजय करने निकले। भीमसेन ने अश्वमेघेश्वर, रोचमान को युद्ध मे परास्त किया। महातेजस्वी, महापराक्रमी, भीमसेन ने साधारण परिश्रम से ही पूर्व दिशा को विजित कर लिया।

पूर्व दिशा में विजय स्थापित करने के बाद भीम ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया और पुलिन्द नगर के राजा सुकुमार और सुमित्र को पराजित कर दिया।

भीमसेन ने युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर महाबली शिशुपाल पर चढाई कर दी। चेदिराज शिशुपाल ने अपने राष्ट्र को हसंते–हंसते भीमसेन को समर्पित कर दिया।[1] भीम सेन वहां पर तेरह रात निवास करके और शिशुपाल से आतिथ्य स्वीकार कर आगे चल दिये। इसके उपरान्त भीमसेन ने कुमार देश में श्रेणिमान नामक राजा और कौशल देश के स्वामी बृहद्वल को जीत लिया। भीम ने अयोध्या में महाबली दीर्घ यज्ञ राजा को थोडे से परिश्रम मे ही जीत लिया।

भीम ने गोपाल कक्ष, उत्तर कोशल देश और मल्लों के अधिपति पार्थिक को जीत लिया। इसके उपरान्त महाबली भीम ने

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 29, श्लोक संख्या 15
ततो निवेद्य तद्राष्ट्र चेदिराजो विशांपते।
उवाच भीमं प्रहसन्किमिदं कुरूपेड ।।

हिमालय के पास जलोद्भव देश को कम समय में ही विजित कर लिया। इस तरह से भीम ने अनेक देशों को जीत लिया। और मल्लार देश तथा शुक्तिमान् पर्वत पर विजय प्राप्त की। बलबानों में महाबली, महापराक्रमी भीम ने युद्ध में काशिराज सुबाहु को वश मे कर लिया। महापराक्रमी क्रथ को भीम ने जीत लिया।

भीम ने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभयों को जीत कर पशुभूमि को जीत लिया। इसके कुछ समय पश्चात महाबली भीम ने मदधार और सोमपेय पर्वतों को जीत कर उत्तर की ओर गमन किया। और वत्सभूमि को जीत लिया । फिर भीम ने भगों के स्वामी तथा निषादों के पति और मणिमान आदि राजाओं को जीत लिया। इसके उपरान्त दक्षिण के मल्लों और भोगवान् पर्वत को साधारण परिश्रम से ही भीम ने जीत लिया। शर्मक और वर्मकों को भीमसेन ने समझौते से ही अपने वश में कर लिया। महाबली भीमसेन ने विदेह के स्वामी, पृथिवी के पति राजा जनक को भी साधारण लड़ाई से पराजित किया। और शक तथा बर्बरों

को छल से भीम ने जीत लिया। विदेह देश में पड़ाव डाले हए भीम ने इन्द्र पर्वत के पास के सात किरात राजाओं को जीत लिया।

इसके उपरान्त सुह्य–प्रसुह्य और अन्य राजाओं को युद्ध में जीत कर कुन्ती पुत्र महाबली भीम मगध देश को प्रस्थान किये।[1] इसके पश्चात् दण्ड, दण्डधार तथा अन्य नरेशों को जीत कर और इन्हीं राजाओं को साथ नरेशों को जीत कर और इन्हीं राजाओं को साथ लेकर भीम गिरिव्रज नगरी पहुँचे। गिरिव्रज नगरी में जरासन्ध के पुत्र सहदेव से सन्धि करके और कर लेकर महाबली भीम ने इन सब राजाओं के साथ कर्ण पर चढाई कर दी। भीम अपनी चतुरगिणी सेना से पृथ्वी को कंपायमान करते हुए शत्रुघाती कर्ण से भिड़ गये।[2] महाबली भीम ने कर्ण को जीतकर और वश में करके

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 30 श्लोक संख्या 16
ततः सुह्यान्प्रसुह्यांश्च स्वपक्षानपि वीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयों मागधानश्यधाद्बली ।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 30 श्लोक संख्या 19
स कम्पयन्निव महीं वलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुचे पाण्डव श्रेष्ठः कर्णेनाऽमित्रघातिना ।।

पर्वतवासी राजाओं को पराजित किया। पाण्डु पुत्र भीम ने मोदागिरी में महाबली राजा को भुजा के बल से युद्ध में मार गिराया। महाबली भीमसेन ने पुण्ड्र देश के राजा महाबली वीर वासु देव को और महाओजस्वी कौशिकी कच्छ के वासी राजा को युद्ध में जीता। ये दोनों ही राजा बड़े बलवान और अत्यन्त पराक्रमी थे। इसके पश्चात् भीम ने बङ्ग देश के राजा पर चढाई कर दी। इन सबको जीतने के उपरान्त भीम ने समुद्रसेन, चन्द्रसेन, ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति सुहा के पति, सागर वासी राजा तथा सारे म्लेच्छ गणों को भीम ने जीत लिया।

इस तरह से अनेक देशों को जीत कर पवन पुत्र महाबली भीम उन राजाओं से भेंट स्वरूप बहुत सा धन लेकर लौहित्य देश को चल दिया।[1]

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 30, श्लोक संख्या 26
एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्य मगमद्बली ।।

यहां उसने समुद्र के तट पर रहने वाले स्वेच्छ राजाओं को जीत कर उनसे कर के रूप मे अनेक प्रकार के रत्न दिए।[1]

धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर और बहुत बड़ी सेना को साथ लेकर सहदेव दक्षिण दिशा को चल दिये। शक्तिशाली सहदेव ने सर्वप्रथम सारे शूरसेनों तथा मत्स्यों को जीता तत्पश्चात अधिराजाधिप पदवी धारी, महाबली, दन्तवक्र को सहदेव ने पराजित किया ओर कर देने वाला बनाकर उसके राज्य पर उसको बैठा दिया। इसने सुकुमार और राजा सुमित्र को भी जीता ओर अपर मत्स्यों तथा लुटेरों को मार भगाया।

निषादों की भूमि और गोशृङ्ग पर्वत तथा श्रोणिमान राजा को सहदेव ने वेग के साथ जीत लिया।[2] इसके पश्चात

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 30, श्लोक सख्या 27
स सर्वान्म्लेच्छनृपतीन्सागरान् पवासिन· ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 5
निषाद भूमि गोशृङ्ग पर्वत प्रवरं तथा ।
तरसैवाऽ जय द्वीमाञ्छोणि मन्तं च पार्थिवम् ।।

सहदेव ने नरराष्ट्र को जीतकर कुन्ती भोज पर चढाई कर दी और प्रसन्न होकर प्रीति के साथ उसका शासन स्वीकार कर लिया।

सहदेव का सामना अब चर्मण्वती के किनारे जम्भक के पुत्र से हुआ। सहदेव ने इसके साथ युद्ध किया और युद्ध में जीतने के उपरान्त दक्षिण की ओर गमन किया। वहां सेक अपर सेक देशों को परास्त करके सहदेव ने उन राजाओं से अनेक रत्नों की भेंट स्वीकार की । इसके बाद सहदेव उन राजाओं को साथ लेकर नर्मदा की ओर चल दिया।[1] अश्विनी कुमार के पुत्र सहदेव ने बड़ी भारी सेना लेकर विन्द और अनुविन्द वीरों को अवन्ति नगरी में पराजित किया। यहां से भेंट स्वरूप रत्न आदि लेकर सहदेव भोजकट पुरको गए यहा पर लगातार दो दिन तक घमासान युद्ध

---

[1] महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 9
सेकान पर सेकाञ्च व्यजयत्सुमहाबल. ।
करं तभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ।।
ततस्तेनैन सहितो नर्मदामभितो ययौ ।।।

होता रहा।[1] सहदेव ने दुराधर्स भीष्मक को जीतकर कोसल देश के अधिपति वेणा नदी के तट के स्वामी कान्तारक तथा प्राक्कोशल के राजा नाटकेय, हेरम्बक, मारूध, रम्यग्राम प्राचीन अर्बुदको को तथा अन्य वनवासियों को युद्ध में जीतकर वाताधिप राजा को वश मे कर लिया। सहदेव ने पुलिन्दों को भी रण में जीतकर पाण्डय राज के साथ एक दिन युद्ध किया। पाण्डय राज को जीतकर महाबाहु सहदेव ने दक्षिण दिशा की यात्रा करते समय किष्किन्धा नाम की गुफा पर पहुँचे । वहां पर सहदेव ने वानरराज मैन्द और द्विविद के साथ सात दिन तक युद्ध किया। लेकिन इस युद्ध का उन वानरराजों पर कुछ भी असर नहीं हुआ। सहदेव की वीरता से वे दोनो बहुत प्रसन्न हुए और उन्हे अनेक प्रकार के रत्नों की भेट दी।[2]

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या ।।
ततो रत्नान्युपादय पुरं भोजकर पयौ ।
तत्र युद्धमभृद्रा जन्दिवसद्वयमच्युतम्।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 20
गच्छ पाण्डव शार्दल रत्नान्यादाय सर्वश।
अविध्वमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ।।

वहां से रत्नों की भेंट लेकर सहदेव महिष्मती पुरी को चल दिए । वहां पर नील नामक राजा ने इनसे युद्ध किया। इस युद्ध में सेना का क्षय हो गया और सहदेव के प्राण संकट में पड गये । भगवान हव्यवाहन अग्नि ने इस समय राजा नील की सहायता की। इस समय सहदेव की सेना के रथ, हाथी, घोड़े, पुरूष और कवच सारे अग्नि के तुल्य जलते दिखाई पड़ रहे थे। क्योंकि राजा नील की सेना को अग्नि ने अभय रहने का वरदान दिया था। तभी से अग्नि से भयभीत राजा लोग उस पुर पर चढ़ाई नहीं करते। लेकिन सहदेव ने पवित्र मन से अग्नि की स्तुति की थी इसलिए अग्निदेव प्रसन्न थे अग्नि देव की आज्ञा पाकर राजा नील ने सहदेव का सत्कार किया और उनकी पूजा की।[1]

---

[1] महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक सख्या 59–60

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजभ्यगात्तदा।
पावकस्याऽऽज्ञया चेनमर्च यामास पार्थिवः ।
सत्कारेण नख्याघ्रं सहदेवं युधा पतिम् ।।

· इस प्रकार पूजा स्वीकार करके और उसको भी कर दायी बनाकर विजयी सहदेव दक्षिण दिशा की ओर चल दिया।[1] वहां पर पहुँचकर त्रैपुर राजा को वश में करके महाबाहु सहदेव ने पौरवेश्वर को भी पकड लिया। इसके अतिरिक्त कौशिकों के आचार्य, सुराष्ट्र के अधिपति, और आकृति को बड़े प्रयत्न से सहदेव ने वश में कर लिया।

सुराष्ट्र में ही स्थित हुए सहदेव ने रूक्मणी और राजा भीष्मक के पास दूत भेजा । इन्होने सहदेव के शासन को प्रेम से स्वीकार कर सहदेव को रत्नों की भेंट दी । इसके बाद सहदेव ने शूर्पारक तालाकट और दण्डकों को वश मेंकिया।

इन सब को परजित करने के पश्चात् सहदेव ने समुद्र के द्वीपो के निवासी निषाद, पुरूपाद, कर्णप्रावरण ओर राक्षस योनि

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 61
प्रतिगृहा च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ।
माद्रीसुतस्तत प्राया द्विजयी दक्षिणां दिशम् ।।

के कालमुख, सारा कोल्लगिरी, सुरभीपट्टन, ताम्रद्वीप, रामक पर्वत, तिमिङ्गल राजा को महाबुद्धिमान सहदेव ने वश मे कर लिया।[1]

सहदेव ने एक पाद के पुरूष, केरल वनवासी संजयन्ती नगरी, पाषण्ड, करहाटक आदि देशो के दूतों के द्वारा ही वश में कर लिया और करदाता बना लिया। इसके अतिरिक्त पुण्ड्र, केरल, पाण्डय और द्राविड़ अन्ध्र तालबन, कालिङ्ग, उष्ट्र कर्णिक, सुन्दर आटवी पुरी और यवनों के पुर को सहदेव ने दूतों के माध्यम से वश में कर लिया।

तत्पश्चात् सहदेव ने पुलस्त्य वशी महात्मा विभीषण के पास दूत भेजा, विभीषण ने इनके शासन को स्वीकार कर लिया। इसके उपरान्त विभीषण ने नाना प्रकार के रत्न, चन्दन, अगर, दिव्य

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 68–70 ।

सागर द्वीप सांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान् ।
निषादान्पुरूपादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।।
ये च कालमुखा नाम नरराक्षस योनय. ।
कृत्स्नं कोल्लगिरिं चैव सुरभी पट्टनं तथा ।।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा।
तिमिङ्गल च स नृपं वशे कृत्वा महामति ।।

आभूषण, मूल्यवान वस्त्र ओर अत्यन्त मूल्यवान मणि भेजे। इसके बाद सहदेव वहां से चल दिए।

इस तरह से युद्ध के द्वारा राव को जीतकर और शान्ति स्थापित करके और राजाओं को करदायी बनाकर लौट आया।

बुद्धिमान और बलवान नकुल ने बडी भारी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ से निकलकर पश्चिम दिशा को लक्ष्य करके प्रस्थान किए । नकुल की सेना मे भारी सिंहनाद हो रहा था इसके अतिरिक्त योद्धाओं की गर्जना तथा रथ की नेमि के शक से भूमि कम्पायमान हो रही थी।

सर्वप्रथम नकुल ने रोही तक पर चढाई की वहा पर मदोन्मत्त मयूर जाति के योद्धाओं से महायुद्ध हुआ। इसके पश्चात् नकुल ने सारी मरू भूमि और शैरीषक तथा महेत्थ प्रदेश तथा

आक्रोश नामक राजर्षिका विजय किया। इस राजा के साथ नकुल का महा संग्राम हुआ।[1]

इसके पश्चात् नकुल दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ मालव और आम्बष्ठ मालव और पांच कर्पर क्षत्रियों को जीतकर तथा मध्यमकेय, और वाटधान द्विजों को पराजित करके आगे चल दिये। नकुल फिर से लौट कर पुष्करारण्य के रहने वाले क्षत्रियों को जीत लिया।

इसके अतिरिक्त सारे पंचनद, अमर पर्वत, उत्तर ज्योतिष, दिव्यकूट पुर और द्वारपाल नगर को नकुल ने विजित कर लिया।[2] इसके पश्चात् नकुल ने रामठ, हारहूण तथा अन्य पश्चिम

---

1 महाभारत दिग्विजय पर्व, अध्याय 32, श्लोक संख्या 5--6
मरूभूमि च कात्स्नर्येन तथैव बहुधान्यकम् ।।
शैरीषकं महेत्थ च वशे चक्रे माहाधुति ।
अक्रोशं चैव राजर्षि तेन युद्धमभून्महत् ।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 32, श्लोक संख्या 5--6 ।।
उत्तरज्योतिष चैव तथा दिव्यकंट पुरम् ।।
द्वारापालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युति : ।

दिशा के राजाओं को धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से अपने अधिकार मे कर लिया।

इसके बाद शाकल में पहुँचकर महाबली नकुल ने प्रेमपूर्वक अपने मामा शल्य को भी अपने वश में कर लिया। मद्रराज शल्य ने नकुल का बहुत सत्कार किया और अनेक रत्नों की भेंट उपहार स्वरूप दी।[1]

महा पराक्रमी नकुल ने म्लेच्छों पह्लव, बर्बर, किरात, यवन, शक, तथा अन्य राजाओं को जीतकर और उनसे भेंट स्वरूप बहुत सा रत्न लेकर नकुल वापस लौट आए। नकुल ने इकट्ठे किए हुए खजाने को दस हजार ऊँट कठिनता से लद कर ला सके।[2]

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 32, श्लोक सख्या 15
सतेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारोर्हो विशांपते ।।
त्रानि भूरीण्यादाय, संप्रतस्थे युधां पति ।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 32, श्लोक संख्या 18
करभाणां सहस्राणि कोश तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ।

इस तरह से नकुल ने अपने शौर्य, पराक्रम, बुद्धि के द्वारा इकट्ठे किये हुए धन का राजा युधिष्ठिर को समर्पित कर दिया।

राजसूय यज्ञ

चारो भाइयों अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव द्वारा चारो दिशाओं में दिग्विजय अभियान चलाने और उसमें सफल होने के फलस्वरूप उनके कोष में धन की इतनी वृद्धि हो गयी कि जिसका व्यय सैकड़ों वर्षों में भी नही हो सकता था।

राजा युधिष्ठिर धन—धान्य का भण्डार और कोष का परिणाम जानकर राजसूय यज्ञ की तैयारी करने लगे। भगवान श्रीकृष्ण सेनापति पद पर वासुदेव को बैठा कर धर्मराज बडे भारी धन की भेंट लेकर और वहुत सी सेना से युक्त होकर इन्द्रप्रस्थ पहुँचे।

राजा युधिष्ठिर द्रव्य को विधि पूर्वक ब्राह्मणों को दान करके और अग्नि मे हवन करके सफल बनाना चाहते थे।[1] और युधिष्ठिर श्री कृष्ण और अपने भाईयों के साथ यज्ञ सम्पन्न करना चाहते थे। श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर के गुणों का वर्णन करते हुए कहा कि तुम सम्राट हो और राजसूय यज्ञ करने के योग्य हो। श्रीकृष्ण के आज्ञा देने पर युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ राजसूययज्ञ करने के लिए साधन इकट्ठे करने लगे।[2]

इस यज्ञ में ऋषियों के कहने के अुनसार यज्ञो के अङ्ग तथा अन्य सारी माङ्गलिक वस्तुएं और धौम्य पुरोहित की बतायी हुई यज्ञ की सामग्री, सेवकगण तथा जितनी सामग्री की आवश्यकता हो ले आने की आज्ञा दी।

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक संख्या 20
सोऽहमिच्छामि तत्सर्वं विधिवद्देवकीसुत।
उपयोक्तु द्विजाग्रेभ्यो हण्यवाहेच्च माधव ।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक संख्या 27
अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभि· सह ।
ईजितुं राज सूयेन साधनान्युपचक्रमे ।।

इन्द्रसेन, विशोक, ओर अर्जुन के सारथि पुरू अन्न अदि भोजन की सामग्री इकट्ठी करने लगे। सहदेव ने आज्ञा के साथ सारी सामग्री इकट्ठी करके राजा युधिष्ठिर को समर्पण की।

और वेदव्यास ने ऋत्विजों को इकट्ठा किया, जो ब्राह्मण, महाप्रभावशाली वेदों की साक्षात मूर्ति थे।[1] राजा युधिष्ठिर के यज्ञ मे वेदव्यास, ब्रह्मा धनंजय गोत्र के प्रधान आचार्य, साम के गाने वाले उद्गाता, ब्रहनिष्ठ, याज्ञवल्क्य, वसुपुत्र पैल अध्वर्यु और धौम्य होता बने।[2] वेद वेदान्त के जानने वाले, इनके शिष्य और पुत्र यज्ञ में सप्त संख्याधारी होत्रा बने।

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक सख्या 34
ततो द्वैपायनो राजनृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान्साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ।।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक संख्या 35–36
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ।।
याज्ञवर्क्यो वभूवाऽथ ब्रहिष्ठोऽध्वर्युसन्तिम ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौर सहितोऽभवत् ।।

. सर्वप्रथम पुण्याहवाचन पढकर और यज्ञविधि का विचार करके उस यज्ञ स्थान को शास्त्रानुसार बनाया गया। शिल्पि के आज्ञानुसार देवों के भवनों के समान, सुगन्धित और विशाल यज्ञ शालाएं बनवायी ।

युधिष्ठिर ने सहदेव को आज्ञा दी कि वे शीघ्रगामी दूतों के माध्यम से आमन्त्रण दें । और उन्होने आज्ञा दी कि सारे राष्ट्र में जाकर यज्ञ के लिए उत्तम–उत्ताम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र को ले आए।

तदुपरान्त उन उत्तमा ब्राह्मणों ने समय पर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की दीक्षा में नियुक्त किया। धर्मात्मा युधिष्ठिर यज्ञ में दीक्षित हुए और उसके पश्चात हजारो ब्राह्मण, भाई, जाति, बान्धव सुहृद, सचिव, क्षत्रिय नाना देशों से आए हुए राजा, आमात्यों के सहित, शरीरधारी धर्म के तुल्य यज्ञ मण्डप में पहॅचें।

वेद—वेदान्त के पारगामी विद्वान, सब विद्याओं में कुशल, ब्राह्मण, विभिन्न देशों से इस राजसूय यज्ञ में पहुँचे।[1] धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से हजारों शिल्पियों ने ब्राह्मणों को बहुत से अन्न और वस्त्रों से युक्त, सारे ऋतुओं में सुखदायी निवास स्थान बनाया।

धर्मराज युधिष्ठिर ने हजारो गायें, सोने की शय्याएं और सुन्दर कन्याओं के दान प्रदान किए।[2]

युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में भीष्म द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर कृप और सारे भाइयों तथा प्रेमियों को लाने के लिए नकुल को भेजा। नकुल से सत्कार के साथ आमन्त्रित हुए आचार्य आदि महानुभाव, प्रसन्नता के साथ ब्राह्मणों को साथ लेकर यज्ञ देखने के

---

1 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक संख्या 48
आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ।।
सर्वविद्यासु निष्णाता वेद वेदाङ्गपारगा ।

2 महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 33, श्लोक संख्या 54
गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग्ददौ ।।

लिए आए। यज्ञ के गौरव को जानने वाले अनेक क्षत्रिय भी, धर्मराज के यज्ञ को सुनकर प्रसन्न मन से पाण्डु पुत्र धर्मराज और उसकी सभा देखने के लिए बडे–बड़े अनेक प्रकार के रत्नों की भेंट लेकर अनेक दिशाओं से चल दिये

इन सब के अतिरिक्त धृतराष्ट्र, भीष्म, महामति विदुर, दुर्योधन आदि सारे भाई, गान्धार सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक महारथी कर्ण, बलवान् शल्य, महाबली बाहलिक सोमदत्त, कुरूवंशी भूरि भूरिश्रवाः शल् अश्वत्थामा, कृप, द्रोण, सिंधुराज, जयद्रथ, पुत्र सहित यज्ञसेन, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुर का राजा, समुद्र के समीप रहने वाले सारे म्लेछों के सहित महारथी भगदत्त पर्वत के राजा, राजा बृहद्वल, पौण्डक, वासुदेव, बङ्ग, कालिङ्गक, आकर्ष कुन्तल, मालव, अन्ध्रक, द्राविड़, सिंहल राज, काश्मीरक, कुन्ति भोज महातेजस्वी राजा गौर बाहन अन्य बाहिल्क अन्य शूरवीर राजा, पुत्रों के साथ विराट, महाबली गावेल्ल, नानादेशों के राजा

और राजकुंमार, पुत्र के साथ महाशक्तिशाली युद्ध में मदोन्मत्त शिशुपाल भी पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में आए।

इन सभी राजाओं के अतिरिक्त युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में बलराम, अनिरूद्ध, कङ्क सहसारण, गद प्रद्यम्न, साम्ब, वीर्यवान, चारूदेष्ण, उल्मुक, निशठ, बीर आङ्गावह और सारे वृष्णि वंशी महारथी धर्मराज के यज्ञ में पधारे।

धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से उनके लिए बहुत सी भव्य सामग्री से परिपूर्ण, बावड़ी, और वृक्षों से सुशोभित, निवास स्थान ठहरने के लिए दिए गए।

सर्वप्रथम युधिष्ठिर ने इन महात्माओं की पूजा की। ये सब सत्कार पाकर अपने–अपने निवास स्थानों को चले गए।[1]

---

[1] महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 34, श्लोक सख्या 19
तथा धर्मात्मज. पूजां चके तेषां महात्मनाम् ।
सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाज्जग्मुरावसथा न्नृपाः ।।

राजा युधिष्ठिर भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य से आगे आकर मिलें और इनको प्रणाम करके भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन, बिंबिशति से यज्ञ में कृपा बनाए रखने की प्रार्थना की।

यज्ञ दीक्षा में बैठे युधिष्ठिर ने सब महानुभावों को यथा योग्य अधिकारों पर लगा दिया। राजा युधिष्ठिर ने भक्ष्य और भोजन के कार्य पर दुःशासन को और ब्राह्मणो के स्वागत में अश्वत्थामा को नियुक्त किया। राजाओं के स्वागत के लिये संजय को लगाया गया। और महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोण को इन सबकी देखभाल के लिए प्रयुक्त किया।

राजा युधिष्ठिर ने काञ्चन और रत्नों की देखभाल के लिये तथा दक्षिणाओं के दान के लिये कृपाचार्य को नियुक्त किया। इसी तरह से अन्य राजाओं को विभिन्न कामों मे लगाया गया।

सब धर्मों को जानने वाले विदुर व्यय करने के स्थान पर लगाए गए। और राजा दुर्योधन सब प्रकार की भेंट लेने पर लगाये गए।

श्रीकृष्ण ने उत्तम फल की प्राप्ति की इच्छा से ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वयं स्वीकार किया।[1]

राजा युधिष्ठिर मेरे ही धन से यज्ञ को पूरा करें ऐसी भावना के कारण राजा लोग होड के साथ धन देने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर अपने ऐश्वर्य के कारण वरूण की बराबरी करने की इच्छा रखते थे। उन्होंने दक्षिणा से युक्त छः अग्नि वाले यज्ञ से यजन किया और सारी कामनाओं को पूर्ण करके सारे मनुष्यों को सन्तुष्ट किया।

---

[1] महाभारत, दिग्विजय पर्व, अध्याय 35, श्लोक संख्या ।।
चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं हाभूतू ।
सर्व लोक समावृताः पिग्रीषुः फलमुत्तमम् ।।

महर्षियो से विस्तृत किये हुए इस यज्ञ मे इडा, आज्य और सोम की आहुतियों से मन्त्रों की शिक्षा में विशारद ऋत्विको ने देवों को तृप्त किया।

देवों के तुल्य ब्राह्मणों को दक्षिणा अन्नादि महाधनों से सन्तुष्ट किया गया। इस यज्ञ में सारे वर्ण आनन्द के साथ तृप्त हुए।

प्रमुख भारतीय शासकों के विजय एवं दिग्विजय अभियान

प्राचीन भारत मे दिग्विजय यात्राओं में निकलने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है वह मौर्य राजवंश का संस्थापक था। उसकी दिग्विजय यात्रा के संबन्ध में हमें श्री लंका की महावंश, दीपवंश, महावंश टीका, तथा भारतीय ग्रन्थ दिव्यावदान, जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वन् तथा यूनानी इतिहासकार जो सिकंदर के साथ आये थे। इसके अतिरिक्त जस्टिन, प्लूटार्क, कर्टियस, आदि के उल्लेखों से प्राप्त होता है।

मालविकाग्निमित्र नाटक ई० पू० दूसरी शताब्दी में मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या कर साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लेने वाले शुंग सम्राट पुष्यमित्र के जीवन की घटनाओ पर आधारित है। पुष्यमित्र के इस साहसिक कार्य की पुष्टि बाण के हर्षचरित से भी होती है। इससे यह पता चलता है कि भारतीय इतिहास में राज्य

परिवर्तन की इस घटना का असर सातवी शताब्दी ई० तक था। शुंगो की दूसरी राजधानी विदिशा में थी जहा पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र युवराज के रूप में शासन करता था। पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। महाभाष्यकार पतजलि अश्वमेध के प्रधान ऋत्विक् थे। यह यज्ञ पाटलिपुत्र में हुआ था और छोडे गये यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए अग्नि मित्र का पुत्र वसुमित्र सेनानायक बनाकर भेजा गया था। उसने सिंधु नदी के तट पर ग्रीक यवन सेना को पराजित किया था। इस बात की सूचना पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र को पत्र द्वारा दी थी।[1]

इस नाटक से यह भी पता चलता है कि पुष्यमित्र द्वारा साम्राज्य पर अधिकार कर लेने के पश्चात् भी मौर्यराज के

---

1 कालिदास, मालविकाग्निमित्रम् अंक 5 श्लोक 5,
ततः परान् पराजित्य वसुमित्रेण धन्विनाः ।
प्रसह्य ह्रियमाणों मे वाजिराजो निवर्तितः ।

पक्षपाती लोग यत्र--तत्र की विद्रोह मुद्रा मे बने हुए थे। यह बात विदर्भनरेश द्वारा अग्निमित्र को लिखे गये पत्र से स्पष्ट होती है।[1]

चन्द्रगुप्त की शिक्षा तक्षशिला मे समाप्त हो जाने के बाद चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनो विभिन्न स्थानो से सेना के लिये सैनिक ढूँढने निकल पड़े। इसके पश्चात् जो सेना तैयार हुयी वे चन्द्रगुप्त के सेना पतित्व में रखी गयी।[2]

रीज डैविड्स[3] के अनुसार जिस सेना के बल पर चन्द्रगुप्त ने धननंद के घेर कर परास्त किया था, उसका मूल पंजाब से भरती किये गये सैनिकों पर था।

जस्टिन के अनुसार चन्द्रगुप्त ने स्थानीय निवासियो को भरती करके एक सेना तैयार की थी। इन लोगों को जस्टिन ने

---

1 कालिदास, माविकाग्निमित्रम् अंक 1, श्लोक 7,
मौर्यः सचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः सयत मगश्यालम् ।
मौक्ता माधव सेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ।।

2 महावश टीका – महाबलकायं सगहेत्वा तं तस्स पटि पादेसि

3 रीज डेविड्स – बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ, 267

लुटेरा कहा है। ऐसा ही मैकक्रिंडिल[1] ने बताया है कि लुटेरे से अभिप्राय उन गणतांत्रिक जातियों से था जिनका पंजाब मे उस जमाने में बोलवाला था उन्हें अराष्ट्रक अर्थात् राजा रहित जातिया कहा जाता है।

चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण के बारे में मेरूतुंग द्वारा उद्वत स्मारक में कुछ ऐसे तथ्य भी मिलते हैं। जिनसे पता लगता है कि चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण और शक शासन की समाप्ति पर विक्रम संवत के प्रारम्भ के बीच 255 वर्षों का अन्तराल पडा।[2]

चाणक्य और चन्द्रगुप्त को पजाब की समस्त गणतांत्रिक जातियो तथा राज्यों और वहां के साधारण निवासियों में जो बहुमूल्य सैनिक सामग्री तथा साधन जो निहित क्षमताए तथा संभावनायें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी उनका लाभ उठाने का तथा उनका एक बार फिर उपयोग करने का अवसर मिला।

---

1 मैकक्रिडिल – इनवेजन ऑफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर, पृष्ठ 406

2 इंडियन ऐण्डि क्वेरीज, 1914, पृष्ठ 118, जैकोबी, कल्पसूत्र ऑफ भद्रबाहु, लीपजिग, 1879, पृष्ठ 7

इस आधारभूत सामग्री से जनता में प्रतिरोध की अदम्य भावना से इस युद्ध को लडने और उसमें विजय प्राप्त करने के लिए एक सुसंगठित सेना तैयार करने में उनको कोई कठिनाई नहीं हुयी।

चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना में स्थानीय निवासियों तक ही सीमित नही रखा जैसा कि मुद्रा राक्षस में वर्णन मिलता है कि चाणक्य ने हिमालय पर्वत प्रदेश के एक राज्य के पर्वतक या पर्वतेश नामक प्रधान से मैत्री संधि की थी।

परिशिष्ट पर्वन् नामक जैनग्रन्थ में भी इस मैत्री सधि का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि चाणक्य हिमवत्कूट गया, और उस प्रदेश के राजा पर्वतक केसाथ उसने मैत्री संधि की।

बौद्ध वृतान्तों में भी चाणक्य के पर्वत नामक घनिष्ठ मित्र का उल्लेख मिलता है। इस तरह से तीन प्रचलित गाथाओं में इस मैत्री का उल्लेख मिलता है।

एफ0डब्लू0 टामस[1] ने इस आगे जाकर यह कहा कि यह पर्वतक शायद वही व्यक्ति था जिसे युनानियों ने पोरस कहा था। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि अपने समय में अपने देश की राजनीति में पोरस का कितना महत्वपूर्ण स्थान था।

चन्द्रगुप्त द्वारा मगध विजय जैसी महत्वपूर्ण घटना के बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती लेकिन इस बात का प्रमाण अवश्य मिलता है कि इस घटना से चारों ओर सनसनी फैल गयी और सारी जनता के बीच इस घटना के प्रति एक दिलचस्पी पैदा हुयी। क्योंकि नंद वंश के राजाओं के अत्याचार से देश के दूसरे भागो के शासक परेशान हो गये थे। परिशिष्ट पर्वन की कथा के अनुसार नंदों के नाश के लिये चन्द्रगुप्त ने जो सेनायें एकत्र की

---

1 कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड 1, पृष्ठ 471

थीं उनके खर्च के लिये धातुकर्म या खानिकर्म के द्वारा धन एकत्र किया था।

बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द पनहों में[1] नंदों और मौर्यों की सेनाओं के बीच हुए संघर्ष का वर्णन है।

चन्द्रगुप्त मौर्य तथा नंद के बीच हुये युद्ध का वर्णन नहीं प्राप्त होता लेकिन जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वन[2] में नंदो के समूल नाश करने के लिये जमीन के अन्दर छिपाकर रखे गये धन की सहायता से चाणक्य ने सेना में सैनिक भर्ती किये। इस बात का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि नंद के विरूद्ध इस युद्ध में चन्द्रगुप्त ने यूनानी वेतनभोगी सैनिकों को नियुक्त किया होगा।[3] नदो के समूल नाश से मगध एक ऐसे राजवंश के आधिपत्य से मुक्त हो गया जिसने अपनी महान सेवाओं के बावजूद जनता का वास्तविक हित करने या

---

[1] सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट 36 पृष्ठ 147,

[2] परिशिष्ट पर्वन, 301--317

[3] कैंब्रिज हिस्ट्री, । पृष्ठ 435

उत्तर पश्चिम से आक्रमणों को रोकने के बारे में कोई बुद्धिमत्ता नहीं दिखलायी थी। नये राजवंश ने कुशल प्रशासन, जनहित और यवनों की विपत्ति से रक्षा कर अपने अस्तित्व की उपयोगिता सिद्ध की। जस्टिन[1] के अनुसार चन्द्रगुप्त ने उन्हीं लोगो पर अत्याचार किये जिन्हें उसने विदेशी दासता से मुक्ति दिलायी थी।

चन्द्रगुप्त ने नंदो का समूल नाश करने के बाद दक्षिण भारत में साम्राज्य विस्तार की योजना बनायी। प्लूटार्क के अनुसार उसने 6,00,000 की सेना लेकर सारे भारत को अपने अधीन कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वारा भारत दिग्विजय के पूरे प्रमाण अशोक के शिलालेखों में मिलता हैं। मध्यकालीन अभिलेखों[2] में मैसूर के कई भागों में चन्द्रगुप्त द्वारा रक्षित होने का वर्णन मिलता है। मैसूर के चितल दुर्ग जिले मे सिद्दपुर, ब्रहमगिरी और जतिंग रामेश्वर

---

1 मैक्क्रिंडल, इन्वेजन, पृष्ठ 327।
2 राइस, मैसूर एंड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिप्शस, पृष्ठ 10

पर्वत पर उसके शिलालेखों में, कोपबल तालुक में गोवीमठ तथा पालकी गुंडु के शिलालेखों मे, हैदराबाद दक्कन में मस्की के शिलालेख में, और कुर्नूल जिले में गूॅटी के शिलालेख, मे इस बात का प्रमाण मिलता है कि अशोक का राज्य दक्षिण में फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त चोल और पांड्य सत्यपुत्र तथा केरल पुत्र आदि जातियों का वर्णन अपने पड़ोसी राज्यों के रूप मे करने का उल्लेख शिलालेख 2,13 में हुआ है और इसी को उसने अपनी दक्षिणी सीमा निर्धारित की है। दक्षिण भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिपत्य था इसके प्रमाण तमिल साहित्य में भी मिलते हैं। तमिल रचनाओं में चार जगह इस बात का उल्लेख है तीन जगह अहनानूर में और चौथी जगह पुटनानूर में। इसमें वर्णन मिलता है कि मोहूर के राजा का दमन करने के लिए मोरिय हाथी, घोडों और रथों के साथ चट्टानों को चीरते हुए आगे बढते गये। तमिल वाड्.मय] से भली–भॉंति परिचित थे। दक्षिण भारत को विजित करने के बाद विस्तृत प्रदेश का स्वामी बन गया जो कि पूर्व में मगध और

1 एस0के0ऐय्यांगर, विगनिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ 69, 81, 103

बगाल से पश्चिम एरियाना के पूर्वी क्षेत्रीय प्रदेश तक फैला हुआ था। मेगस्थनीज[1] के अनुसार चन्द्रगुप्त का प्रभुत्व गंगा के सभी प्रदेशों तक ही सीमित नही था बल्कि सिन्धु के किनारे के प्रदेशों पर भी था। जहा कभी ईरान के राजा और सिकन्दर शासन कर चुके थे।

---

1 मेगस्थनीज एंड एरियन पृष्ठ 141,

चन्द्रगुप्त द्वारा पश्चिम भारत को विजित करने का भी निश्चित प्रमाण प्राप्त होते है। 150 ई0 के रूद्रदामन के गिरिनार शिलालेखों में वर्णन मिलता है कि किस प्रकार ऊर्जयत पर्वत के नीचे की ओर बहने वाली सुवर्ण सिक्ता, पलाशिनी आदि नदियों पर बांध बनाकर उस पर्वत पर सुदर्शन झील बनवायी गयी। इसका निर्माण राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय शासक ने करवाया था। उसका नाम वैश्य पुष्य गुप्त था। इससे यह स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के एक प्रान्त के रूप में पश्चिमी भारत का शासन बहुत सुचारू रूप से चल रहा था। पश्चिमी भारत में मौर्यों का राज्य सुराष्ट्र प्रान्त से दक्षिण में बहुत आगे तक फैला हुआ था। जैन लेखकों[1] ने अवन्ति के पालक के उत्तराधिकारियों में मूरियों अर्थात मौर्या की गणना की है। मध्य कालीन अभिलेखों[2] में मैसूर के कई भागों के चन्द्रगुप्त द्वारा रक्षित होने का वर्णन मिलता है।

---

1 जैकोबी, कलपसूत्र ऑफ भद्रबाहु, 1879 पृष्ठ 7

2- राइस, मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इन्स्क्रिप्शंस, पृष्ठ 10

चन्द्रगुप्त की राजनैतिक और सैनिक सफलताएं काफी महत्वपूर्ण है लेकिन इतने से ही उसकी सफलताओं का अंत नहीं हो जाता। इस महायोद्धा ने एक ओर जहां कुख्यात राजवंश के शासन से देश के एक भाग को उबारा था वहीं दूसरी ओर देश के दूसरे भाग को विदेशी दासता से मुक्ति दिलायी। चन्द्रगुप्त एक ऐसे साम्राज्य का निर्माता था जिसमें सम्पूर्ण भारत तो नहीं लेकिन उसका अधिकतर भाग आ गया था। वह युद्ध में जितना स्फूर्तिवान था शांति की कला में भी उतना ही कर्मठ था भद्रशाल और सेल्यूकस के विजेता चन्द्रगुप्त की सेना में 6 लाख पैदल, 30 हजार घुड़सवार, 8 या 9 हजार हाथी थे।[1]

चन्द्रगुप्त के दिग्विजयों के कारण विदेशो से संबंध घनिष्ठ हुए और विशेष रूप से यूनानी पश्चिम से ये संबंध और मजबूत हुए।

272 ई0 पू0 में बिंदुसार की मृत्यु के समय लगभग पूरा उप महाद्वीप मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत आ चुका था। धुर दक्षिण

1- मैक्क्रिंडल एंशियंर इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज एंड एरियन पृष्ठ 141, 161

आत्म समर्पण के लिए उपस्थित था। अतः उस पर विजय पाने के लिए सैनिक शक्ति की आवश्यकता नहीं थी। एक मात्र पूर्वी तट पर कलिंग विरोधी और अविजित रह गया था। इस पर विजय प्रात करना अशोक का काम था जिसे उसने सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। संस्कृत महाकाव्यों तथा पुराणों के अनुसार कलिंग राज्य उत्तर में वैतरणी नदी[1] पश्चिम में अमरकण्टक[2] तथा दक्षिण में महेन्द्र गिरी[3] तक फैला था। अशोक के तेरहवें अभिलेख में कलिंग युद्ध का विवरण तथा उसके परिणाम का उल्लेख मिलता है। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें और दसवें वर्ष में कलिंग विजय की।

अशोक के साम्राज्य के विभिन्न भागों में उसके शिलालेख हमें सम्राट के व्यक्तित्व से ही नहीं बल्कि उसके शासन की घटनाओं से भी परिचित कराते हैं। इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना बौद्ध मत में उसकी दीक्षा है जो कि कलिंग युद्ध के पश्चात घटी थी। सम्भवतः युद्ध का यह कारण था कि स्थल और समुद्र

1- महाभारत, 3, 114, 4
2- कूर्म पुराण 2, 39, 9, वायु पुराण, 77–4–13
3- रघुवंश, 38–43, 6, 53–54

दोनों से दक्षिण भारत को जाने वाले मार्गों पर कलिंग का नियंत्रण था और इसलिए यह आवश्यक हो गया था कि उसे मौर्य साम्राज्य का अंग बनाये। 260 ई0 पू0 में अशोक ने कलिंग वासियों पर आक्रमण किया और उन्हें पूरी तरह कुचलकर रख दिया। अशोक के तेरहवें अभिलेख के अनुसार इस लडाई के कारण डेढ़ लाख आदमी कैद किये गये, एक लाख व्यक्ति मारे गये और इससे कई गुणा अधिक नष्ट हो गये। युद्ध की इस विनाशलीला ने सम्राट अशोक को शोकाकुल बना दिया और वह प्रायश्चित्त करने के प्रयत्न में बौद्ध विचारधारा की और आकर्षित हुआ। यहीं से सैन्य दिग्विजय[1] का युग समाप्त हुआ तथा आध्यात्मिक विजय या धम्म विजय का युग आरम्भ हुआ।

अशोक के शासन काल में 250 ई0 पू0 में पाटिलपुत्र में बौद्धो की तृतीय महासभा हुयीं। उसका सर्वप्रथम उल्लेख दीपवंश में मिलता है।[2] इस संगीति में एक हजार परम अर्हतों ने भाग लिया था। यह संगीति राजा की संरक्षण में हुई थी और नौ महीने तक उसका अधिवेशन चला था। बौद्धों की तृतीय महासभा इसलिए

1- दृष्टव्य बूहलर हुल्ट्ज इन्स्क्रप्शनस ऑफ अशोक पृष्ठ 25
2- दीपवंश बूहलर हुल्ट्ज, इन्स्क्रप्शनस ऑफ अशोक पृष्ठ 25

महत्वपूर्ण है कि इसमें यह निर्णय लिया गया कि उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में धर्म प्रचारक भेजे जाये और बौद्ध मत को एक ऐसे धर्म का रूप दिया जायें, जो विभिन्न धर्मावलंबियों को धर्म परिवर्तन कराने में सक्रिय हो इसी निर्णय के कारण परवर्ती शताब्दियों में बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिण और पूर्व एशिया में हुआ।

अशोक ने अपने राज्य मे होने वाली विहार यात्राओं, जिनमें पशुओं का शिकार राजा मनोरंजन के लिए करता था पूर्णतया प्रतिबंध लगवा दिया। उनके स्थान पर अशोक ने धम्म यात्राएं की। इन यात्राओं के अवसर पर अशोक ब्राह्मणों और श्रामणों को दान देता था। वृद्धों को स्वर्ण दान देता था। व्यक्तिगत उपदेश से आम जनता में धर्म प्रसारण में सहायता मिलती थी। अशोक ने अनेक बौद्ध स्थानों की यात्री की।

नेपाल की तराई के निगाली सागर में निर्मित स्तूप को अशोक ने अपने अभिषेक के पन्द्रहवें वर्ष लगभग 250 ई0 पू0 में परिवर्द्धित किया और उसके मूल स्वरूप से दुगुना बड़ा बनवा

दिया। उसके 6 वर्ष पश्चात् वह स्वयं वहां गया और इन दोनों घटनाओं को एक स्तम्भ पर अंकित कराया।

अशोक ने अन्य स्थानों की यात्राएं भी की जिनमें रूम्मिनदेई के स्तम्भ लेख पर खुदा है कि अशोक ने लुम्बनिवन की यात्रा की और उस स्थान पर पूजा की जहां बुद्ध शाक्य मुनि का जन्म हुआ था। दिव्यावदान में इस बात का वर्णन है कि एक उपगुप्त के मार्ग दर्शन में अशोक ने तीर्थ यात्रा की थी। यह भी उल्लेख है कि उपगुप्त को अशोक ने उन सभी तीर्थ स्थानों की यात्रा कराने तथा स्मारक चिह्न छोड़ने की प्रार्थना की थी, जिनका बुद्ध भगवान के जीवन से सम्बन्ध था। जिन–जिन स्थानों पर उपगुप्त बुद्ध को ले गया उसमें लुम्बनिवन का प्रथम स्थान है।[1]

दीपवंश[2] में उल्लेख है कि हिमालय प्रदेश के प्रचारकों ने मज्झिम जिसमें कि कश्मीर और गांधार शामिल है, कि यात्रा की थी। धर्म प्रचार और धर्म यात्रा के सन्दर्भ में अशोक के शिलालेखों

1- दिव्यावदान, पृष्ठ 389–96

2- दीपवंश 8, महावंश 12

में कुछ ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे उसके और विदेशों के संबंध का आभास मिलता है।

दीपवंश के अनुसार दक्षिण दिशा में अशोक को सर्वाधिक सफलता ताम्रपर्णी अर्थात श्रीलंका में मिली। वहां का राजा तिस्स को अशोक ने इतना प्रभावित किया कि उसने भी देवानांप्रिय की उपाधि धारण कर ली। अपने दूसरे राज्याभिषेक मे उसने अशोक को विशेष निमंत्रण भेजा जिसके फलस्वरूप अशोक का पुत्र महेन्द्र बोधिवृक्ष की एक शाखा अपने साथ लेकर पहुँचा।[1]

मध्य एशिया में स्थित खोटान के राज्य के बारे में एक तिब्बती परम्परा है कि बुद्ध की मृत्यु के 250 वर्ष बाद अर्थात 236 ई0 पू0 में अशोक खोटान गया था। उत्तर काल के तिब्बती ग्रन्थों में इस बारे में विभिन्न कहानियां मिलती है।[2] यह यात्रा अशोक की धर्म विजय यात्रा थी।

1- दीपवंश 11, 25—40; 12, 1—7; 15, 74—95, 16, 1—7, 38—41 और 17, 81—87 महावंश 11, 18—42, 18 और 21

2- राकहिल:लाइफ आफ दि बुद्ध, अध्याय 8, बील—बुद्धिस्ट रेकईस, 1 पुष्ठ 143, 2, पृष्ठ 309, लाइफ ऑफ दि बुद्ध पृष्ठ 203; वैटर्स 2, पृष्ठ 295—305। स्टीन, ऐंशियंट खोतान आक्सफोर्ड 1907 पृष्ठ 158—66 और 368 कोनो, खोतान स्टडीज

तिब्बत के इतिहासकार तारनाथ ने एक अनुश्रति के आधार पर कहा है कि अशोक ने अपने पिता के राजकाल मे नेपालों और खाश्यों के विद्रोहों को दबाया था।[1] इस प्रकार नेपाल का कुछ अंश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था। क्योंकि जन्मभूमि लुम्बनी मे अशोक की यात्रा के उपलक्ष्य में वहां करों को कम करना किसी विदेशी राज्य में संभव नहीं था। नेपाल की यात्रा मे अशोक के साथ उसकी पुत्री चारूमती भी थी और उसका विवाह नेपाल के ही देवपाल नामक एक क्षत्रिय राजकुमार से हुआ था।

पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी अशोक के साम्राज्य की सीमा थी। 1931 ई0 में महास्थान अभिलेख की प्राप्ति हुई। यह मौर्यकाल का अभिलेख ब्राह्ममी लिपि में लिखा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल अशोक के साम्राज्य में शामिल था। युवाङ्ग च्वाङ्ग ने समतट और ताम्रलिप्ति में अशोक के स्तूप देखे थे। लंका से प्राप्त विवरणों के आधार पर ताम्रलिप्ति अशोक काल का एक महत्वपूर्ण बंदरगाह था।

जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैण्ड, लंदन, 1914, पृष्ठ 344

1- शीकनर पृष्ठ 27:सि0लेवी – LC Mapalइन्डैक्स, अशोक।

चक्रवर्ती सम्राट अशोक ने जन साधारण के नैतिक उत्थान के लिए अपने धर्म का प्रचार किया ताकि वे ऐहिक सुख और इस जन्म के बाद स्वर्ग प्राप्त कर सके। अशोक सच्चे हृदय से अपनी प्रजा का नैतिक पुनरूद्धार करना चाहता था और उसके लिए वो निरंतर प्रयत्नशील था। धर्म प्रचार के लिए वह बडी लगन और उत्साह से काम किया। अशोक ने राज्य के कर्मचारियों प्रादेशिक, राजुक तथा युक्तकों को प्रति पांचवे वर्ष धर्म प्रचार के लिए यात्रा पर भेजा।

गौतमी पुत्र शातकर्णी की विजय

प्रथम शताब्दी ई0 पू0 में सातवाहन वश का उदय हुआ। इस राजवंश ने आधुनिक नासिक को केन्द्र बनाकर दक्खन के पश्चिमोत्तर भाग में अपने राज्य की स्थापना की थी। सात वाहनों को आंध्र राजवंश भी कहा जाता था।

वायु पुराण में कहा गया है कि आन्ध्र जातीय सिन्धुक काष्षायन सुशर्मा और शुंगो की अवशिष्ट शक्ति को नष्ट कर राज्य प्राप्त करेगा।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि कण्व–वंश का नाश आन्ध्र वंश के द्वारा हुआ। आन्ध्र नरेश ने अपनी सम्पूर्ण सत्ता स्थापित करने के लिए कण्वों की सम्पूर्ण शक्ति और शुंगो की बची हुई शक्ति का विनाश कर दिया। आन्ध्र प्रदेश में रहने के कारण ही यह वंश आन्ध्र कहलाया। आन्ध्र नाम प्रादेशिक संज्ञा है, जातीय संज्ञा नहीं है।

इसके बाद का उत्तराधिकारी शातकर्णि था और इसका राज्यकाल भी 18 वर्ष था। क्षहरात वंश के शक क्षत्रपों ने सात वाहनों को पशिचमी दक्कन से निष्कासित कर दिया। शक क्षत्रप नहपान के जो सिक्के और अभिलेख नासिक प्रदेश के

1- वायु पुराण –
वाष्वायन स्ततो भृत्यः सुशर्मणंप्रसह्य बलं प्रदा।
सिन्धको आन्ध्रजातीयः तम्र
शूंगानां चैव यच्छेणं क्षणयित्वा प्राप्स्यतीमां वसुन्धगू।

आस–पास पाए गये हैं वे प्रथम शताब्दी के अंत और दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ को इस क्षेत्र पर शक आधिपत्य को प्रकट करते है।

सात वाहन वंश का महान शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी था। उसके नेतृत्व में सात वाहन वंश ने फिर से प्रतिष्ठा स्थापित कर ली थी। गौतमी पुत्र ने क्षहरातों पर विजय प्राप्त करके महाराष्ट्र तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में सात वाहनों की प्रतिष्ठा स्थपित की। नासिक में प्राप्त सम्वत 18 के एक अभिलेख[1] से तथा कार्ले में स्थित मामाल जिसे कि वर्तमान पूना जिले का मावल कहते हैं, में प्राप्त अमात्य के नाम के एक आदेश पत्र से पता चलता है कि महाराष्ट्र पर फिर से विजय प्राप्त कर ली गयी थी।

नासिक में पाये जाने वाले रानी गौतमी के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उनके पुत्र ने शक, यवन, ओर पह्लवों को नष्ट कर दिया था। उसके राजय की सीमा असिक[2], असक[3], और मूलक, के अतिरिक्त सुरथ, कुकर, परियात्र अथवा पश्चिमी विन्ध्य[4]

1- इपिग्राकिया इंडिका, 8, 72, 8, 72
2- कृष्णवेणा, अर्थात् कृष्णा नदी के तट पर खाखेल के लेख, 1 क्यू0, 1938, 275, आर्शिक, पतंजलि, 4, 2.2
3- शाम शास्त्री द्वारा अनुदित अर्थशास्त्र, पृष्ठ 143, 42
4- बृहत्सहिता, 14, 4

के निकट पश्चिमी अथवा मध्य भारत में अपरान्त जिसे उत्तरी कोकण कहते हैं, अनूप, जो कि नर्मदा के किनारे माहिष्मती जिले के आसपास का भू—भाग, विदर्भ—जिसे बृहत्तर बरार कहते है, और आकर, अवन्ती, पूर्वी[1] तथा पश्चिमी मालव, तक फैल गयी थी। विन्ध्य से लेकर मलय पर्वत तक अथवा ट्रावनकोर की पहाड़ियों तक जितने भी पर्वत थे, तथा पूर्वी, जिसे महेन्द्र कहते है से लेकर पश्चिमी घाटों जिसे सहा कहते हैं तक का अधीश्वर वह स्वयं था।

कुछ विद्वानों के अनुसार उसे बखारण विक्रम, चारू विक्रम, अर्थात् उसकी चाल एक सुन्दर हाथी के चाल के समान थी। और 'शक—निशूदन' अर्थाक शकों का विनाश करने वाला।

गौतमी पुत्र शातकर्णी वीर होने के साथ ही दयावान था और अपराधी शत्रुओं के प्रति भी हिंसा नहीं करता था। वह ब्राह्मण धर्म का प्रकाण्ड परिपोषक था। उसके लिए एक ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया गया है। उसने वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1- Ga2 Gjrat, इप0 इण्ड, 23 बाम्बे, गजट, गुजरात, 540, इप, इण्ड 23, 102

सातवाहन काल में राजतंत्र ही प्रमुख शासनतंत्र था। शासन की सफलता राजा की व्यक्तिगत योग्यता पर ही निर्भर करता था। गौतमी पुत्र शातकर्णी एक महान विजेता होने के साथ एक कुशल प्रशासक भी था।

शुगों की दिग्विजय अभियान

जिस समय भारत वर्ष संकट की स्थिति से गुजर रहा था और उसका पतन अवश्यम्भावी सा दीख रहा था। उसी समय एक क्रान्ति हुई जिसने भारतीय इतिहास की दिशा बदल दी। यह क्रान्ति थी पुष्यमित्र शुंग के द्वारा बृहदथ की हत्या के रूप में।

अशोक की बौद्ध नीति ने सैनिक दृष्टिकोण से देश को दुर्बल बना दिया था इसका परिणाम यह निकला कि उसकी मृत्यु के पश्चात ही देश में चारों ओर विपत्ति आ गयी। मौर्य साम्राज्य के अधीनस्थ राज्यों ने अपनी—अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी शुरू कर दी। विदेशी आक्रमणकारी उत्तर—पश्चिम दिशा से आने लगे।

अशोक के उत्तराधिकारियों में कोई भी ऐसा शासक न था जो भारतवर्ष को आन्तरिक अशान्ति और विदेशी आक्रमणें से बचाया। राजनीतिक अस्थिरता ने धर्म और संस्कृति को भी प्रभावित किया।

हर्षचरित के अनुसार मौर्य बृहद्रथ प्रज्ञादुर्बल शासक था। एक बार जब वह अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था तब उसके सेनानी पुष्यमित्र ने उसकी हत्या कर दी।[1]

वर्ण व्यवस्था के अनुसार क्षत्रियों का कर्म होता है देश की सुरक्षा और संरक्षत्व प्रदान करना लेकिन अहिंसावादी बौद्ध धर्म ने बहुसंख्यक क्षत्रियों को अपने कर्म से विमुख हो कर निवृत्तमार्गी होते जा रहे थे। इस परिस्थिती ने धन–जन की सुरक्षा को ही नहीं वरन् देश की संस्कृति, सभ्यता और धर्म को भी खतरे में डाल दिया।

पुष्यमित्र शुंग के समकालीन पतंजलि थे। पुष्यमित्र द्वारा किये गये अश्वमेघ की चर्चा महाभाष्य में है। महाभाष्य के आधार पर भण्डाकर कहते है कि किसी यवन ने साकेत या अयोध्या

---

1 प्रज्ञादुर्बल च बलदर्शनण्टापदेशदर्शिता शेष सैन्यः सेनानीरनार्मो मौर्या बृहद्रथ

और माध्यमिका को घेर लिया था। यवन आक्रमण पतंजलि के जीवन काल में ही हुआ था यदि उसे देखना चाहते तो जाकर देख सकते थे। पुष्य मित्र के काल में यूनानियों से युद्ध का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। मालविका अग्निमित्रम् में कवि ने पुष्यमित्र के पौत्र तथा सेनापति वसुमित्र और एक यूनानी सेना के बीच लडाई का वर्णन किया है। लेकिन महाभाष्य ओर मालविकाग्निमित्रम् दोनों में ही आक्रमणकारी का नाम नहीं दिया गया है। किन्तु इस बात पर सभी एकमत हैं कि आक्रमणकारी बैक्ट्रियन यूनानी था।

गार्गी संहिता के अनुसार अपनी पारस्परिक कलह के कारण यूनानी अधिक समय तक मध्य प्रदेश में नहीं टिक सकेंगे।[1]

पुष्यमित्र ने दो अश्वमेघ यज्ञ किये थे। इस तरह से उसे वैदिक यज्ञ का पुरूद्वार किया। अध्योध्या अभिलेख में लिखा हुआ है कि उसने दो अश्वमेघ यज्ञ किये।[1]

1- गार्गी संहिता–

मध्य देशे न स्थास्यन्ति यवना युद्ध दुर्मदा
तेषां अन्योन्यसंभावा भविष्यन्ति न सशयः
अन्योन्यसभावा भविष्यन्ति न संशयः
आत्मकथोत्थितं घोरं युद्धं पर दारूणम्।

पुष्य मित्र का विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों का संघ था। इन राज्यों में अनेक शासक राज्य करते थे। वायु पुराण[2] से स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र के 8 पुत्र एक ही समय में विभिन्न राज्यों में राज्य कर रहे थे। मालविकाग्नि मित्र[3] उसके एक पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का शासक घोषित करता है।

शुंगवंश में 10 राजा हुए— पुष्यमित्र, अग्निमित्र, वासुज्येष्ठ, वसुमित्र, आन्ध्रक, पुलिण्डक, घोष, वज्रमित्र, भाग और देवभूत इन सबने 112 वर्ष तक राज्य किया।

कनिष्क की विजय

भारत के इतिहास में कुषाण काल महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विदेशी आक्रमणों की सूची में यू—ची अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यू—ची जाति पश्चिमी चीन में गोबी प्रदेश में रहती थी। लगभग

1- अयोध्या अभिलेख—
द्विरश्वमेघयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य।

2- वायु पुराण— पुष्यमित्र सुताश्याष्टौ भविष्यन्ति समामृपज्ञः।

3- मालविकाग्निमित्र — सम्पजते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।

ई0 पू0 165 में कबीले गि–नू जिसे हूण कहते है यू–ची विवश कर दिया। आगे चलकर यू–ची जाति कई शाखाओं में विभक्त हो गयी।

चीनी इतिहासकार स्यू–मा–चि के अनुसार एक नेता कुजुल कडफिसस ने पांच विभिन्न कबायली समुदायों को अपने कुषाण सम्प्रदाय की अध्यक्षता में संगठित किया और वह भारत की ओर बढ़ा जहां उसने काबुल और कश्मीर में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। उसके बाद उसका पुत्र विमा कडफिसस गद्दी पर बैठा। उसने सिंधु नदी पार करके तक्षशिला और पंजाब पर अधिकार कर लिया। उसने अपने सोने और तांबे के सिक्कों पर महाराज, राजाधिराज, महीश्वर, सर्वलोकेश्वर आदि उपाधियां धारण की।

फाडफिसस सम्राटों की विजय से भारत, चीन और रोम साम्राज्य के बीच व्यापार आदि में पर्याप्त उन्नति और वृद्धी हुई। सिल्क, मसाले तथा हीरे, जवाहरात के मूल्य के रूप में रोक साम्राज्य का स्वर्ण भारत मे निरन्तर आने लगा। स्वर्ण की अधिकता से प्रेरित होकर काडफिसेस–द्वितीय ने सोने के सिक्के प्रचलित कराये।[1] उसने सोने और तांबे के मिश्रण से भी बनी मुद्रायें

1- विमा, एन0सी0 1934, 232 उपाधि इस प्रकार है–

चलायीं।[1] खरोष्ठी लिपि के शिलालेख में काडफिसेसें–द्वितीय को महाराज, राजाधिराज, सम्पूर्ण विश्व का स्वामी महेश्वर[2] आदि उपधियां दी गयी है।

भारत में पाये जाने वाले लेखों के आधार पर हमें कुषाण वंश की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। इसके अनुसार काडफिसेसें वंश के अतिरिक्त कनिष्क प्रथम[3] वासिष्क[4], हुविष्क[5], वशिष्क के पुत्र कनिष्क द्वितीय और वासुदेव[6] की जानकारी मिलती है।

---

354 एन–5 बेसीलियस बेशोलियन सोटर मगस टर्न ग्रीक

1- हवाइट, इंडो–ग्रीक कॉइन्स गाइड टू तक्षशिला 1918, 81 - SDLST, 1925-26 Pl. lxf स्मिथ EHI[4], P. 270

2- स्टेन कोनोव ने विमा Uvima कवथिशा काडफिसेस का नाम खलात्से अर्थात लद्दाख के सन् 187 के लेख में है –
कार्पस, II, 1, 81

3- जर्नल ऑफ द रॉयल जी0बी0, 1913, 980, 1924, पी. 400, एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन दयाराम साहनी, थ्री इसाक्रिपशन एंड देअर वियरइन्स ऑफ द कुषाण डाइनेस्टी, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली Vol II, 1927, P. 853 स्टेन कोनो फर्दर कनष्कि नोटस XIV, 210 इपिग्राफिया इंडिका 14, 210

4- प्रो0 ऑफ द सेवेन्थ सेशन ऑफ़ द इडियाः हैदराबाद कांग्रेस मद्रास, पेज 135

5- इपिग्राफिया इंडिका– 21, माथुर ब्राह्मी इंसक्रिपशन ऑफ द इयर, इपीग्राफिया इंडिका 22, 35, हिद्दा, इंसक्रिपशन 28

6- प्रोसीडिंग ऑफ द इंडियन कॉग्रेस, हैदराबाद

कनिष्क कुषाण वंश का महानतम सम्राट था। उसके कारण ही कुषाण वंश का भारत के सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। शक संवत 78ई0[1] में आरम्भ हुआ था। यही समय कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि है।

कनिष्क ने कपिशा[2], गन्धार तथा कश्मीर से लेकर बनारस तक के विस्तृत क्षेत्र पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। चीन तथा तिब्बत के लेखकों[3] ने पूर्वी भारत में साकेत तथा पाटिलपुत्र के नरेशों से किये युद्ध का वर्णन अपने लेखों मे किया है। सारनाथ[4] में भी एक लेख के द्वारा कनिष्क के विजय अभियान का वर्णन मिलता है। गाजीपुर और गोरखपुर में भी उसकी मुद्रायें बड़ी संख्या में मिली है।[5] कनिष्क ने भारत में अपना राज्य मगध तथा विस्तृत कर लिया था। वहां से वह प्रसिद्ध विद्वान अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरूषपुर ले गया और पुरूषपुर को अपना

1- इसका प्रयोग वर्तमान भारत सरकार द्वारा ग्रगोरियन कलैंडर के साथ किया जाता है।

2- द स्टोरी ऑफ द चाइनीज होस्टेज मेंशन्ड बाई एच, टलग

3- इपीग्राफिया इंडिका 14,P 192; IInd, Ant; 1903, F.382; Corpus, II i.PP. 22 and 125

4- श्री के0जी0 गोस्वामी ने ब्राह्मी लिपि में लिखा लेख इलाहाबाद म्यूजियम से प्राप्त किया। कलकत्ता रिव्यू, जुलाई 1934, पेज 83

5- महास्थान (बोगरा) से प्राप्त सोने की एक मुद्रा एंशिएंट ज्योग्रफी ऑफ इंडिया

निवास स्थान बनाया। उसके कश्मीर में कनिष्कपुर[1] नामक नगर की स्थापना की।

कनिष्क ने उज्जैन के छत्रप को हराकर मालवा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। कनिष्क का सबसे प्रसिद्ध युद्ध चीन के शासक के साथ हुआ था, जहां वह एक बार पराजित होकर दुबारा विजयी हुआ। कनिष्क ने मध्य एशिया में कारागर, यारकद, खेतान आदि प्रदेशों पर भी अपना अधिपत्य जमा लिया। इस तरह से मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई जिसमें गंगा, सिंधु, और ऑक्सस की घाटियां शामिल थी।

प्राचीन भारत के सभी साम्राज्यों में कुषाण साम्राज्य की बड़ी ही महत्वपूर्ण अर्न्तराष्ट्रीय स्थिति की। यह अनेक साम्राज्यों के बीच में स्थित था। पूर्व में चीन था इसके पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य था। रोमन साम्राज्य का उदय हो रहा था। रोम और पार्थिया में शत्रुता थी। रोम एक ऐसा मार्ग चाहते थे जहां से रोम और चीन के बीच व्यापार शत्रु देश पार्थिया से गुजरे बिना हो

1- कनिंघम इसे श्रीनगर के निकट मानते है, 114 स्टीन और स्मिथ के अनुसार यह आधुनिक कांसीपुर है, जो विवस्ता नदी तथा वराहमूल से कश्मीर जाने वाली सडक के बीच स्थित है। AGI[4], P. 275

सके। इसलिए वे कुषाण साम्राज्य से मैत्री रखना चाहते थे। सिल्क मार्ग की तीनों मुख्य शाखाओं पर कुषाण साम्राज्य का नियंत्रण था। कैस्पियन सागर से होकर जाने वाले मार्ग पर, मर्व से फ़रात यूफ्रिट्स नदी होते हुए रूम सागर पर बने बंदरगाह तक जाने वाले मार्ग पर और भारत से लाल सागर तक जाने वाले मार्ग पर। कुषाणों के समय में उत्तर-पश्चिम भारत महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बन गया था। गंगा घाटी के उत्खनन से ही नहीं बल्कि मध्य एशिया तक हुए विभिन्न उत्खननों से पता लगता है कि ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में शहरीकरण काफी विस्तृत हो गया था।

गुप्त सम्राटों का दिग्विजय अभियान

गुप्त साम्राज्य की स्थापना का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को है। लेकिन उनके नेतृत्व में साम्राज्य विस्तार का कार्य अधूरा रह गया था। समुद्र गुप्त ने अपने पिता के द्वारा समर्पित राज्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व निभाते हुए तेजस्वी सम्राट् का नव आदर्श प्रस्तुत किया। यदि एक ओर वह सर्व राजोच्छेता अर्थात् सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन कर्त्ता था तो दूसरी ओर शास्त्रतत्वार्थ भर्ती

अर्थात् ज्ञानं मर्मज्ञ भी था। समुद्र गुप्त एक कुशल योद्धा, प्रवीण सेनापति, सफल संगठन कर्त्ता, काव्य प्रेमी तथा कला और संस्कृति का प्रकाण्ड विद्वान् था।

प्रयाग प्रशक्ति में उल्लिखित है कि जिस प्रकार शिव की जूट रूपी अर्न्तगुहा के बन्धन से उन्मुक्त होने पर गंगा का पवित्र जल तीनों ही लोकों को पवित्र करता है, उसी तरह उस सम्राट का संचित विमल यश दान परायणता, बाहुबल एवं शास्त्रज्ञान के उत्कर्ष द्वारा अनेक मार्गी से शान्तिपूर्वक ऊपर उठता हुआ तीनों ही भवनों को पवित्र करता है।[1]

समुद्रगुप्त के जीवन की सबसे बड़ी घटना उसका दिग्विजय अभियान है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा भारत वर्ष के अधिकांश भागों पर विजय का वर्णन किया गया है। इस विजय अभियान में समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नव राजाओं तथा दक्षिणापथ

---

1. प्रयाग स्तम्भ–लेख, श्लोक 9
यस्य प्रदान – भुजविक्रम- प्रशम–शास्त्र –वाक्योदयै
रूपर्य्युरि–सञ्चयोच्छ्रितमनेक मार्ग यश. ।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा–निरोध–परिमोक्ष
शीघ्रमिव पाण्डुगाङ्गपय ।।

के बारह राजाअें को परास्त किया। मध्य भारत के समस्त जंगल के राजाओं को अपना सेवक बनाया और सीमा प्रदेश के शासन कर्त्ताओं तथा गणराज्यों को उसने कर देने के लिए बाध्य किया। उसके सफल विजय-यात्रा के प्रभाव से दूर देश के नरेशों ने उससे मैत्री स्थापित की। समुद्रगुप्त विजय-पताका फहराकर एकछत्र साम्राज्य का स्वामी बन गया।

हरिषेण प्रयाग प्रशस्ति का लेखक तथा समुद्रगुप्त का सेना नायक और सन्धि विग्रहिक मंत्री था। इसलिए हरिषेण समुद्रगुप्त के दिग्विजय अभियान से पूरी तरह से परिचत था। इसलिए सेनापति द्वारा दिग्विजय का वर्णन अंक्षरशः सत्य होगा। प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित राजाअें की नामावली दक्षिणायक के राजाओं से शुरू होती है लेकिन समुद्रगुप्त ने सर्वप्रथम दक्षिण के राजाओं पर विजय नहीं प्राप्त की। डब्यूरिल के मत से भ्रम होता है कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की विजय यात्रा का वर्णन कालक्रम के अनुसार किया।[1] कौमुदी महोत्सव के वर्णन के अनुसार जायसवाल कहते हैं कि चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या में शरण

1- एशेंट हिस्ट्री ऑफ डेकेन पृष्ठ 32

ली। वहीं से उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने पुनः अपने राज्य की स्थापना की।[1]

समुद्रगुप्त को अपने दिग्विजय अभियान में तीन युद्ध करने पड़े पहला युद्ध 344 ई0 के आस–पास उत्तरी भारत मेंएक सामान्य लडाई लड़नी पडी उसके पश्चात उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। यह युद्ध दूसरे ही वर्ष 345–46 में समाप्त हो गया जिसमें बारह शत्रुओं ने भाग लिया, जिन्हें समुद्र गुप्त ने पराजित किया। दक्षिण भारत को विजित कर समुद्रगुप्त को फिर से उत्तर भारत में एक बड़ी लडाई लडनी पडी। यह युद्ध के इएड के समीप लड़ा गया जिसमें मालवा से लेकर पूर्वी पंजाब तक के समस्त राजाओं ने भाग लिया तथा परास्त हुए। जायसवाल का मत है कि इसी युद्ध में समुद्रगुप्त ने वाकाटक सीमा से प्रवेश करके उनके शासक सहदेव प्रथम को मार डाला।

उत्तरी भारत का प्रथम युद्ध बहुत सामान्य था। समुद्रगुप्त का उत्तर में बलवान शत्रुओं के रहते हुए दक्षिण पर आक्रमण करना राजनीति के विरूद्ध जान पडता है। अतः यह

1- जायसवाल हिस्ट्री ऑफ इडिया 150–350 पृष्ठ 132–40

मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने पहले उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की इसके बाद दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया।

प्राचीन काल में विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की पुण्यभूमि का नाम आर्यावर्त था। समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को हराकर उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में शामिल कर लिया। इस तरह से वह गुप्त नरेश एकछत्र राज्य शामिल करने में सफल हुआ।[1] प्रयाग प्रशस्ति के आर्यावर्त्त के राजाओं का नाम इस प्रकार से है -- रूद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागरिस, अच्युत, नन्दि, बलवर्मा इन नव राजाओं को समुद्रगुप्त ने पराजित किया। प्रयाग प्रशस्ति में आदि अनेक आर्यावर्त्त राजा के नाम से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के द्वारा कुछ और भी राजा पराजित हुए थे जिनका नाम का हरिषेण ने वर्णन नहीं किया है। रैपसन के अनुसार ये नव राजा विष्णुपुराण में उल्लिखित नव नाग नरेश है। ये नागवंशी नरेश एक सम्मिलित

1- फ्लीट गुप्त, लेख नं0 1
अनेक आर्यावर्त्त राजप्रसभोद्धरणोद्रवृत प्रभाव महत्वः ।

शासन स्थापित किये जिसे समुद्र गुप्त ने नष्ट करके अपने साम्राज्य में मिला लिया।[1]

रैप्सन ने समुद्रगुप्त द्वारा पराजित आर्यावर्त के नव नरेशों की पहचान विष्णु पुराण तथा वायु पुराण में वर्णित नव नागों से की है। इन ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने पदमावती, कान्तिपुरी एवं मथुरा में शासन किया था।[2] प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त इस विजय के फलस्वरूप सबसे प्रभावशाली नरेश बन गया। – मनु के अनुसार आर्यावर्त की सीमाएं पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र ओर हिमालय से लेकर विन्ध्य श्रेणियों तक विस्तृत थीं।[3] मेधातिथि के अनुसार आर्यावर्त्त प्रदेश पश्चिम जलनिधि से पूर्व पयोधि तक एवं हिमालय से विन्ध्य तक फैला हुआ था।[4]

1- जर्नल ऑफ द रॉयल न्यूमिसएटिक सोसाइटी एंड दि न्यूमिएटिक क्रोरिकल 1897 पृष्ठ 421

2- पर्जिटर,डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ 53
नव नागास्तु मोक्ष्यन्ति पुरी चम्पावती मृगः ।
मथुरांय पुरी रम्यां नागाः मोहयन्ति सप्त वै।।

3- मनु, अध्याय 2, श्लोक 22
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तर गिर्योरार्यावर्त्त विदुर्बुधाः ।।

4- मेधातिथि रचित मनुभाष्य गङ्गानाथ झा द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 69
प्राच्यां पूर्व समुद्रः प्रतीच्यां पश्चिमः,
उदादक्षिण योर्हिमबद्विन्ध्यो। एतौ अवधित्वेनोपात्तौ।

आर्यावर्त के शासकों को जीतने के पश्चात समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत की ओर ध्यान दिया उसने दक्षिण भारत को विजित करने के लिए मध्य भारत के विस्तीर्ण जंगल से होकर रास्ता चुना समुद्रगुप्त ने जब दक्षिण भारत के राजाओं को पराजित करने की योजना बनायी उस समय आटविक भूपालों का जीतना उसके लिए बहुत आवश्यक था। इसलिए उसने जंगल के राजाओं को जीता और उन्हें अपना सेवक बना लिया।[1] फ्लीट के अनुसर ये राज्य उत्तर में गाजीपुर से लेकर जबलपुर तक फैले हुए थे।[2] सुधाकर चट्टोपाध्याय ने आरविक राज्यों के बारे में कहा है कि इनसे वन प्रदेश भी शामिल थे।[3]

आटविक नरेशों पर अपनी विजयो के पश्चात समुद्र गुप्त ने – 'व्याघ्र–निहन्ता' भाति की मुद्राओं को प्रचलित किया तथा व्याघ्र पराक्रम की उपाधि को धारण किया। पराजित आटविक शासकों ने इस गुप्त सम्राट का स्वामिभक्त माण्डलिक होना स्वीकार

1- प्रयाग प्रशक्ति–
परिचारकी कृत सर्वाट विकराजस्य
2- कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् जिल्द, पृष्ठ 114
3- सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इडिया, पृष्ठ 190

कर लिया। इन महत्वपूर्ण विजयों के उपलक्ष्य में उसने एरण मैं महाविजय प्रासाद का निर्माण कराया।

इस दृष्टि से एरण का महत्वपूर्ण स्थान हो गया था। इसको आधार बनाकर दक्षिणी सैन्य अभियान की तैयारी की गयी। समुद्रगुप्त के आटविक विजय के परिणाम स्वरूप उसके साम्राज्य में आधुनिक एरण और जबलपुर तथा उसके आस–पास के प्रदेश शामिल हो गये। गुप्त राज्य के दक्षिण सीमा का प्रतिनिधित्व नर्मदा नदी करने लगी।

दक्षिण भारत में जितनी अधिक संख्या में समुद्रगुप्त ने नरेशों को पराजित किया वह उसकी सैनिक सफलता का एक उल्लेखनीय कीर्तिमान था, जो कालान्तर के ऐतिहासिक कालों में किसी भी सम्राट् द्वारा समीकृत न हो सका। प्रयाग प्रशस्ति[1] के अनुसार उसने सम्पूर्ण दक्षिणापथ के नरेशों को नतमस्तक किया

1- प्रयाग प्रशस्ति –
सर्व दक्षिणा पथ – राजग्रहण ....।

था। यह दक्षिणापथ अभियान ई0 स0 – 345–56 के लगभग हुआ होगा।[1]

समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के जिन नरेशो को पराजित किया वे इस प्रकार है– कोशल का महेन्द्र–महाकान्तर का व्याघ्रराज, कोरल का मण्डराज, पिष्ठपुर का महेन्द्र गिरी, कोटटूर का स्वामिदत्त, एरण्ड पल्ल का दमन, काञ्ची का विष्णुगोप, अवमुक्त का नीलराज, वेङ्गी का हस्तिवर्मा, पालक का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर, तथा कुस्थलपुर का धनञ्जय। इन राजाओं से समुद्रगुप्त की मुठभेड दक्षिणापथ के अभियान में हुयी थी। लेकिन ऐसा भी संभव है कि भिन्न–भिन्न स्थानों में इन राजाओं से समुद्रगुप्त का युद्ध हुआ हो लेकिन जायसवाल का मत है कि दक्षिण के राजाओं ने मिलकर कोलेरू के तालाब के किनारे समुद्रगुप्त को आगे बढ़ने से रोका तथा तुमुल युद्ध किया। इस युद्ध का नेतृत्व केरल के मण्डराज तथा कांची के विष्णुगोप ने किया इनके सेनापतित्व में सबने लड़ाई में भाग लिया। इनमें कोसल तथा महाकान्तार के राजा के अतिरिक्त अन्य राजा सेनानायक तथा जिले के पदाधिकारी थे।

1- जायसवाल – हिस्ट्री ऑफ इंडिया 150–350 पृष्ठ 138–39 ।

समुद्रगुप्त सफलतापूर्वक विजय यात्रा करता हुआ दक्षिण में कांची तक पहुँच गया। उसकी यह सफलता रघुवंश महाकाव्य में वर्णित रघु के दक्षिण अभियान के सदृश है। इसके अनुसार दक्षिण दिशा में पहुँचने पर महातेजस्वी सूर्य का तेज भी मन्द पड जाता है, परन्तु रघु का प्रताप इतना प्रबल था कि वहां के पाण्ड्य राजा भी इसके आगे नहीं ठहर सके। दक्षिण के उन पांड्य नरेशों ने ताम्रपर्णी और समुद्र के संगम से जितने मोती एकत्र किये थे वे सब उन्होंने रघु को वैसे ही सौंप दिये मानो अपना संचित यश ही उन्हें दे डाला हो।[1] समुद्र गुप्त ने विजित राज्यों पर नियंत्रण रखने के स्थान पर उन्हें कृपापूर्वक छोड़ दिया। क्योंकि सुदूर राजधानी पाटलिपुत्र से कान्ची तक प्रसरित दक्षिणी राज्यों पर कठोर नियन्त्रण करने में बहुत तरह की बाधायें आ सकती थी। समुद्र गुप्त ने विजित प्रदेशों को उनके शासको को लौटा दिया। उसकी इस नीति को प्रयाग प्रशस्ति की बीसवीं पंक्ति मे मोक्षानुग्रह कहा गया है। हेमचन्द्र रायचौधरी के अनुसार समुद्र गुप्त धर्म विजयी के रूप मे दिखायी

---

1 रघुवंश, सर्ग 4 श्लोक 49–50

"दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां खेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विदोहिरे।।
ताम्रपर्णी समेतस्य मुक्तासारं महोदयेः ।
ते निपथ्य ददुस्तस्मै यशः स्वामिव सचिंतम्।।"

देता है। जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत में धर्मविजय का वर्णन मिलता है। रूद्रदामन के जूनागढ अभिलेख में भी पराजित नरेशों को धर्म के द्वारा छोडनें का उल्लेख मिलता है। इसी नीति का अनुसरण हर्ष ने सिन्ध विजय के समय किया था। समुद्रगुप्त की दक्षिण नीति का वर्णन राय चौधरी ने रघुवंश के द्वारा धर्मविजय का उदाहरण दिया है।[1] समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ अभियान का उद्देश्य आर्थिक भी था क्योंकि पूर्वी घार पर स्थित राज्यों के कुछ नरेशों का कोष अत्यन्त सम्पन्न था। दक्षिण पूर्व एशिया के साथ व्यापारिक सम्पर्क के फलस्वरूप वे समृद्ध थे। कुबेर और ध्नंजय नामक ये राजा अपनी सम्पन्नता का परिचय देते हैं। उनके राजकोष को लूट कर समुद्रगुप्त अपने कोष को समृद्ध करना चाहता था। समुद्र तटवर्ती वाले इन राजाओं को लक्ष्य में रखकर कालिदास ने कहा कि महोदधि ने अपने मोतियों एवं रत्नों को दक्षिण के पाण्डय् नरेशों को सौंप दिया।

---

[1] रघुवंश, सर्ग 4 श्लोक 42–43

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
नारिकेलासंव योधा शात्रवं च पयपुर्यशः ।।
ग्रहीत प्रति मुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनायस्य जहार न तु मेदिम् ।।

सीमान्त राज्यों के विजय क्रम में समुद्र गुप्त ने दो प्रकार के शासकों को पराजित किया जिनके नाम का उल्लेख हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति में किया है। इन पराजित नरेशों में पांच भिन्न शासक थे जो नृपति शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। समुद्र गुप्त की नीति इन राजाओ के लिए अलग थी। उसने अपने प्रबल प्रताप से उन पराजित नरेशों को सब प्रकार का कर देने, आज्ञा मानने तथा प्रणाम करने के लिए बाध्य किया।[1] समुद्रगुप्त से पराजित सभी सीमान्त राजाओं के नाम नहीं मिलते लेकिन उन राजाओं की नामावली प्रयाग की प्रशस्ति में मिलती है।

पूर्व और उत्तर के राजाओं को परास्त कर समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। ये गणराज्य बहुत समय पहले से भारत के पश्चिमीय प्रदेशों में शासन कर रहे थे। यूनानी लेखकों ने उनकी युद्ध कला एवं व्यूह रचना की अत्यन्त प्रशंसा की है। हिन्द, यवन, शक और कुषाणें के आक्रमण के कारण अपने मूल अधिकार क्षेत्रों का परित्याग करते हुए ये गण मलवा,

---

[1] प्रयाग प्रशस्ति
सर्वकरदान आज्ञा करण प्रणामा गमन परितोषित
प्रचण्ड शासनस्य

राजस्थान पूर्वी पंजाब तथा मध्य प्रदेश के विभिन्न भागो में बस गये। इन सब संघो का समुद्रगुप्त ने समूल नाश कर दिया और भात में संघ शासन का अन्त कर दिय। समुद्रगुप्त की नीति सभी संध राज्यों के लिए एक थी उसने संघ राज्यो से कर वसूल किया और सभी को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया लेकिन सभी राजा सीमा पर शासन करते रहे प्रयाग प्रशक्ति में उन नव संधों का नाम इस प्रकार है – मालवा, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काल तथा खर्परिक।

कुछ विदेशी शक्तियों के बारे में प्रयाग प्रशस्ति की तेइसवीं पंक्ति से पता लगता है। दैवपुत्र–शाहि–शाहानुशाहि,शक मुरूण्ड, सिंहल द्वीप तथा सर्वद्वीप वासी।[1]

उनहोंने समुद्रगुप्त को आत्मसर्मपण करना, कन्याओं का उपहार चढ़ाना, तथा गरूड़ मुद्रा से अंकित उसके आदेश को अपने–अपने शासन क्षेत्रों में प्रचलित करना स्वीकार कर लिया था।

---

1 अलन – गुप्त क्वायन पृष्ठ 79, डा0 अल्तेकर – गुप्त गोल्ड क्वायन्स इन वयानने होर्ड भूमिका पृष्ठ 20।

दिग्विजय अभियान सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसने पहले के नरेशों में पुष्यमित्र शुंग, वाकाटक नरेश प्रवरसेन प्रथम तथा भारशिव नागों ने अश्वमेघ यज्ञ का संपादन किया। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को गोशतसहस्रप्रदायिनः अर्थात् एक लाख गौओं का दान देने वाला कहा गया है। इतनी अधिक संख्या में गाएं अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर दान दी जाती है। अयोध्या लेख के अनुसार समुद्र गुप्त ने दो अश्वमेघ यज्ञों का आदर्श उपस्थित किया था।

इन विजयों के उपरान्त समुद्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया। इसमें पूर्वी मालवा, आधुनिक दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ भाग शामिल थे ।

समुद्रगुप्त ने बहुत सी उपाधि धारण की इन उपाधियों से गुप्त कालीन आदेशों तथा धार्मिक [illegible] होता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय असाधारण प्रतिभा, अदम्य उत्साह और विलक्षण पौरुष से युक्त था। उसका राज्य-काल गुप्त वंशीय

इतिहास कें स्वर्णिम काल का प्रतिनिधित्व करता हैं तथा उपनी राजनैतिक और संस्कृतिक उपलब्धियों के कारण पुराविदों द्वारा सम्यक सम्बन्धित है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पश्चिम तथ उत्तर के प्रदेशों की विजय उसके शासन काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी राजाओं को परास्त कर पंजाब तक अपने साम्राज्य की सीमा को विस्तृत कर दिया। शक जातियां पश्चिमी भात में राज्य करती थी तथा समुद्रगुप्त के समय में भी अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखी। इन्हीं जातियों को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पराक्रम से पराजित किया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक जातियों को परास्त कर इन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शक विजय के प्रमाण उसके शिलालेखों, सिक्कों तथा प्रचलित दन्त कथाओं से मिलते है। मालवा के उदयगिरी पर्वत के गुफाओं में एक लेख मिला है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध सचिव वीरसेन ने वक्तव्य दिया है कि जब सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय शक विजय करने समस्त पृथ्वी

जीतने के लिए आया उस समय वह भी उनके साथ उस देश में आया था।[1] इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत को जीतने के पहले मालवा में अपना शिविर बनाया होगा। देवी चन्द्र गुप्तम्[2] नामक नाटक तथा महाकवि बाण के हर्षचरित[3] में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराजय का वर्णन मिलता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत को विजित कर शकों को पराजित किया। इसके साथ ही विक्रमादित्य उपाधि से यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को अवश्य परास्त किया होगा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी दिग्विजय यात्रा के दौरान गुजरात तथा काठियावाड़ पर अधिकार जमा लिया तथा अपने मंत्री वीरसेन के साथ विजय यात्रा समाप्त कर लौट गया। मेहरौली लौह स्तम्भ पर एक लेख मिलता है[4] जिसमें चन्द्र नामक राजा के विजय

---

1. उदयगिरि का गुहालेख का0 इ0 नं0 6–
   कत्स्न पृथ्वी, जयार्थेन राजैवेह सहागत :।
2. रामचन्द्र गुण चन्द्र कृत, नाट्य दर्पण मे उद्घृत देवीचन्द्र गुप्तम् का अंश–
   "चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कान्धवारं अलिपुरं शकपन्ति वधाय गमत।"
3. हर्षचरित – उच्छ्वास 4
   अरिपुरे × × × × चन्द्रगुप्तः शकपति शातयत् ।
4. कार्पस इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्, 3, पृष्ठ 139

अभियान का वर्णन मिलता है। इस चन्द्र नामक सम्राट के विजय में पुरातत्व वेत्ताओं में बड़ी भ्रान्तियां है।[1] लेकिन अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि यह चन्द्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही है जिसने पश्चिम से लेकर पंजाब के वाहीक प्रदेश तक अपनी विजय पताका फहराई।

चन्द्रगुप्त द्वारा वैवाहिक संबंध उनकी वाह्य नीति में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।[2] इन वैवाहिक संबंध से चन्द्रगुप्त की शक्ति और प्रभाव में महत्वपूर्ण योगदान मिला। लिच्छिवियों के साथ उनके विवाह संबंध ने उत्तर–पूर्व भारत में उनकी स्थिति को सुदृढ़ किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय नीति निपुण और सूक्ष्मदर्शी शासक था। उसके द्वारा किये गये वैवाहिक संबंध का राजनैतिक महत्व था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने महत्वपूर्ण सैनिक अभियान का उत्कृष्ट उदाहरण विलक्षण शौर्य एवं उत्साह के साथ करते हुए दिग्विजय का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। उदयगिरि[3]

---

1. परिशिष्ट लेख नं0 2
2. राय चौधरी, पी0हि0ऐं. इं0, पृष्ठ 554
3. उदयगिरि गुहा लेख – '
   – 'कृत्स्नपृथ्वी जय'

केगुहालेख में इसे सम्पूर्ण संसार का विजेता कहा गया है। कृत्स्नपृथ्वीजय से तात्पर्य अखण्ड भारतवर्ष का एकराष्ट्र सम्राट बनने से है।

शकों पर विजय प्राप्त करने के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्रामाज्य गुजरात, काठियावाड़ और पश्चिमी मालवा के ऊपर स्थापित हो गया। उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में अरब सागर से लेकर पूर्व में बंगाल तक प्रसारित हो गया। शंकों पर विजय के इस राजनैतिक लाभ के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी बहुत लाभ हुआ। शक विजय के कारण गुप्त साम्राज्य को भृगुकच्छ का बंदरगाह मिल गया जिसे आधुनिक मड.ोच कहते हैं। पश्चिमी समुद्र तट का यह सबसे बड़ा बंदरगाह था। यहां से बाहर पेरीप्लस के अनुसार बाहरी देशों से इस नगर में मदिरा, कस्तीर, सीसक, सूक्ष्म वस्त्र, कटिसूत्र, सुवर्ण और रजत मुद्रायें, बहुमूल्य बर्तन, संगीत निपुर्ण बालक, सुन्दर युवतियां तथा अमुलेप, तांबा, रांगा, मूंगा, पोखराज, सखिया, सुरमा तथा अच्छे रोगन आते थे।[1] बाहरी देशों में

1- पेरीप्लस, पृष्ठ 42

भेजने के लिए यहां तत्कालीन भारतीय नगरों से माल माता था। जैसे कि उज्जयिनी से यहां मलमत तथा मलय वस्त्र आता था।[1]

इस बंदगाह के गुप्त साम्राज्य में मिल जाने के बाद गुप्त साम्राज्य का आर्थिक लाभ विशेष महत्व रखता है। पाश्चात्य विश्व के साथ भारतीय व्यापार के बढ़ जाने के कारण पश्चिमी सभ्यता और हमारे देश की संस्कृति का निकट सम्पर्क स्थापित हुआ।[2]

भृगुकच्छ का बंदरगाह एक सुप्रसिद्ध तीर्थ भी था। भारतीय परम्परा के अनुसार भृगु ने यहां तप किया था। इस कारण लोग इसे पुण्य तीर्थ मानते हैं।[3]

फाहियान के अनुसार पाटिलपुत्र के राज प्रासाद को देखने से ऐसा लगता है कि मानो साक्षात् देवाताओं ने ही इसका निर्माण किया हो। मुद्रा–राक्षस में इस नगर के प्रकार तथा नगरों

1- सार्थवाह, पृष्ठ 117
2- वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ 154
3- कर्म पुराण, 3, अध्याय 41
'ततो गच्छेत् राजेन्द्र भृगुतीर्थ मनुत्तमम् ।
यत्र देवो भृगुः पूर्व देवमाराधयत्पुरा।।'

द्वारों का उल्लेख हुआ है। पंडित कोविद के निवास करने के कारण और उनकी विद्वता के कीर्ति के द्वारा यह नगर सम्पूर्ण जगत की शोभा के तुल्य प्रतीत होती है।[1] मच्छकटिक[2] के अनुसार इस नगर में विविध बिहार, आराम–देवालय–सरोवर, कूप तथा यज्ञयूप दिखाई देते थे। जिनके कारण इनकी शोभा अतुलनीय थी। कथा सरित्यागर[3] के अनुसार उज्जयिनी का नगर पृथ्वी का भूषण था। वह अमृत के फेन के सामान प्रासादों के विलक्षण सौन्दर्य द्वारा अमरावती को भी लज्जित करता था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विभिन्न प्रकार की उपाधियों को धारण करता था जेसे महाराजाधिराज, महाराज, राजधिराज परमभट्टारक, परम दैवत तथा परमभागवत। वह साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी था। चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन की मुक्त कंठ से प्रंशसा की है।

1- पूर्व मेघदूत, 31

2- मच्छ कटिक, अंक 9

'विहारारामदेवालयतडागक्पयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी'

3- कथासरित सागर i, 31

'अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणम् भुवः ।
हसन्तीव सुधापौतैः प्रासादैरमरावतीम् ।।'

डा0 अल्तेकर के अनुसार अन्य हिन्दु सम्राट ने इतने विशाल मापदण्ड पर स्वर्ण मुद्राएं नहीं प्रचलित की।[1] उसकी मुद्राओं में धनुर्धर मुद्राएं, सिंह नियन्ता मुद्रा, अश्वारूढ़ मुद्रा, छत्र मुद्रा पर्यक मुद्रा, पर्यकस्थित राजा रानी मुद्रा, ध्वजाधारी मुद्रा, चक्रविक्रम मुद्रा, चलवाए इसके अतिरिक्त रजत मुद्राएं, ताम्र मुद्राएं भी प्रचलन में थी।

विक्रमादित्य के दरबार में नव विद्वान रहते थे – इनमें धन्वन्तरि, क्षपणक, अमर सिंह, शंकु बेतालभट, घटकर्षर, कालिदास, वाराहमिहिर तथा वररूचि थे।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का काल शांति और ऐश्वर्य का युग था । इस समय कला और शांति का भी विकास हुआ था। उसका शासन काल गुप्त युग के सबसे महत्वपूर्ण काल का प्रतिनिधित्व करता है।

1- डा0 अल्तेकर गुप्त कालीन मुद्राएं अ0 सदा0, पृष्ठ 61

2- काव्य भीमांसा, अध्याय 10

"धन्वन्तरिक्षणणकामरसिंह शंकु–वेतालभटघरकर्पर–कालिदासाः।
ख्यातो वराहभिहिटो मृपतेः सभायं रत्नानिनववररूचि–र्विकृमस्य।"

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने महत्वपूर्ण दिग्विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किय। बनारस क दक्षिण पूर्व कोने में स्थित नगवा नामक ग्राम से घोडे की एक प्रस्तर मूर्ति मिली है जिस पर चन्द्रगुप्त लेख उत्कीर्ण है। श्री जे0 रत्नाकर के अनुसार यह अश्वमेघ की अश्व प्रतिमा ही हो सकती है।[1] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा शको एवं कुषाणों का उन्मूलन एक विलक्षण एवं अद्वितीय सफलता थी। इसी से चन्द्रगुप्त द्वितीय अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया था।

प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात सिंहासनारूढ हुआ। कुमार गुप्त प्रथम का जन्म चन्द्रग्रप्त द्वितीय की द्वितीय भार्या ध्रुवदेवी से हुआ था।[2] कुमार गुप्त प्रथम के बारे में हमे विभिनन स्रोतों के जानकारी प्राप्त होती है जैसे मिलसद का स्तम्भ लेख[3] गढ़वा का लेख[4] मन्दसौर प्रशस्ति[5]

---

1 इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली 3,719

2 मिलसद का लेख, गुहा लेख नम्बर 10

महाराजाधिराज श्री चन्द्र गुप्तस्य महादेव्या ध्रुवदेव्याभुत्य न्नस्य महाराजाधिराज कुमार गुप्तस्य।

3 फलीट – कार्पस इन्स्कृपशनम् इण्डिकेरम्, भाग 3, न0 10 ।

4 फलीट – कार्पस इन्स्कृपशनम् इण्डिकेरम्, भाग 3, न0 8–9

5 फलीट – कार्पस इन्स्कृपशनम् इण्डिकेरम्, भाग 3, न0 18

करमदण्डा का लेख[1] दामोदर पुर के ताम्रपत्र[2] वैग्राम ताम्रपत्र[3] मानकुवर का लेख[4] साची का लेख[5] तथा कुमार गुप्त के समय के जैन लेखों से जानकारी प्राप्त होती है।

कुमार गुप्त का शासन काल शान्तिपूर्ण ढंग से व्यतीत हो रहा था लेकिन शासन काल के अन्तिम समय में पुष्यमित्रों का गुप्त साम्राज्य के ऊपर आक्रमण हुआ। ऐसे भयंकर एवं शक्तिशाली आक्रमणकारियों को स्कन्दगुप्त ने पराजित किया। ऐसे समय में स्कन्द गुप्त ने अपनी वीरता, योग्यता एवं गुणों को परिचय दिया। स्कन्द गुप्त के भितरी स्तम्भ लेख[6] में इसका वर्णन किया गया है स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख के इस विषय का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।[7]

---

1 फ्लीट – कार्पस इन्स्कृपशनम् इण्डिकेरम्, भाग 10, न0 71
2 राधा गाविन्द बसाक – एपिग्रफिया इण्डिया, भाग 15, पृष्ठ 129
3 राधा गाविन्द बसाक – एपिग्रफिया इण्डिया, भाग 17, पृष्ठ 147
4 कनिंग गंहम – आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट 10 पृष्ठ 7 ।
5 जेम्स प्रिंसेप – जर्नल, बंगाल एशियाटिक सोसायटी, 6 (1837) पृष्ट 451 ।
भितरी का लेख, चतुर्थ श्लोक

"विचलित कुललक्ष्मी स्तम्भनायाद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदित लिकोशा -- पुष्यमित्रांश्य जित्वा
क्षितिपचरण पीठे स्थपितो वामपाय : ।।

7 क्लीट कार्पस इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्, 3, पृष्ठ 52 ।

कुमार गुप्त प्रथम का कोई ऐसा शिलालेख उपलब्ध नही है जिसमें उसके युद्ध अथवा राज्य विस्तार का वर्णन किया गया हों। इसने समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय की भांति कोई युद्ध नहीं किया था। और नही किसी देश को जीतने के लिये कोई दिग्विजय अभियान चलाया। लेकिन इसके प्रमाण के रूप में जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे लगता है कि अपने पिता से प्राप्त राज्य का सुचारू रूप से प्रबन्ध करने के साथ ही साथ उसे सुरक्षित भी रखा। इसका राज्य पश्चिम में गुजरात से पूर्व में बंगाल तक था। इस बात का प्रमाण उसके अभिलेख और सिक्के हैं। उसकी पश्चिमी प्रकार की रजत मुद्राएं -- [illegible], गुंजरात, वलभी, मोखी, जूनागढ़, अहमदाबाद तथा कैरा नामक स्थानों से प्राप्त हुयी है। पूर्व में उसका साम्राज्य की सीमा बंगाल तक प्रसरित थी। और उसका शासक चिरात् दत्त था।[1]

वहां व्यर्थ स्थानो से जैसे – धानाईदह, बैग्राम, दामोदर पुर, एवं कलाईकुटी से उसके लेख प्राप्त हुए है। उसके राज्य में उड़ीसा भी सम्मिलित था। गुजरात और बंगाल के बीच कई स्थान

---

1 दामोदर पुर का ताम्र लेख, गुप्त संवत्, 129

से उसके समय के अभिलेख एवं सिक्के मिल हैं। मन्दसौर के लेख के अनुसार पश्चिमी मालवा तथा तुमैन के लेख के अनुसार पूर्वी मालवा उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। मन्दसौर के लेख[1] में कुमारगुप्त की साम्राज्य की सीमा वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके राज्य के चतुर्दिक् समुद्र कमरबन्द हैं तथा कैलाश एवं सुमेरू पर्वत उसके ऊँचे स्तन हैं।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान एकाधिपत्य तथा प्रभुता का सूचक है। इसलिए जिस राजा ने अपने को एकराष्ट्र तथा प्रतापी समझा उसने यज्ञ को सम्पन्न किया। कुमार गुप्त से पूर्व उसके पितामह सम्राट समुद्रगुप्त ने इस यज्ञ को किया था। गुप्तों के सिक्कों में एक स्वर्ण सिक्का[2] मिला है। जिस पर एक घोड़े की मूर्ति है तथा दूसरी ओर चामर लिए एक स्त्री खड़ी है। इसके सिक्के सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेघ यज्ञ वाले सिक्के से भिन्न तथा बयाना ढेर के सिक्कों के समान है। ब्रिटिश संग्रहालय में इस तरह की दो मुद्राएं मिली हैं। 1946 ई0 में बयाना निधि में इस प्रकार के चार सिक्के प्राप्त हुए। 1948 ई0 में लखनऊ

---

1 सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्स, पृष्ठ 293

2 जॉन एलन – गुप्त क्वायन्स, प्लेट, 7

संग्रहालय को इस प्रकार का एक सिक्का खरीदा। इस प्रकार की मुद्रओं के मुख भाग के ऊपर यज्ञ सुसज्जित घोड़ा सूर्य के समान अंकित प्रदर्शित किया गया है। इसी ओर सम्राट का नाम भी उत्कीर्ण है। इससे स्पष्ठ होता है कि उसके काल में कम से कम एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान अवश्य हुआ था। कुमारगुप्त प्रथम का अश्वमेघ यज्ञ किसी तरह का दिग्विंजय का सूचक नहीं बल्कि पितृ परम्परा प्राप्त साम्राज्य के गौरव के लिए था।

कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों तथा लेखों पर 'परम भागवत' की उपाधि उत्कीर्ण मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम भी वैष्णव धर्म का अनुयायी था तथा वैष्णव धर्मावलम्बी होत हुए भी उसने दूसरे धर्मों के प्रति अपनी धार्मिक सहिष्णुता का पूर्ण परिचय दिया। इसके शासन काल में बौद्ध मित्र ने भगवान् बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना की थी।[1]

कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य की पूर्णतः रक्षा करके इसने अपनी अलौकिक राज्य की

---

1 मनकंवसर का लेख – कार्पस इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्, 3 पृष्ठ 45।

संचालन शक्ति का परिचय दिया था। इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा कुमारगुप्त की योग्यता का परिचायक है।

हर्ष की दिग्विजय यात्रा

इतिहास में थानेश्वर के आस---पास का क्षेत्र बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। बाण के कथनानुसार श्री-कँठ नाम का जनपद, जिसका थानेश्वर एक अंतर्भुक्ति प्रदेश था, बहुत शक्तिशाली था। इसी क्षेत्र में कौरवों और पांडवों के मध्य युद्ध हुआ था। यह एक पवित्र धर्मक्षेत्र माना जाता था।

यहां गुण तथा धर्मिक आचरण का बडा सम्मान किय जाता था।[1]

थानेश्वर में पुष्यभूति नामक एक राजा हुआ। वह शिव का अनन्य उपासक था।[1]

---

1 हर्षचरि तृतीय उच्छवाश्य पृष्ठ 147 और आगे।

हर्ष संवत् 22 के वंसखेरा के ताम्रलेख[2] संवत् 25 के मधुबन वाले फलक[3] सोनपत की ताम्र मुहर[4] से तथा नालंदा में प्राप्त मुहर[5] से महाराज हर्ष के पूर्ववर्ती राजाओं और उनकी रानियों के नाम ज्ञात होते है।

हर्ष वर्द्धन सम्राट का अन्तिम महान शासक का उसके पूर्ववर्ती शासकों में सर्वप्रथम पुष्यभूति हुआ उसके बाद नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन आदित्य वर्द्धन, प्रभाकर वर्द्धन, इनके दो पुत्र हुये राज्यवर्द्धन और हर्ष।

पुष्यभूति के वंश की स्थापना छठी शताब्दी के आरंभ में हुयी थी।

---

1 हर्षचरित पृष्ठ 151
' अय देवताशून्यममन्यतत्रैलोक्यम्

2 एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द 4, पृष्ठ 208
3 एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द 1, पृष्ठ 67
4 गुप्त इंसक्रिप्शंस, नं0 52
5 जर्नल बिटार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, 1919 पृष्ठ 302 तथा 1920 पृष्ठ 151 – 152

प्रभाकर वर्द्धन थानेश्वर वंश का प्रथम राजा था .जिसने अपनी उन्नति के द्वारा ख्याति प्राप्त की थीं। उसने परममहारथ एवं महाराजाधिराज को उपाधियां धारण की थी। इन उपाधियों से उसकी महानता तथा स्वतंत्रता प्रकट होती है। अपने पडोसी राजाओं के साथ उसने अनेक युद्ध किए उनका वर्णन बाण ने हर्ष चरित में किया था।[1] प्रभाकर वर्द्धन ने उत्तरी पश्चिमी पजाब के हूणों, राजपूताना के गुर्जरों, गुजरात प्रदेश के लाटों तथा सिंधु, गंधार एवं मालवों के साथ युद्ध किये थे। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि प्रभाकर वर्द्धन एक शक्तिशाली योद्धा था। अपने प्रतापशील से वह दूर–दूर तक विख्यात था।[2]

प्रभाकर वर्द्धन के निधन के पश्चात राज्य वर्द्धन शासक बने थे। तभी वर्द्धन वंश पर भीषण आपत्ति आ गयी। मालवा के शासक देव गुप्त ने बंगाल के शासक शशांक के

---

1 हर्षचरित प्रथम उच्छवास, पृष्ठ 174
हूणहरिण केसरी सिंधुराजज्वरो, गुजर प्रजागर;
गांणराजियंगंधद्वीप कूरहस्ति ज्वरो,
लाऽवारवपरअच्चरी, गालवलता लक्ष्मापरशु :

2 प्रतापशील इति प्रथितापरनामा – हर्षचरित पृष्ठ 174

साथ मिलकर कन्नौज के मौरवरी शासक गृह वर्मन की हत्या कर दी और उनकी पत्नी राज्य श्री को बन्दी बना लिया। राजश्री थानेश्वर के शासक राज्य वर्द्धन और हर्षवर्द्धन की बहन थी। राज्य श्री की इस दुर्गति को सुनकर राज्य वर्द्धन ससैन्य देव गुप्त ओर शशांक से बदला लेने चल पड़े।[1]

अत्याधिक क्रोधित राज्य वर्द्धन ने कहा कि 'आज मैं मालवा राजवंश का नाश करने के लिये जाता हूँ इस उदण्ड शत्रु का दमन करना ही मेरे शोक हरण का उपाय होगा। मालवा–राज के हाथों से मैारवारियों का निरादर वैसे ही है जैसे कि अंधकार से सूर्य का तिरस्कार करना अथवा हरिणो से सिंह का अपाल खींचना।

राज्यवर्द्धन ने देवगुप्त को पराजित किया लेकिन शंशाक ने उन्हें अपने युद्ध शिविर में मित्रता का प्रदर्शन करते हुये आमंत्रित किया तथा गुप्त रूप से उनकी हत्या कर दी/राज्य

---

1 हर्षचरित पृष्ठ 25।
यस्मिन्नहनि अवनिपरिरूपरत इति अभूत वार्त्ता
तस्मिन्नेव देवीः ग्रहवार्मा दुरात्मना
मालवा रजेन जीवलोकमत्मनः सकृतेन सह
त्याजिता भतृदारिकापि राज्य श्रीः कलायसमिन
गड़चुग्तिचरणा चौरांगण्ेव संयत कान्य कुब्जे
करायां निक्षिप्ता। किंबदति च............एतामपि
भुवमाजिगमिबतीति।

वर्धन की गुप्त हत्या का समाचार कुंतल नामक एक अश्वारोही अफसर ने दिया।[1]

बासखेरा का ताम्र-लेख[2] भी इस धारणा का उल्लेख करता है। चीनी यात्री भी बाण तथा इस घटना का समर्थन करता है। वह लिखता है कि राज्य वर्द्धन राज्य पर बैठने के तुरंत बाद पूर्व भारत में स्थित कर्ण सुवर्ण के बौद्ध चर्महता दुष्ट राजा शशाक के द्वारा धोखा देकर मारा गया।

राज्यवर्द्धन की गुप्त हत्या का समाचार पाकर हर्ष वर्द्धन ने शशांक से बदला लने की प्रतिज्ञा करते हुए थानेश्वर राज्य की बागडोर संभाली। हर्ष को अपनी स्वाभाविक धार्मिक मनोवृत्ति तथा बहिन के प्रति नैसर्गिक स्नेह के कारण यह उचित नही लगा कि वे अपने को कन्नौज का राजा घोषित करें।

---

1 हर्षचरित पृष्ठ 245
    तस्माच्च हेलानिजिंत मालवानीकमपित गौड़धिपेण
    मिथ्योपरोज चित विश्वासं मुक्तशस्त्रं एककिन
    विस्रब्धं स्वभवने व्यापादितम श्रौबीतू

2 बसखेरा का ताम्र लेख, पक्ति 6
    राजानो युधि दुष्टविजिन इव श्री देव गुप्तादयाः।
    कृप्यायेन कश प्रहार विमुखास्सर्वे समं संयताः ।।
    उत्खाय द्विवतो विजित्य वसुधान् कृत्वा जनानं प्रियं ।
    प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः ।।

उन्होंने राज–पुत्र की उपाधि ग्रहण की और अपना उपनाम शीलादित्य रखा।

किलहार्न की गणना के अनुसार हर्ष संवत् हर्ष के सिंहासनारोहण के समय अक्टूबर 606 ई0 में प्रारंभ हुआ था। हर्ष के शासन काल के प्रथम 6 वर्ष निरंतर युद्ध में व्यतीत हुए। इसलिए चीनी इतिहासकार रिंहासनारोहण का समय 612 ई0 बताते हैं।[1] चीनी यात्री जब हर्ष के दरबार में था, तो हर्ष को शासन करते हुए 30 वर्ष से अधिक व्यतीत हो गये थे।[2]

राज्य श्री कैद से निकलकर विन्ध्य के पर्वतों में भाग गयी थी उन्हें अपनी बहन के उद्धार के लिये जाना पडा और एक बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र की सहायता से विन्ध्य के जंगलों में राज्य री को तब ढूढ़ा, जब वह सती होने जा रही थी। राज्य की रक्षा करके हर्ष कन्नौज लौटे। राज्य श्री अपने पति के राज्य की उत्तराधिकारिणी थी। राज्य श्री ने अपने भाई हर्ष की सहायता से शासन प्रारंभ किया। हर्ष की राजधानी थानेश्वर से कन्नौज आ

---

1 इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द 26, पृष्ठ 32

2 वाटर्स, जिल्द 1 पृष्ठ 347 तथा जीवनी पृष्ठ 183

गयी। हर्ष ने केवल शशांक से बदला ही नहीं लिया बल्कि अपनी शक्ति का प्रसार उत्तरी भारत के अन्य राज्यों में भी किया।

ह्वेनसांग के अनुसार उसने उत्तरी भारत के पांच देशों को अपने अधीन कर लिया। ये पांच प्रदेश संभवतः पंजाब, कन्नौज, गौड या बंगाल, मिथिला और उड़ीसा के राज्य थे। पंच महाभारत के साथ युद्ध किया।[1]

हवेनसांग के अनुसार हर्ष ने पंचगौड को अपने अधीन कर लिया। उन्होने अपने राज्य का विस्तार कर अपनी सेना बढ़ा ली। उनके पास 60 हजार गजारोही, तथा एक लाख अश्वारोही सैनिक हो गये। इसके पश्चात वे 30 वर्ष तक शांतिपूर्णक शासन करते रहते इस बीच में उन्हे फिर अस्त्र उटाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।[2] हेवनसांग पुलकेशी द्वितीय के संबध में लिखतला है कि इस समय राजा शीलादित्य महान् पूर्व तथा पश्चिम मं आक्रमण कर रहे थे। पास पड़ोस के राज्य उनकी आधीनता स्वीकार कर रहे थें। लेकिन मो–हो–ल–च–अ ने उनकी प्रभुता मानने से इन्कार कर

---

1 हवेनसांग –
पंचमहाभारत ये थे – 1–सास्वत (पंजाब) कान्यकुष्ण, (3) गौड (4) मिथिला तथा (5)उत्कलन जिसे आधुनिक उड़ीसा कहतें है। इसे पंचगौड भी कहते हैं।

2 वाट्र्स, जिल्द 1 पृष्ठ 343

दिया।[1] हेवनसांग की जीवनी में भी हर्ष की दिग्विजय के संबंध मं उल्लेख मिलता है।[2]

यद्यपि हेवनसांग का विवरण बाण के वर्णन से अधिक विश्वसनीय है लेकिन हेवनसांग भी आपने को अत्युक्ति करने की प्रवृत्ति से बचा नहीं सके। डा0 मजुमदार कहते हैं कि साधारण रूप से विचार करने पर इस बात का कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता कि हेवनसांग के कथनो को हम आक्षरशः सत्य माने अथवा बाण के प्रसिद्ध पद से अधिक विश्वसनीय समझें।[3]

हर्ष ने पश्चिम वल्लभी के शासक ध्रुवसेन द्वितीय से भी अपना लोहा मनवाया। इसके अधीन पश्चिमी मालवा का राज्य था। हर्ष ने वलभी के राजा तथा पुलकेश्यिन द्वितीय दोनों के साथ युद्ध किया। इसका वर्ण नौसारी दान पात्र में उल्लेखनीय है।[4]

---

1 'वाटर्स जिल्द 4 पृष्ठ 239
2 जीवनी पृष्ठ 83
3 जर्नल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी 1923 में प्रकाशित मजुमदार का लेख ।
4 नौसारी दान–पत्र –
  री हर्ष देवामिभूतो श्री वलभी पतिपकित्रणोपतजातः
  भ्रमददभ्रविभ्रमयशोवितानः श्री दछः;
जर्नल ऑफ दी बांबे ब्राच आफ दि रीयल एशियारिक सोसायटी जिल्द 6 पृष्ठ 1 इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द, 13, सन् 1884, पृष्ट 70–81 ।

वलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय के साथ उसने अपनी पुत्री का विवाह कर लिया। उसने एक शक्तिशाली शत्रु को एक सहायक के रूप मं मित्र बना लिया।

श्री निहार रंजन राय बलभी के युद्ध के कारणों के संबंध में वक्तव्य दिया हैं कि हर्ष संभवतः एक ऐसे महत्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य से प्ररित थे जिसका प्रभाव उत्तरी तथा दोनो सम्राटों पर पड़ता था। यह नर्मदा की सीमा का प्रश्न था यह विवाद गुप्त सम्राटों के समय में भी था उन्होंने विजय अथवा वैवाहिक संबंध के द्वारा उसे हल करने की चेष्टा की । यही समस्या हर्ष के सामने उठ खड़ी हुयी।[1]

हर्ष केवल उत्तरी भारत के कुछ भाग का ही सम्राट वन सका। दक्षिणापथ के चालुक्य शासक पुलकेशियने द्वितीय के सामने उसे सफलता नही प्राप्त हुयी। डा0 फ्लीट[2] के अनुसार यह युद्ध सन् 612 ई0 के पूर्व हुआ था।

हर्ष एक प्रतापी विजेता उन्होने विजित देशों पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करेन की चेष्टा कभी नहीं की। पराजित राजाओं को

---

1 इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टली, जिल्द 3, पृष्ठ 777

2 फ्लीट का कनाड़ी राजवंश पृष्ठ 351

वे उनका राज्य लौटा देते थे। इस तरह से उन्होंने भारत के दिग्विजयी विजेतओं की प्रचलित रीति का अनुसरण किया।

हर्ष ने महायान बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया।

चोल राजवंश का दिग्विजय अभियान

राजराज के राज्यारोहण से चोल वंश के लिए वैभव और यश की शताब्दी आरंभ होती है। राजराज के शासन के तीस वर्ष चोल राजवंश के इतिहास में निर्माण का काल है। राजराज के राज्यारोहण के समय चोल छोटा सा राज्य था जो कि राष्ट्रकूत आक्रमण पूरी तरह क्षतिग्रस्त हो चुका था। चोल राज्य पर यासीन होने के पहले उसे उत्तर चोल के शासन काल में ही युवराज के रूप में सैन्य संचालन तथा शासन कार्य का अनुभव प्राप्त हो चुका था।

नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार वह शक्तिशाली होने के साथ–साथ कूटनीतिज्ञ भी था।[1]

---

1 नीलकण्ठ के0ए0 शास्त्री – चोलवंश पृष्ठ 132

अपने शासन के आरंभ में ही राजराजने मुम्मुडि चोल देव की उपाधि धारण की थी।[1]

राजराज प्रथम ने चोल राज्य को शक्तिशाली और वैभव सम्पन्न बनाने के लिये राज बनने के बाद लगभग आठ वर्षो तक अथक प्रयास किया। उसने गांवो से लेकर अपनी राजधानी तक अनेक प्रशासकीय सुधार किए और नयी व्यवस्थायें प्रस्तुत की।

डा0 वी0 वैंक्य्या के अनुसार उसने अपने शासन कार्य को संभालने के बाद मा0 वर्ष तक कोई महत्वपूर्ण सामरिक अभियान न करके चोल राज्य की आन्तरिक स्थित को मजबूत किया। राजराज प्रथम ने अपना सामरिक अभियान अपने शासन काल के नवें वर्ष 994 ई0 में आरम्भ किया जो कि 1002 ई0 तक चलता रहा ।

लंका के शासक महेन्द्र पंचम ने चोल नरेश राजराज प्रथम के विरूद्ध केरल और पाण्डय राज्यों के शासकों की सहायता की थी। नीलकण्ठ शास्त्री[2] के अनुसार उन तीनों राज्यों के नरेशों

---

1 भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद – 1908 का 453 वर्ष 3

2 के0ए0 नीलकण्ठ शास्त्री – चोलवंश पृष्ठ 133
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

ने चोल नरेश राजराज प्रथम के विरूद्ध एक संयुक्त सैनिक मौर्य का गठन किया। राजराज चोल ने सबसे पहले केरल राज्य पर आक्रमण किया । केरल और पांड्य देशों में राजराज का आठवें वर्ष से पूर्व का कोई शिलालेख नहीं मिलता।[1]

कांडलूर के मैदान में उसने केरल शासक भातकर रविवर्मन को पराजित किया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने ' कांडलूर' शालैक्कलमरूत्' की उपाधि धारण की।

राजराज प्रथम के दिग्विजय के बारे में तिरू वालं गाडु ताम्रपत्र में कहा गया है कि उसने विजय अभियान दक्षिण दिशा से प्रारंभ किया।[2] अपने प्रथम अभियान में सने पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुराको जीतकर वहां के शासक अमरभुंज को युद्ध में बंदी बना लिया।

अपने दूसरे विजय अभियान में उसने कोल्लम् और कोडुगोलूर के शासकों को पराजित करते हुए मलयानाडु, कान्दलूर, और विलिन्द जैसे दुर्गों को जीत लिया।

---

[1] दर्शन कोप्पु अभिलेख ट्रावनकोर आर्कलाजिक सिरीज 1, पृष्ठ 238 अभी तक प्राप्त प्राचीनतम अभिलेख है।

[2] तिरूवालंगाडु ताम्रपत्र, छंद 76–79

इस काल में चेर राजा भास्कर रविवर्मन तिरूवडि था। जिसके शिलालेख त्रावणकोर के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए हैं।[1]

तिरूवालंगाडु ताम्रपत्र और उसके ऊपर उद्वत प्रस्तावनामों मे अंतिम यह द्योतित करते है कि विलिजम् के मजबूत दुर्ग और शोले पर अभियान से पूर्व मदुरा पर अधिकार किया गया था और पांड्य राजा अष्टभुज को अधीन कर लिया गया था।[2]

राजराज के तंजौर शिलालेख में चेर और पाड्यों को मलै–नाडु में हराने का दावा किया गया है।[3] यह अभियान 1008 से पूर्व किसी समय किया गया था।

इस आक्रमण की प्रमुख घटना उदगै के दृढ़ दुर्ग पर आक्रमण और उस पर अधिकार की।[4]

---

1 द्रावनकोर आर्कलाजिकल सिरीज पृष्ठ 31–2 इसका शासन काल तिरूनेल्लि ताम्र पत्रों के आधार पर है।

2 'कांदलूर या कांदलूर शालै शायद विलिज्म के निकट था . ... कादलूर शालै,
वेंकटृटा, एस आई आई 2 प्रस्तावना, पृष्ठ 2

3 वैंकट्टा, एस.आई.आई. 2, 1, प्रस्तावना, पृष्ठ 51

4 1902 का 236 – एस.आई.आई. 7 संख्या 863 ट्रावनकोर आर्कलाजिकल सिरीज 2, पृष्ठ 5

श्रीलंका के राजा महेन्द्र पंचम् ने केरल और पांड्य शासकों को चोलो के विरूद्ध युद्ध में बहुत अधिक सैनिक सहायता दी थी। उस सैनिक सहायता के प्रतिशोध में राजराज प्रथम चोल ने अपने प्रबल जहाजी बेडे की सहायत से दक्षिणी समुद्र को पार करके श्री लंका की राजधानी अनुराधपुर को बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर दिया। महेन्द्र पंचम इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुए और अपनी प्राण रक्षा के लिये राजधानी अनुराधपुर के भागकर दक्षिणी पूर्वी सिंहल राज्य में अज्ञात स्थान पर छिप गये।

इस विजय के फलस्वरूप राजराज प्रथम चोल का संपूर्ण उत्तरी सिंहल राज्य का नाम मामुण्डी चोल–मण्डलम्' रखा तथा 'पोलोन्नरूवा नगर को बसाया। इस विजय के उपरान्त में उसने जगन्नाथ की उपाधि धारण की तथा राजधानी पोलोन्नरूवा का नया नाम जगन्नाथमंगलम् रखा।

'तिरूमंगल' की प्रस्तावना में ईगलो राजराज द्वारा विजित प्रदेशों में गिना जाता है।[1] उसमें उल्लिखित है कि राजा ने

---

[1] 1910 का 261

उग्र सिंहलों से ईलमंडलम् को छीन लिया और इस तरह से वह चारो दिशाओं में प्रसिद्ध हो गया।[1]

अपने शासन क उन्नीसवें वर्ष में 1014 ई0 मं राजराज ने विभिन्न कार्यो के लिये तंजोर में अपने द्वारा बनवाये गये प्रसिद्ध मंदिर को श्रीलंका स्थित अनेक ग्राम दान मे दिये।[2]

तिरूवालंगाडु ताम्रपत्रों में श्रीलंका पर आक्रमण का वर्णन हुआ है।[3]

मैसूर क्षेत्र में राजराज प्रथम के शासन के छटें वर्ष का एक अभिलेख 990–991 ई0 मे प्राप्त हुआ। उस अभिलेख में उसे चोल नारायण कहा गया है [4] उसने चोलो को एक शताब्दी से भी अधिक समय के लिये पूरे गंग क्षेत्र का शासक बना दिया था।

चालुक्यों के सन्दर्भ में राजराज प्रथम के शासन काल में परवर्ती शिलालेखों में कहा गया है कि उसने सत्याश्रय को हटाकर उसका कुछ खजाना हस्तगत कर लिया, जिसका एक भाग

---

1 एस.आई.आई. 3, पैरा 4–15
2 एस.आई.आई 2, 92, पैरा 12--15
3 छंद 80
4 मैसूर आर्कलालिकल रिपोर्ट 1917, पृष्ठ 42

तंजौर के महान मंदिर को दान कर दिया गया।[1] वैरी राज्य को चालुक्याधिपति सत्याश्रय के आक्रमणों से मुक्त कराने के बाद राजराज प्रथम ने कलिंग राज्य आक्रमण करे उसे अपने आक्रमण मे मिला।

राजराज प्रथम ने श्रीलंका द्वीप पर अपना आधिपत्य पहले ही स्थापित कर लिया था।

कुछ समय पश्चात उसने बंगाल की खाडी को पार कर दक्षिणी–पूर्वी एशिया में स्थित श्री विजय, पालेगवंग कराह तथा मलाया आदि द्वीप पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। तथा उन्हें अपने विशाल चोल साम्राज्य में मिला लिया।

राजराज प्रथम एक महत्वकांक्षी सम्राट और एक कुशल प्रशासक था। उसने तुंगभद्र नदी के दक्षिण में स्थित समस्त दक्षिण भारतीय भू–भाग को जिसमें उत्तरी श्रीलंका, कलिंग तथा श्री विजय –मलयद्वीप आदि राज्य थे। इन राज्यों ने उसको अधीनता स्वीकार कर ली थी। राजराज प्रथम के पास एक शक्तिशाली नौ सेना थी। इसलिए उसने द्वीपों पर विजय प्राप्त की

---

1 एस.आई.आई. 2, 1, पैरा 92,

तथा वहां भारतीय संस्कृति, वाणिज्य और व्यापार को प्रसारित करने और संवर्धित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजराज प्रथम दक्षिण भारतीय नरेशों में सबसे अधिक पराक्रमी और श्रेष्ठतम् सम्राट माना जा सकता है। उसने चोल राज्य की शक्तिहीन स्थिति को अपने पराक्रम के बल पर विस्तृत एव विकसित करके एक महान् साम्राज्य के रूप में निर्मित किया। अपने विस्तार वादी नीति के कारण उसने गंग, चेर, पाण्ड्य, सिंहल, मलय, चालुक्य, कलिंग श्री विजय को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया।

'राजराज प्रथम एक कुशल ओर योग्य प्रशासक भी था। उसकी संगठित और शक्ति शाली सेना, सुसज्जित सशस्त्र जहाजी बेड़े तथा मलय श्री विजय और अरब सागर के तटीय देशों के साथ विकसित व्यापारिक सम्बन्धों के फलस्वरूप चोल राज्य अत्यन्त सुदृढ़ ओर शक्तिशाली बन गया। भूमिकर निर्धारित करने के लिये सारे देश की भूमि का ठीक–ठीक सर्वेक्षण ओर सही मूल्यांकन होता था।

राजराज प्रथम ने अन्तर्देशीय मौन समुद्र तटीय ब्राह्म देशों में विकसित व्यापार से उपलब्ध विपुल धन का सुदुपयोग चोल साम्राज्य के सांस्कृतिक उन्नति और प्रजा के कल्याण के लिये किये गये निर्माणात्मक कार्यों में दिल खोल कर किया।

राजराज शिव का कट्टर भक्त था लेकिन वह धार्मिक मामलों में साहिष्णु था और सभी धर्मों को मानता था। उसने शिवपादशेखर की उपाधि शिव की भकित मे धारण की थी। उसके द्वारा निर्मित तंजौर का विशाल राजराजेश्वर मन्दिर द्राविड़ वास्तु और स्थापत्यशिल्प और कलात्मकता तथा वैभव सम्पन्नता के लिये विश्व विख्यात है।

उसने रविकुलमाणिक्य, मुक्मडिचालदेव, तेलंग काल, चौडामात्तण्ड, केरलनाथ, जयगोंडा आदि अनेक उपधियां धारण की। उसका शासन 1014 ई0 तक बना रहा।

राजेन्द्र ने अपने पिता से एक विस्तृत साम्राज्य विरासत में प्राप्त किया जिसमं आजकल के मद्रास, और आन्ध्र तथा मैसूर के कुछ भाग और श्रीलंका शामिल थे। वह चोल साम्राज्य को अपने समय के सबसे अधिक विशाल और सबसे अधिक आदर प्राप्त ऐसे

हिन्दु राज्य का दर्जा दिलाया जिसका मलय प्रायद्वीप ओर हिंदेशिया द्वीप समूह में भी कुछ समय के लिए अधिकार था। राजेन्द्र ने शासन के शुरूआत में ही विजयें प्राप्त कर ली थी।

राजेन्द्र के तीसरे वर्ष में इनके संयुक्त शासन के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।[1] इस वर्ष राजराज के उन्तीसवें वर्ष के तंजोर शिलालेख में उल्लेख है।[2] राजराज ने अपने पुत्र के शासन काल के तीसरे वर्ष में एक दान दिया था।[3] राजेन्द्र चोल आर्द्रा नक्षत्र मे पैदा हुआ था।[4]

राजेन्द्र 1 चोल वीर, कूटनीतिज्ञ, और साम्राज्य विस्तारवादी महात्वाकांक्षी से युक्त था। उसने चोल साम्राज्य को भारतीय राज्यों में सबसे अधिक शक्तिशाली और वैभव सम्पन्न बना दिया।

राजेन्द्र 1 द्वारा श्री लंका की विजय अपने शासन काल के पांचवे वर्ष में की गयी। ये विजय 1017—18 में हुयी थी। श्रीलंका पर चोलों की विजय महावंश में उल्लिखित है जो महिन्द

---

1 एपिगाफिया इंडिया 8 पृष्ठ, 208
2 पूर्ववर्ती पृष्ठ 144 और संख्या 76,
3 1917 का 196,
4 1927 का 271 वर्ष 7

पंचम के 36वें वर्ष में की गयी थी ये गीगर द्वारा निर्धारित नवीनतम तिथिक्रम के अनुसार 1017 ई0 में पड़ता है।[1]

चोल अभिलेख में अनेक जगह राजेन्द्र चोल द्वारा किये गये सिंहल आक्रमण को उल्लेख मिलता है। पोलो–नरूव में और कोलम्बों के संग्रहालय में राजेन्द्र तिरूमन्निवलर से युक्त कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[2]

राजसिंहासन पर बैठने के बाद सबसे पहले राजेन्द्र चोल ने केरलों के शक्तिशाली विद्रोह को दबाकर उन्हें शक्तिहीन कर दिया। तिरूवांलंगाडु ताम्रपत्रों[3] में कहा गया है कि एक शक्तिशाली सेना से युक्त और अपनी भुजाओं से प्राप्त किए गये धन के ढ़ेरों पुण्य के कार्य करने के लिए सदा उद्यत इस नरेश ने दिग्विजय की इच्छा की।

अपने शासन के छठे वर्ष[4] 1018 ई0 में राजेन्द्र ने केरल के राजा की कुल सम्पत्ति छीन ली। उसमें बहुत से लोगो

---

1. गीगर द्वारा संपादित और अनुदित–पालिटेक्स्ट सोसायटी 4 पृष्ठ 13
2. 1912 के 595, 618 एस.आई.आई. 4, 1389; 1414,
3. छंद 89–97
4. 1895 का 22, 1911 का 211,

द्वारा प्रशंसित और उसके द्वारा अधिकार पटना जाने वाला मुकुट और लाल किरणों वाला हार भी शामिल था।[1]

चोल राजा और जयसिंह की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। जयसिंह जंगल मे भाग गया और राजेन्द्र लूट के सामान के साथ अपनी राजधानी लौट आया।[2] तिरूवालंगाडु — ताम्रपत्र[3] अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र प्रथम ने गंगा के पावन जल को अपनी सेना द्वारा मंगवाया अपनी राजधानी मे संग्रहीत किया तथा अपने विशाल चोल साम्राज्य को पवित्र कर दिया।

राजेन्द्र चोल ने गंगा जल के संग्रह के बहाने उत्तरी–भारतीय और दक्षिणी भारतीय राज्यों के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उसने उत्तर भारत में चिरमल से पूज्य, मोक्षदायिनी गंगा जल को मंगवाकर अपने विशाल दक्षिण भातरीय साम्राज्य की राजधानी गगाकोंड चोलपुरम् मे प्रतिष्ठित किया। गगा जल के प्रति राजेन्द्र

---

1 'एरिपैड का अर्थ है विजयी सेना' शैगदिर–मालै का अर्थ सूर्य मानने की जगह ये अधिक है, हुतद्रश 9, पृष्ठ 233 के विपरीत, एपिग्राफिया इंडिका

2 छद 101, एस.आई.आई. 3 पृष्ठ 423, तुलना करदें छंद 62

3 तिरूवालंगाडु ताम्रपत्र —

गगाजलैपरियितुं स्वकीयां येण पृथ्वी रवि वशदीप.।

चोल की भक्ति भावना आप भी दक्षिण भारत में आज भी परिलक्षित होता है। दक्षिण भारत में गंगा नदी और उसके तीर्थों के प्रति आज भी लोगो में वही निष्ठा ओर आस्था है। इसी तरह से उत्तरी भारतीय लोग दक्षिण भारतीय कृष्णा, कावेरी, गोदावरी आदि नदियों और वहां के मन्दिरों और तीर्थों के प्रति आदर भाव बना हुआ है।

दक्षिण पूर्वी एशियाई द्वीप समूह की भौगोलिक स्थिति प्रचीन काल से ही बडी महत्वपूर्ण रही है। भारत, चीन, जापान आदि देशों के बीच स्थित ये द्वीप समूह महत्वपूर्ण व्यापारिक और सांस्कृतिक कड़ी के रूप में हिन्द महासागर में विद्यमान है। चोल साम्राज्य की आर्थिक स्थिति इन द्वीप समूह पर विजय के फलस्वरूप विकसित हुयी थी।

सांग वंश के इतिवृत्तों में लिखा है कि चू–लीन अर्थात चोल से चीन में पहला प्रतिनिधि मण्डल 1015 ई0 राजा लो–त्स–लोत्स राजाराज था।[1]

इतिहासकार कोदीस के अनुसार मलाया, जावा, सुमात्रा तथा आस–पास के अन्य द्वीप समूह श्री विजय राज्य के अन्तर्गत

---

[1] गगकोड चोल, पृष्ठ 568 और मागामी पृष्ठ

थे। तिरूवालंगाडु ताम्र[1] पत्रों के अनुसार राजेन्द्र चोल ने अपने विशाल जहाजी बेड़े की सहायता से समुद्र को पार कर कटाह राज्य को जीत लिया और वहां के विजेयोतुंगवर्मन् को बन्दी बना लिया तथा उसकी राजधानी श्री विजय पर अधिकार कर लिया। श्री विजय राज्य दक्षिणी–पूर्वी एशिया चीन, जापान, इण्डोनेशिया आदि देशों के साथ महत्वपूर्ण व्यापारिक सम्पर्क के बीच राज्य केन्द्र के रूप में था इसलिए राजेन्द्र प्रथम ने ऐसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

नीलकण्ड शास्त्री[2] के अनुसार चोल और श्री विजय राज्य के बची सघर्ष का प्रमुख कारण चोलों का दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के साथ लगातार बढ रहे व्यापारिक सम्बन्धों मे श्री विजय राज्य ने किसी न किसी प्रकार का गतिरोध उपस्थित करने के कारण हुआ था।

जिस समय राजेन्द्र चोल जी विजय राज्य के युद्ध में व्यक्त थे उस समय केरल, पाण्ड्य तथा सिंहल राज्यों के शासकों

---

1 तिरूवालंगाडु ताम्रपत्र –
अविजित्य कटाह मुन्नतैर्निजदंडैर भिलंचितार्णय·

2 नीकण्ठ शास्त्री – चोलवंश पृष्ठ 174
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

ने एक संयुक्त मोर्चे का गठन करके चोल सत्ता के विरूद्ध विद्राह कर दिया। सुंदर पाड्य[1] उस संध का सरदार था जो विद्रोह का आयोजन कर रहा था। राजेन्द्र का पुत्र राजाधिराज ने अपनी चाल सेना की सहायता से सिंहली सेना को पराजित करके वहां के राजा का सिर काट लिया।

अपने पिता की तरह राजेन्द्र ने भी अनेक उपाधि धारण की थी जिनमें गुडिगोंड चोल और पंडित चोल[2] उसे एक जगह पर वीर राजेन्द्र भी कहा गया है।[3] लेकिन राजेन्द्र चोल ने स्वयं गंगैकोंड चोल की उपाधि को सर्वोत्तम माना है।

चोल साम्राज्य को उच्चतम शिखर तक पहुँचाने का दायित्व राजेन्द्र चोल को है यह यद्यपि उसका पूरा जीवन युद्धाभियानों में बीता और हर युद्ध में सौभाग्यवश उसको विजय श्री मिलती रही वह एक योग्य प्रशासक, महान निर्माता, विद्या के प्रति अनुराग रखने वाला, सुसंस्कृत तथा सांस्कृतिक समन्वय रखने वाला था। उसने अपने विशाल साम्राज्य में गरिमा के अनुसार वैभव सम्पन्न और सुन्दर राजधानी गंगैकोंडचालपुरम् की स्थापना

---

1 दि पांड्यव किंगडमः के ए0 नीकण्ठ शास्त्री 1929 पृष्ठ 113
2 ऐनुअल रिपोर्ट आफ एपिग्राफी, मद्रास 1901, 1, 12,, एफ.आई.आई. 3, 127,
3 1914 क्ङ्ग 61

करवायी। इस नगर की कलात्मकता और भव्यता अलौकिक थी। इस नगर में बृहदीश्वर मन्दिर द्रविड़, चोल कला का एक उत्कृष्टतम उदाहरण है। कला के साथ राजेन्द्र चोल ने विद्या और शिक्षा के प्रचार–प्रसार किया। उसके शासन काल में दक्षिण भारत में वैदिक शिक्षा और दर्शन का व्यापक विकास हुआ। राजेन्द्र चोल ने चोल साम्राज्य की समृद्धि के लिये वाणिज्य व्यापार के लिये सोने, चॉदी और ताबे के सिक्को का प्रचलन किया।

वीर राजेन्द्र ने अपने शासन काल के प्रारंभ में ही तोंडैमडलम् पर शासन करने के लिये मधुरांतक तक को नियुक्त कर लिया था।[1]

वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्यों के साथ आरंभिक यु0 किया जिसके फलस्वरूप कूडल–शुंग–मम् का युद्ध हुआ जिसका तिरूवेंकाडु से प्राप्त शिलालेख जो उसके शासन के दूसरे वर्ष में मिला था बहुत सजीव वर्णन है।[2]

---

1 गोंविदाचार्य स्वामिन – 'लाइफ आफ रामानुज' मद्रास, 1906 पृष्ठ 170, एस.के. आयंगर, एंशिमेट इंडिया पृष्ठ 150 और 207

2 1896 का 113

· कूडल -इगमम् स्थान का वर्णन चौथे वर्ष के तिरूना का वर्णन चौथे वर्ष के तिरूनामल्लूर शिलालेख में वीर राजेन्द्र प्रथम के लिये प्रयुक्त किया गया है जिसने तीन बार आहवमल्ल की पीठ देखी थी।[1]

कन्याकुमारी के शिलालेख में भी कूडग–इंगमम् की लडाई का विवरण दिया गया है जो कि इसी तरह का है।[2] वीर राजेन्द्र ने पोत्तप्पि के राजा जगन्नाथ के छोटे भाई केरल और पाड्य श्री वल्लभ के पुत्र वीरकेसरी का वध कर दिया था ऐसा वर्णन चौथे वर्ष के करूवूर शिलालेख में आता है।[3]

मणि मंगलम् शिलालेख में ही इस सूची में उदगै और केरल वासियों के विरूद्ध अभियान को भी शामिल किया गया है।[4]

वीर राजेन्द्र ने तुंगभद्रा के तट पर विजय स्तम्भ स्थापित करवाय । उसने सोमेश्वर का पुतला बनया और उसका विभिन्न प्रकार से अपमान किया।[5]

---

1 हुल्ट्श, एस आई आई. 3, पृष्ठ 193
2 छंद 76
3 एस आई.आई 3, 20
4 एस.आई.आई. 30
5 ए.वी. बेंकट्टराम अय्यार – 'लाइफ एण्ड टाइरस आफ चालुक्य विक्रमादित्य 6, तमिल संस्करण, पृष्ठ 22–3 और टि 0 3

मणि मंगलम् अभिलेख में वर्णित है कि वीर राजेन्द्र ने जगन्नाथ[1] राजमयन तथा अन्य नरेशों के नेतृत्व में पश्चिमी चालुक्य सेनाओं को बुरी तरह पराजित कर दिया जिससे वे आश्रय प्राप्त करने के लिये जंगल की ओर भागने लगे।

वीर राजेन्द्र उसके बाद गोदावरी को पार किया कलिंगम् के पार महेन्द्र पर्वत तक यात्रा की और चक्करक्कोहम् के पार गया।[2] वेंगी पर दुबारा अधिकार करके उसने विजयादित्य को सौंप दिया। इसके बाद वह अनेक युद्धों में प्राप्त विजय श्री से विभूषित होकर अपनी राजधानी गंगापुरी लौट आया।[3]

वीर राजेन्द्र के सातवें वर्ष के अभिलेख[4] से प्रकट होता है कि वीर राजेन्द्र ने एक ऐसे राजा की ओर से कडारम् को विजित किया जो कि उसकी सहायता प्राप्त करने के लिए आया था।

और उसने कडारम को उसे सौंप दिया। यह घटना उसके शासन काल के छठें वर्ष अर्थात 1068 ई० की है।

---

1 एस.आई.आई. , 4--1269--1275
2 एपिग्राफिया इंडिका 21 पृष्ठ 233--3
3 एस.आई.आई 3, पृष्ठ – 70 और टि0 4
4 एपिग्राफिया कर्नाटिका 7, एस.के. 136

उपसंहार

प्राचीन भारत में यात्रा परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है। आदिम मानव अपनी आजीविका के खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर यात्राये किया करता था। अनुकूल वातावरण तथा खाद्य सामग्री के उपलब्धता को ध्यान मे रखकर उसकी यात्रायें सतत् रहती थी। नदियों की घाटियों मे निवास करने की स्थिति में आते–आते मानव की यात्राओं का कम पहाड़ियों एवं जंगली स्थानों से उपजाऊ नदी के मैदानी इलाकों तक पुरातात्विक खोजों से प्रमाणित हो चुका है। ताम्रपाषाणिक युग मे इन नदी घाटी सभ्यताओं के वीच वाणिज्यक एवं व्यापारिक सम्पर्क एव यात्राओं का एक लम्बा इतिहास रहा है जिसकी अनेक पुरातात्विक साक्ष्य सम्प्रति उपलब्ध है। भारत का मेसोपोटामिया का साथ मेसोपाटामिया का परसिया के लोगो का भारत के साथ चलने वाली वाणिज्यक एवं व्यापारिक यात्रायें अनेक साक्ष्यों से ज्ञात होती है।

वैदिक काल में आर्यों का सैन्धव एवं सरस्वती क्षेत्र से गंगा, यमुना एवं गडक आदि नदियों के क्षेत्रों में प्रसार सबंधी यात्रायें तत्कालीन साहित्यक साक्ष्यों से सम्पुष्ट है। बडे–बड़े यज्ञ के सम्पादन तथा उनमें भाग लेने वाले पुरोहितो, राजाओं एवं समाज के विभिन्न वर्गों की यात्रायें वैदिक कालीन यात्रा परम्परा को आलोकित करते हैं।

लौह उपकरणों के प्रयोग तथा लौह प्रौद्योगिकी के विकास में मानव जीवन के विविध आयामों को बहुत विकासोन्मुखी बना दिया था। इनके चलते यहां पर और कृषि के क्षेत्र में नयी क्रान्ति उत्पन्न हुई थी। वहीं

नये–नये नगरो का निर्माण राज्यो का विस्तार तथा साम्राज्य विस्तार के महत्वकाक्षाओ के चलते विजय एवं दिग्विजय यात्राओं को बढावा मिला।

उत्तर वैदिक काल तथा उनके उपरान्त शिक्षा के क्षेत्र मे आयी क्रान्ति के चलते भारत क विभिन्न भू–भागों में अनेक गुरूकुलों, आश्रमो तथा तीर्थ केन्द्रों का विकास हुआ। इसके चलते शैक्षणिक यात्राओं का जन्म हुआ। बालक शिक्षा के लिए गुरूकुलों में भेजे जाते थे तथा तत्कालीन आचार्यगण समय–समय पर अनेक स्थलों पर अपने शिष्यों के साथ यात्रायें भी किया करते थे।

आगे छठी शताब्दी ई0 पू0 तथा उसके उपरान्त गांधार प्रदेश में तक्षशिला नामक स्थान पर एक विख्यात शिक्षण केन्द्र विकसित हुआ। इसमें अध्ययन करने के लिए दूर–दूर से विद्यार्थीगण यात्रायें किया करते थे। गौतम बुद्ध के जीवन काल में तक्षशिला एक ऐसा ही प्रसिद्ध विद्या का केन्द्र था जहॉ जीवक जैसा आचार्य विद्यमान था। कौटिल्य भी इसी विद्यालय के उल्लेखनीय आचार्य थे जिनकी देखरेख में महान साम्राज्यवादी विजेता चन्द्रगुप्त मौर्य ने शिक्षा दीक्षा प्राप्त की थी। आगे चलकर ऐसे ही विख्यात विद्यालयों में नालन्दा, विक्रमशिला, कांची तथा काशी आदि शिक्षा के केन्द्रों का विकास हुआ था। जहां पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश के कोने–कोने से लोग यात्रायें किया करते थे।

प्राचीन भारत में तीर्थ यात्रा की परम्परा बहुत लोकप्रिय थी। तीर्थों का परिकल्पन करते समय प्राचीन मनीषियों ने पवित्र नदियों के तट, जलाशय केन्द्र, रम्य पर्वत उपत्यकाओं अथवा वन वाटिकाओं को तीर्थ के रूप में मान्यता प्रदान की थी। तीर्थ यात्रा का मनोविज्ञान प्राचीन भारतीयो की एक

अलग उपलब्धि मानी जा सकती है। अपनी दैनन्दिनी गृहस्थ जीवन से ऊबकर लोग कुछ समय के लिए सुन्दर एवं रम्य स्थलो की सुमधुर यात्रा किया करते थे। इन यात्राओ के फलस्वरूप व्यस्तता एव कुठांओ का सहजता से निराकरण हो जाता थ तथा शुचितापूर्ण आचरण से उनमें नवोत्साह एवं आत्मबल का सृजन होता था। भारतीय मनीषा ने इसे पूर्ण लाभ के नाम से आध्यात्मिक रूप में स्वीकार किया था।

तीर्थ यात्राओ को राष्ट्रीय एकता तथा भावात्मक सबधो के उन्नयन के लिए भी विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

प्राचीन भारत में साम्राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अनेक राजाओं ने दूर–दूर तक विजयाभियान चलाया था। इन विजय एवं दिग्विजय यात्राओं के चलते यात्राओं का एक क्रमबद्ध सिलसिला चलता रहता था। व्यापारिक क्रियाकलाप मानव के आर्थिक जीवन में अति प्राचीन काल से यात्राओं को जन्म देते रहे हैं। व्यापारिक यात्राओ का सिलसिला सैन्धव घाटी सभ्यता से लेकर आज तक सतत् प्रवाहमान है। उत्तर भारत के व्यापारी दक्षिण भारत में, दक्षिण भारत के व्यापारी उत्तर भारत में यात्रायें किया करते थे। इसके अतिरिक्त समुद्र एव स्थल मार्ग से व्यापारीगण अन्तार्राष्ट्रीय वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धी यात्रायें सम्पन्न करते थे। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में व्यापारिक यात्राओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

ज्ञान एवं विज्ञान की खोजों का सिलसिला प्रचीन भारत में चलता रहता था। मनीषी एवं आचार्य गण अपने द्वारा उपार्जित ज्ञान विज्ञान एवं चिंतन को आचार्यगणों के बीच वाद–संवाद के माध्यम से प्रचलित एवं प्रसारित करने के लिए शास्त्र दिग्विजय यात्रायें संचालित किया करते थे।

उत्तर भारत में महात्मा गौतम बुद्ध एव महावीर स्वामी, जैन की यात्रायें उनके धर्म प्रचार सबधी महत्वपूर्ण यात्राओ की श्रृंखला प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार वाराहमिहिर, आदि शकराचार्य तथा रामनुजाचार्य आदि महान आचार्यो की यात्राये भी यात्रा परम्परा की स्वरथ कडी को सम्पुष्ट करते हुए दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार प्राचीन काल मे यात्रा परम्परा का एक सुदीर्घ एवं महत्वपूर्ण इतिहास आलोकित होता है।

:: मूल ग्रन्थ ::

1 ऋग्वेद . संहिता और वेद, श्री मत्तायणाचार्यविशचित भाष्य समेत पूना : वैदिक सशोधन मण्डल (द्वितीय संस्करण), 1975

: आर0टी0एच0 ग्रिफिथ (अन0) , बनारस : 18386–97.

एफ0 मैक्समूलर एव एच0 ओल्डेनवर्ग, (अनु0), आक्फोर्ड 1891–97, खण्ड 2,

: मैक्डानल, वैदिक माइथॉलाजी रामकुमार राय, (अनु0), वाराणसी, चौखम्बा संस्कृति सिरीज, 1961.

2. अथर्ववेद : विश्वबंधु (संदा0), होशियारपुर ;

विश्वेश्वरानंद – वैदिक–शोध संस्थान 1964

3. वाजसनेयि संहिता : महीधर भाष्य सरित, ए0 वेबर (संदा0), लंदन 1852,

: निर्णय सागर प्रेस, बम्बई : 1956

4. तैत्तिरीय संहिता : ए0बी0 कीथ, मोती लाल बनारसीदास, 1967,

5. ऐतरेय ब्राह्मण : श्रीमत्सायणाचार्य विरचित भाष्य समेता, पूना : वैदिक संशोधन मण्डल, 1931

ए0वी0 कीथ (अनु0), कैम्ब्रिज : 1962

6. शतपथ ब्राह्मण : जे0 एग्लिंग (अनु0), खंड 12, 26, 12, 19, 14, आक्सफोर्ड : 1882–1900

: गंगा प्रसाद उपाध्याय (अनु0) दिल्ली, 1967

7. उपनिषद : वि० प्र० लिमये एवं प्रा० रं० द० वाडेकर पूना खण्ड – 1 वैदिक संशोधन मण्डलम, 1961

8. छादोग्योंपनिषद : निवेय सागर प्रेस, बम्बई 1930, शंकर भाष्य सहित सानुवाद, गोरखपुर : 1962

क्र. सं.	लेखक	पुस्तक का नाम	स्थान	सन्
1.	अर्थवेद (मूल)	स्वाध्यामण्डल		
2.	अर्थववेद (शैनक सहिता)	शंकर पाण्डुरंग पंडित सम्पादित सायणभाष्य संहिता	बम्बई	
3.	अर्थव परिशिष्ट	शिक्षा संग्रह में प्रकाशित, संस्कृत सीरीज		
4.	हेमचन्द्र	अनेकार्थ संग्रह कोश	चौखम्बा	
5.	कौटिल्य	अर्थशास्त्र	मैसूर	
6.	ज्वाला प्रसाद मिश्र, वेंकटेश्वर	अष्टादशपुरान दर्पण		
7.	पाणिनी	अष्टाध्यायी काशिकागत सूत्र संख्या ही उद्धृत की गयी है।		
8.	युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित	आपिशलिक शिक्षा	बनारस	
9.	कविराज सक्ष्म चन्द्र कृत	आयुर्वेद का इतिहास	शिमला	
10.	आर0 मित्र द्वारा सम्पादित	बिब्लोयिका इण्डिका	कलकत्ता	1873

11	माधव भट्ट कृत	ऋग्वेदानुक्रमणी	मद्रास विश्वविद्यालय	
12.	युधिष्ठिर मीमांसक कृत	ऋग्वेद की ऋक्संख्या	अजमेर	
13	वात्स्यायननकृत	कामसूत्र	चौखम्बा वाराणसी	
14	राजशेखर कृत	काव्यमीमांसा	बडौदा	
15.	वाराहमिहिरकृत, उत्पलकृत टीका	वृहत्सहिता		
16.	कुतलूकभट्टकृत, गन्धर्व मुक्तावली टीका	मनुस्मृति		
17.	महाभारत	गोता प्रेस	गोरखपुर	
18	नीलमणि मुखोपाध्याय	बिब्लोयिका इडिका	कलकत्ता	1873–79
19	बम्बई द्वारा पत्राकार रूप मे प्रकाशित	स्कन्द पुराण	वेकेटश्वर प्रेस बम्बई	
20.	आर0 लिगवानेकर द्वारा सम्पादित	हरिवंश पुराण	पूना	1936
21.	अग्रवाल, वासुदेव शरण	हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन	पटना	1953
22.	अग्रवाल, वासुदेव शरण	पाणिनि कालीन भारतवर्ष	बनारस	2012 वि0
23.	अग्रवाल, वासुदेव शराण	प्राचीन भारतीय लोकधर्म	अहमदाबाद	1964
24	अली, एस0एम0	द ज्योग्राफी आफ द पुराणाज	नई दिल्ली	1966
25.	अल्तेकर, ए0 एस0	एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया	वाराणसी	1937
26.	अल्तेकर, ए0 एस0	पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दु सिविलाइजेशन	बनारस	1956
27.	अल्तेकर, ए0 एस0	स्टेंट एण्ड गवर्नमेण्ट इन इंशेण्ट इण्डिया	बनारस	1958

28	अल्तेकर, ए0 एस0	सोर्सेज आफ हिन्दु धर्म	शोलापुर	1952
29.	अग्रवाल, वासुदेव शरण	भारतीय कला	वाराणसी	1977
30.	अग्रवाल, वासुदेव शरण	मार्कण्डेय पुराण : एक सास्कृतिक अध्ययन	इलाहाबाद	
31.	अग्रवाल, वासुदेव शरण	वामन पुराण : एक सास्कृतिक अध्ययन	वाराणसी	1964
32.	अय्यर, शिवस्वामी पी0एस0	एवोल्युशन आफ हिन्दु माडल, लेक्चर	कलकत्ता	1935
33	आप्टे, वी0एम0	सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन द [illegible]		
34.	आयगर, के0वी0 आर0	आस्पेक्ट्स आफ एशेण्ट इडियन इकोनोमिक थॉट		
35.	इलियट, सी	हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, वाल्यूम– II	लंदन	1921
36	उपाध्याय, बलदेव	अग्निपुराणम्	वाराणसी	
37.	उपाध्याय, बलदेव	कालिका पुराणम्	वाराणसी	1947
38.	उपध्याय, बलदेव	पुराण विमर्श	वाराणसी	1965
39.	उपाध्याय बलदेव	वैष्णव सम्प्रदायो का साहित्य और सिद्धान्त	वाराणसी	
40.	उपाध्याय, भगवत शरण	इण्डिया इन कालिदास	इलाहाबाद	1947
41.	उपाध्याय, भरत सिह	बुद्धिकालीन भारतीय भूगोल,	प्रयाग	सं0 2018
42	ओझा, मधुसूदन	पुराण निर्माणधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्ति प्रसंग	जयपूर	सं0 2009
43	कनिंघम, ए0	एशेंण्ट ज्यॉग्राफी आफ इण्डिया		
44.	कर्माकर, आर0 डी0	भवभूति		

45	कुमारस्वामि, ए0के0	यक्षाज, वाल्यूम ।।		
46	कुमारस्वामि, ए0के0	हिस्ट्री आफ इण्डिया एण्ड इडोनेशियन आर्ट	लदन	1927
47	काणे, पी0वी0	धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम पंचम भाग	लखनऊ	
48	कीथ, ए0वी0	द रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ द वेद एण्ड द उपनिषद		
49.	कीथ, ए0बी0	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रंचर	आक्सफोर्ड	1941
50.	कीथ, ए0बी0 एवं मैक्डॉनल, ए0ए0	वैदिक इण्डेक्स,		
51	किरफेल, डब्ल्यू0	दस पुराण पंचलक्षण	बॉन	1927
52.	किरफेल, डब्ल्यू0	अन इंट्रोडक्शन टु इडियन हिस्ट्री	बम्बई	1956
53.	कोसरबी, डी0डी0	द कलचर एण्ड सिविलाइजेशन आफ एशेण्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन	लंदन	1965
54	गुप्ता, परमानन्द	ज्योग्रफी इन इंशेण्ट इण्डियन इंस्क्रिप्शंस	दिल्ली	1973
55	गोण्डा, जे0	ऑस्पेक्ट्स आफ अली इण्डियन टूरिज्म		
56	घाटे, वी0एस0	लेक्चर्स आन ऋग्वेद		
57.	धुर्रे, जी0एस0	कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया		
58.	घोषाल, यू0एन0	बिजिनिंग्स आफ इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एस्सेज		
59.	चकलादार, एस0सी0	सोशल लाइफ इन एशेण्ट इण्डिया	कलकत्ता	1929

60	चतुर्वेदी; परशुराम	वैष्णव धर्म	इलाहाबाद	1963
61	जॉली, जे0	हिन्दु लॉ एण्ड कस्टम	कलकत्ता	1928
62	जिमर, एच	फिलासफी आफ इण्डिया	न्यूयार्क	1951
63	जायसवाल, के0पी0	हिस्ट्री आफ इण्डिया		1950
64	बनर्जी, जे0एन0	डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू [illegible]	कलकत्ता	1941
65	बुलके, फादर कामिल	रामकथा	इलाहाबाद	1964
66	बेनी प्रसाद	द स्टेट इन एशेण्ट इण्डिया	इलाहाबाद	1928
67	वाशम, ए0एल0	द वण्डर दैट वाज इण्डिया	लदन	1954
68	भट्टाचार्य, रमाशकर	अस्ति पुराणस्य विषयानुक्रमणिकी	वाराणसी	1953
69.	भण्डारकर, आ0जी0	वैष्णविजम शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स	स्ट्रार्सबर्ग	1968, 1913
70	मजूमदार,, आर0सी0	कारपोरेट लॉइफ इन इशंण्ट इण्डिया	कलकत्ता	1922
71	मजूमदार, आर0सी0	हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल	बम्बई	1951–1962
72.	मनकड, डी0आर0	पुराणिक क्रोनोलॉजी		
73.	मार्शल, सर जॉन	टैक्शिला	कलकत्ता	1925
74.	मित्र, एस0के0	द इपिक्स आफ द हिन्दुज	वाराणसी	1968
75.	मिश्र, एस0के0	ग्यारहवीं सदी का भारत	पटना	1974
76.	मिश्र जयशंकर	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	कलकत्ता	1965
77.	मिश्र, बी0डी0	पॉलिटी इन द अग्निपुराण	पटना	1974
78	मीज, जी0एच0	धर्म एण्ड सोसायटी	लंदन	1935

79	मुकर्जी,• आर0के0	हिन्दु सिविलाइजेशन	लदन	1936
80	क्रिडल, जे0डब्लू	एशण्ट इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड गाई द मेगस्थनीज एण्ड येरियन	बम्बई	1878
81	मैक्डॉनल, ए0ए0	ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर	लदन	1925
82	मोती, एस0के0	इकॉनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया	कलकत्ता	1957
83.	मोतीचन्द्र	सार्थवाह	पटना	
84.	मित्तल, सुरेन्द्र नाथ	समाज और राज्य भारतीय विचार	इलाहाबाद	1967
85.	मुकर्जी, राधाकमल	दि फाउडेशन आफ इण्डिया इकोनॉमिक्स	लंदन	1916
86.	मुकर्जी, राधाकुमुद	लोकल गवर्नमेण्ट इन एशेंट इण्डिया	वाराणसी	1958
87.	मुकर्जी, आर0के0	इण्डियन शिपिंग	इलाहाबाद	1962
88	मुकर्जी, राधाकुमुद	हिन्दु सिविलाइजेशन	बम्बई	1964
89	मुकर्जी, आर0के0	चन्द्रगुप्त मौर्य एड हिज टाइम्स	वाराणसी	1966
90	मुर्दगल, भगवान सहाय	पालीटिकल इकोनामी इन ऐशट इंडिया	कानपुर	1960
91.	मेहता, आर0एल0	प्री बुद्धिस्ट इंडिया	बम्बई	1939
92.	मैके, ई0	अर्ली इंडल सिविलाइजेशन	नई दिल्ली	1976
93.	मैके, ई0जे0एच.	फरदर एक्सकवेशंस एट मोहन जोदडो	दिल्ली	1978
94.	मैती, एस0के0	दि इकाफनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड	कलकत्ता	1957

95	यादव, बी0एन0एम0	सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्पथ सेंचुरी	इलाहाबाद	1973
96	यावदानी, जी0	दि गली हिस्टरी डचावदि डेकन,	बम्बई	1960
100	रत्नागर, शीरीन	इनकाउन्टर्स . दि वेस्टर्ली ट्रेड आफ दि हडप्पा सिलाइजेशन,	दिल्ली	1981
101	रैपसन, ई0जे0	इण्डियन क्वायन	वाराणसी	1969
102	राइट, डब्लू0बी0	टूल्स एड दि मैन	लदन	1939
103	राय चौधरी, हेमचन्द्र	प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास	इलाहाबाद	1978
104	राय, ब्रजदेव प्रसाद	दि लेटर वेदिक इक्नार्मी	दिल्ली	1984
105	रॉलिसन, एच0जी0	इटरकोर्स बिटवीन इडया एड दि वेस्टर्न वर्ल्ड	दिल्ली	1977
106	राव, एस0आर0	शिपिंग एंड मेरीडाइम ट्रेड ऑव दि इडस पीपुल्स		1965
107	राव, एस0आर	लोथल ऐड दि इंस सिविलाइजेशन	बम्बई	1973
108	राव, बी0एस0एल0 हनुमथ	दि एज ऑव सातवाहन	हैदराबाद	1976
109	रसेल, बी0	फिलॉसफी, न्यायार्क,		1927
110	राइस डेविड्स, टी0 डब्लू0	बुद्धिस्ट इण्डिया	लंदन	1917
111	राधाकृष्णन, एस0	द हिन्दु न्यू ऑव लाइफ	लंदन	1927
112	रानो, आर0बी0	कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी		पूना
113	राधास्वामी, टी0एन0	इसेंशियल्स ऑव इण्डियन स्टेट कॉफ्ट		
114	राय, उदयनारायण	गुप्त सम्राट और उनका मल	इलाहाबाद	1976

115	राय, उद्दयनारायण	प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर जीवन	इलाहाबाद	1965
116	राय, उदयनारायण	शालकजिका	इलाहाबाद	1969
117	राय, उदय नारायण	हमारे पुराने नगर	इलाहाबाद	1969
118	राय, बी0पी0	पॉलिटिकल, आइडियाज एण्ड इंस्टीट्यूशंस इन द महाभारत	कलत्ता	1975
119	राय, सिद्धेश्वरी नारायण	पौराणिक धर्म एव समाज	इलाहाबाद	1968
120	राय, सिद्धेश्वरी नारायण	हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज	इलाहाबाद	1978
121	राय चौधरी, एच0सी0	मैटिरियल्स फार द स्टडी आफ द अर्ली हिस्ट्री आफववैष्ण सेक्ट	कलकत्ता	1936
122	राव, टी0ए0 गोपीनाथ	इलिमेंट्स आव हिन्दु माइक्रोग्राफी	मद्रास	1914
123	रैप्सन, ई0जे0	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया	दिल्ली	1962
124	रीजेन फील्ड, जे0	द डाइनेस्टिक आर्ट ऑव द कुषाणाजः	बंकले ऐण्ड लाओटन ऐंजेल्स	1967
125	रोमेन, एच0ए0	रस्टेर इन द कैथॉलिक थॉट	लंदन	1945
126	ला, एन0एन0	ऑस्पेक्ट्स ऑव एंशण्ट इण्डियन पॉलिटी	आक्सफोर्ड	1921
127	ला, एन0एन0	स्टडीज इन एशण्ट हिन्दु पॉलिटी,	लंदन	1914
128	लिंगल, आर0	द कलासिकल लॉ आव इण्डिया	नई दिल्ली	1973
129	विटरनित्ज, एम	ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर	कलकत्ता	1950
130	विर्जी, ए0जे0	एशण्ट हिस्ट्री ऑव सौराष्ट्र	बम्बई	1955
131	विल्सन, एच0एच0	इट्रोडक्सन टु द रंगलिश ट्रांसलेशन ऑव द विष्णु पुराण		

132	विल्सन; एच0एच0	पुराणाज और ऐन एकाउन्ट ऑव देयर कण्टेंट एण्ड नेयर		
133	विट्फोगेल, कार्ल0 ए0	ओरियण्टल डेसपॅटिज्म · ए कम्परोटिव स्टडी ऑव टोटल पावर	याले	1957
134	वेबर, ए0	हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर	लदन	1882
135	वेस्टरमार्क, ई0	द ओरिजिन एण्ड डबलपमेंट ऑव ओरल आइडियाज	लंदन	1906
136	वैद्य, सी0वी0	हिस्टी ऑव मिडीवल हिन्दु इण्डिया	पूना	1921
137	शर्मा, डी0	राजस्थान थ्रू द एजेज	पूना	1921
138.	शर्मा, आर0एस0	ऑस्पेक्ट्स ऑव पालिटिकल आइडियाज एण्ड इंन्ट्रीटपुशंस इन एशेण्ट इण्डिया	दिल्ली	1959 1968
139	शर्मा, आर0 एस0	इण्डियन फ्युडलिज्म	कलकत्ता	1965 1981
140	शर्मा, आर0एस0	लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी	बम्बई	1966
141	शर्मा, जी0आर0	द एक्सकैवेशनम यट कौशाम्बी	इलाहाबाद	1960
142	शर्मा, जी0आर0	कुषाण स्टडीज	इलाहाबाद	1968
143	शर्मा, जी0आर0	बिगनिंग्स ऑव एग्रीकल्चर	इलाहाबद	1980
144	शर्मा, जी0आर0	हिस्ट्री टु दी हिन्दी	इलाहाबाद	1980
145	शर्मा, जी0आर0.	दि इस्क्रिप्शन एण्ड एनवेजन ऑव मिनाण्डर	इलाहाबाद	1980
146	शर्मा, जी0 आर0	आर्कियालॉजी ऑव द विध्यांज एण्ड गंगावैली	इलाहाबाद	1980
149	ह्वाइटेड	साइंस एण्ड मार्डन वर्ल्ड	न्यूयार्क	1926

कोश

द स्टुडेण्ट सस्कृत – इग्लिश डिकशनरी, बी0एस0 आप्टे, मोतीलाला बनारसी दास, वाराणसी

द स्टुडेण्ट इग्लिश – सस्कृत डिक्शनरी, बी0एस0 आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी 1963

संस्कृत – इग्लिश डिक्शनरी, बी0बी0 गाइड सस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर विलियक्स
वैदिक शब्टकोश, सूर्यकान्त वैदिक रिसर्च सोसायटी, बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी, वाराणसी, 1963

ययुर्वेद [illegible], बम्बई, 1908 द इनसाइक्लेपिडया ऑफ रिलिजन एण्ड इथिक्स 1,2

शोध पत्रिकाएं :–

जर्नल ऑव गगानाथ झा रिसर्च इस्टीट्यूट, इलाहाबाद

इण्डियन आर्क्योलोजी, ए रिव्यू, दिल्ली

एशेण्ट इण्डिया बुलेटिन ऑव आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, दिल्ली

विश्वभारती क्वार्टली

इण्डियन हिस्ट्री क्वार्टर्ली

पुराणम्, सर्व भारतीय काशीगण न्यास, दुर्ग, रामनगर, वाराणसी

इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज, इलाहाबाद

जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियण्टल रिसर्च सोसायटी, अमेरिका

डा0 मिराशी, फिलिसिटेशन वाल्यूम, नागरपुर, 1965 ई0

जर्नल ऑव द एशियटिक सोसायटी ऑव बगाल जर्नल ऑव इण्यिन हिस्ट्री

जर्नल ऑव भण्डाकर ओरिएटल रिसर्च इन्स्टीट।यूट

जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी

अभिलेख

सेलेक्ट इसक्रिप्शन्स, जिल्द 1, डी0सी0 सरकार, कलकत्ता, 1965

कारपस इंसक्रिप्शनम इडिकेरम्, जिल्द 1, (डा0 बुल्श द्वारा सम्पादित)

कारपस इसक्रिप्शनम इडिकेरम पलीट, जे0एफ0 वाराणी, 1963 ई0

कारपस इस्क्रिप्शनम इंडिकेरन, जिल्द 4, भाग 1 एवं 2, भिराथी, वासुदेव, अरकमड 1955 ई0

गुप्त अभिलेख, उपाध्याय, वासुदेव बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना 1974 ई0

प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अययन, उपाध्याय, वासुदेव, दिल्ली, 1974 इ0

विदेशी यात्रियों के विवरण

अल्बरूनीज इण्डिया, साचो, पापुलर एडीशन, 1914 ई0

ऑन खान् च्वाग, वाटर्स 1965 ई0

फाहियान, लेग्गे, लंदन, 1877 ई0

लाइफ ऑव खान च्वांग, बील, लंदन, 1914 ई0